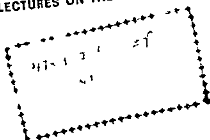
प्लेटो के रिपब्लिक का विवेचन

[Lectures On The Republic Of Plato]

This book is the Hindi Translation of LECTURES ON THE REPUBLIC OF PLATO by Richard Lewis Nettleship and Published by Macmillan & Co Little Essex Street London WC 2 The translation rights were obtained by the Commission for Scientific and Technical Terminology It has been brought out under the Scheme of Production of University level books sponsored by Government of India Ministry of Education & Social Welfare New Delhi

प्लेटो के 'रिपब्लिक' का विवेचन

(LECTURES ON THE REPUBLIC OF PLATO)



लेखक

रिचर्ड ल्युई नैटिलशिप

अनुवादक

गौरी शंकर लहरी



मध्यप्रदेश

हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

भोपाल

प्लेटो के रिपब्लिक का विवेचन

LECTURES ON THE REPUBLIC OF PLATO

प्रकाशक

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
९७ मालवीय नगर भोपाल

संस्करण १९७३

पुस्तकालय संस्करण मूल्य १२००
साधारण संस्करण मूल्य १

मुद्रक साधना प्रेस
लोहिया बाजार ग्वालियर १

R-1100 PB-1100/73

प्रस्तावना

दार्शनिक चिंतन एवं सामान्य चिंतन में मूलतः भेद न होते हुए भी वे दोनों एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हैं। यद्यपि दोनों की ही प्रक्रिया और निष्कर्ष ऊपर ऊपर से देखने में समान लगते हैं फिर भी इन दोनों में गहरा भेद है। एक तो दर्शन और सामान्यजन के चिंतन के बीच दृष्टिकोण का ही बड़ा अंतर होता है दूसरे दार्शनिक चिंतन में सत्य के तर्क सगत रूप की खोज प्रमुख होती है। यों देखने में दोनों के निष्कर्षों की भाषा में बड़ा अन्तर भले न दिखायी दे किन्तु दर्शन में ऐसा महान् सत्य अन्तर्निहित होता है जो प्राय लोगों को सूझ नहीं पाता। यह भी आवश्यक नहीं है कि दार्शनिक खोज के परिणाम सदा विश्वसनीय ही हों क्योंकि एक ही सत्य की खोज करते करते भिन्न चिंतकों का भिन्न निष्कर्षों पर पहुंचना भी सम्भव है। सामान्य सत्य प्राय सबको समान रूप से ग्राह्य होता है और उसकी खोज के निष्कर्ष प्रायश समान होते हैं। इस दृष्टि से दार्शनिक चिंतन का काम बड़ी अधिक जटिल और सूक्ष्म है।

और प्लेटो इसी जटिल और उलझे पथ के पथिक थे। उनके द्वारा उदघाटित सत्य भी अटपटे और अजनबी लगते हैं। और इसका कारण है—अन्य विज्ञानों की आधारभूत धारणाएँ लगभग निश्चित रूप की होती हैं और उनकी शब्दावली का अर्थ पूर्व सकलित रहता है। दर्शन में यह सुविधा एक निश्चित सीमा तक ही रहती है। उसके प्रतिपाद्य विषय होते हैं—मानवीय ज्ञान और चरित्र। इसका शब्द भण्डार बहुत कुछ लाक्षणिक रहता है। इसलिए हम प्राय दर्शन ग्रन्थों के वक्तव्यों को सही अर्थ में ग्रहण नहीं कर पाते। प्लेटो के रिपब्लिक के विषय में यह और भी अधिक सही है। प्लेटो के रिपब्लिक का नाम कुछ भ्रामक है। यद्यपि ग्रन्थ का विवेच्य विषय है—मानवजीवन, मानव-आत्मा और मानव प्रकृति, किन्तु ग्रन्थ का नाम देखकर ऐसा लगता है जैसे वह राजनीति शास्त्र का ग्रन्थ हो। ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है—न्याय अर्थात नतिक-दर्शन। ग्रीक भाषा में न्याय शब्द सद्गुण का श्रेष्ठतम पर्याय है। न्याय शब्द पारस्परिक व्यवहार में प्रकट होनेवाले समस्त सद्गुणों का बोधक है। इस तरह यह ग्रन्थ उत्तम जीवन के निर्वाह की रीति व्यक्त करता है। ऐसे जीवन का निर्माण और निर्वाह सुव्यवस्थित जन समूह के बीच ही सम्भव हो सकता है। इसलिए ग्रीक लोग सुगठित नागरिक समूह को श्रेष्ठ जीवन व्यवस्था का व्यक्त रूप मानते थे। इस प्रकार श्रेष्ठ मनुष्य की

जीवन-व्यवस्था मनुष्य समाज की जीवन व्यवस्था से सवथा अभिन्न मानी जाती थी। इसलिए रिपब्लिक मे प्लेटो ने मानव आत्मा के जिस उत्कप और अवकप का विवेचन किया है वह समाज के उत्कष और अपकष का भी बोधक है। ग्रीक दार्शनिक व्यष्टि और समष्टि के प्रश्नो को अलग-अलग नहीं देखते थे जसाकि आज हम देखते हैं। इसलिए हम लगेगा कि ग्रीक दार्शनिको—और प्लेटो ने भी—अनेक स्थानों पर अपनी बात को बहुत उलझा दिया है। किन्तु यदि हम उसकी पष्ठ भूमि को हृदयङ्गम करलें तो यह कठिनाई दूर हो जायगी।

लेप्टो के रिपब्लिक की दूसरी विशेषता है—उसकी सम्वादात्मक शली। सुकरात से लेकर अरस्तू तक की रचनाओ म इसी शली का अनुसरण किया गया है। इस काल के ग्रीक साहित्य में यही शली लोकप्रिय थी। वस्तुनिष्ठ ययाथवादी साहित्य लेखन के लिए, उस समय यही शली अधिक उपयुक्त मानी जाती थी। इसम स्थान स्थान पर नाटक तत्त्व के भी दशन होते हैं। हाँ, विषय प्रतिपादन के साथ साथ यह नाटक तत्त्व धीरे धीरे कम होता जाता है। रिपब्लिक की तार्किक पद्धति भी उसकी अपनी है। इसम लेखक पहल सिद्धान्त को अपने मन म स्थित करता है फिर उसके प्रतिपादन के लिए तथ्यो का उपयोग करता है। इसम वह प्रचलित विचारो को लेकर मन की जाँच परख भी करता है और छान छान कर सत्य को ग्रहण करता जाता है। इसमें सिद्धान्त का निर्माण और उसका अनुप्रयोग साथ साथ चलता रहता है।

'रिपब्लिक' विश्व का अत्यन्त प्रतिष्ठित ग्रन्थ है। समय के बदलते प्रतिमानो के बीच भी इसका मूल्य स्थिर रहा है। एसे सुन्दर ग्रन्थ को हिन्दी क पाठको को समर्पित करते सचमुच प्रसन्नता होती है। यह भी सन्तोष का विषय है कि इस ग्रन्थ के अनुवाद की भाषा म मौलिक रचना जसा प्रवाह है और एतदथ इसके अनुवादक श्री गौरीशकर लहरी सचमुच बधाई के पात्र हैं।

प्रभुदयालु अग्निहोत्री

(डा० प्रभुदयालु अग्निहोत्री)
सचालक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

अनुक्रमणिका

□ □

प्राक्कथन

यद्यपि 'रिपब्लिक' में काव्य तथा धर्मोपदेश के कुछ लक्षण मिलते हैं, तथापि मूलतः वह दर्शन ग्रन्थ है। इसलिए उसका अध्ययन करते समय दूसरी सभी बातों के अलावा हमें उसकी तर्क प्रणाली, व्यवस्था तथा विचारों के परस्पर सम्बन्ध-सूत्र पर ही ध्यान देना चाहिए। दार्शनिक (दार्शनिक) ऐसा मनुष्य है जो अन्यान्य मनुष्यों की अपेक्षा विचार शक्ति में अधिक सम्पन्न होता है। उसने दूसरे लोगों की तुलना में उन विषयों पर अधिक चिन्तन किया है जिनमें सभी का समान हित जुड़ा है। समग्र दर्शन गुण-दोष विवेचक ही होना चाहिये। तथ्यों की परख करने के फलस्वरूप, दार्शनिक जिन निष्कर्षों तक पहुंचता है, वे निश्चित ही उसके समय में प्रचलित विचारों से भिन्न और बहुधा विपरीत होते हैं। सच मुच बहुत बार उसके निष्कर्ष साधारणजन के विचारों से अलग नहीं लगते। फिर भी दार्शनिक और सामान्य जनों के बीच दृष्टिकोण का बहुत बड़ा अन्तर बना ही रहता है। कारण स्पष्ट है। दार्शनिक सहज जाने माने तथ्यों को लेकर मनन शुरू करता है और साधारणजन की मान्यताओं के समान निष्कर्ष पर भी पहुंचता है। लेकिन निष्कर्ष तक आते-आते एक चिन्तन-प्रणाली का उपयोग करके, वह सत्य के तर्कसंगत रूप को प्रस्तुत करने में सफल हो जाता है। ऊपर ऊपर देखने से दार्शनिक का सत्य, चालू सत्य जैसा लगता है, उसका सत्य भी प्रायः उसी भाषा में पेश होता है जिसमें कोई भी दूसरा आदमी उसे व्यक्त कर सकता है। किन्तु दार्शनिक की दृष्टि में, वह सत्य बिलकुल निराला हुआ करता है क्योंकि उसमें ऐसी बड़ी बात का समावेश हो जाता है जो बहुतेरे लोगों को नहीं सूझ पाती। चाहे जो स्थिति हो हम दार्शनिक की चिन्तनात्मक पगडंडी का मानकर ही चलना पड़ेगा, भले ही उसके हाथ लगे परिणामों पर हम विश्वास करें या अविश्वास।

इसलिए उसके परिणामो को भला-बुरा कहने के पूर्व हम यह परखना चाहिए कि वह किस तरह उन तक पहुचा है।

इस ढग से 'रिपब्लिक' का अध्ययन कठिन है। प्लेटो के विचार बहुधा इस तरह प्रकट होते हैं कि हम वे अटपटे और नये जान पड़ते हैं। वसे यह कठिनाई कुछ हद तक दशन-शास्त्र के समूचे अध्ययन म रहती है। ज्यादातर लोग जसा सोचते हैं उनसे बिलकुल अलग तरह के विचार प्रस्तुत करने की पद्धति म दशन शास्त्र दूसरे विशिष्ट विज्ञानो से तनिक भी भिन्न नही है। इतना ही है कि अन्य विज्ञान अपनी आधारभूत धारणाओ को लगभग निश्चित रूप म स्थिर पाते हैं उनकी शब्दावली के अथ सहज ही ग्रहण किये जा सकते हैं अथवा उनका अभ्यास सरलता स किया जा सकता है किन्तु दशन शास्त्र म यह सुविधा नही है। इसका कारण यह है कि दशन का प्रतिपाद्य विषय अन्य शास्त्रो की तुलना म सामान्यधर्मी होता है। उसे मुख्यत मानवी ज्ञान तथा मानवी चरित्र के तथ्यो स सरोकार होता है और इन विषयो का कोई निश्चित अथवाही शब्द भण्डार नही हो सकता। कई बार प्लेटो और दूसरे यूनानी दशनज्ञो के वक्तव्यो का महत्त्व समझने म हम चूक जाते हैं और सिफ इसलिए कि वह बहुत सीधे-साद ढग स प्रस्तुत किया गया है। इसके अलावा 'रिपब्लिक' के अध्ययन म कुछ खास अडचनें हैं जो उसकी शली और विधा के कारण पदा होती है। प्रत्येक महान ग्रथ के अपने विशेष लक्षण हुआ करते है जिनका अध्ययन एक मनुष्य चरित्र के समान करना जरूरी रहता है।

पहले यही देखें कि 'रिपब्लिक' का विषय क्या है? नाम से लगता है कि यह राजनीतिक दशन का ग्रन्थ है, लेकिन बहुत जल्दी पता चलता है कि नतिक दशन इसका विषय है। (*न्याय क्या है? इसी प्रश्न से ग्रन्थ का आरम्भ होता है।* ग्रीक भाषा म सद्गुण के लिए जितने सज्ञा शब्द हैं उनम से न्याय सबसे व्यापक तथा विशद अथवाची है। अरस्तू मानता था कि मनुष्य के परस्पर व्यवहार म प्रकट समूचे सदगुणो का बोधक 'न्याय शब्द है।) यह ग्रन्थ मानव जीवन और मानवात्मा अथवा मानव प्रकृति का विवचन करता है। प्लेटो के अनुसार उत्तम जीवन का निर्वाह कसे हो—यही इस ग्रन्थ का मूल प्रश्न है। तब इस 'रिपब्लिक' नाम से पुकारने का अभिप्राय क्या है? प्लेटो की धारणा है कि केवल सुसगठित समवाय (जनमण्डल) के भीतर ही मानव जीवन का कुशल निश्चित है। मनुष्य जीवन सम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण तथ्यो म प्लेटो के लिए यह एक प्रमुख तथ्य था। ग्रीक जाति नागरिक समवाय (जनमण्डल) को

जीवन-व्यवस्था का श्रेष्ठ स्वरूप मानती थी। अतएव श्रेष्ठ जीवन क्या है—यह प्रश्न उसकी दृष्टि मे मनुष्य समाज की श्रेष्ठ व्यवस्था अथवा संगठन से अभिन्न है। इस तरह 'रिपब्लिक' का विषय बहुत व्यापक है। जब आधुनिक आलोचक इस ग्रन्थ म इतनी विविध सामग्री पाता है तब उसे लगता है कि प्लेटो ने सर्वथा स्पष्ट प्रश्नो को उलझा दिया है, ऐसा है नहीं। 'रिपब्लिक' म प्लेटो मानवात्मा के उत्थान-पतन का—उसके उच्चतम विकास तथा उसकी अवनति की निम्नतम स्थिति का आदर्श चित्र अंकित करता है। इस मूल्यांकन म उसने मानव चरित्र या मानवात्मा की समग्र प्रकृति के प्रत्येक तथ्य का हिसाब लगाने की चेष्टा की है। आधुनिक सम्बन्ध सूत्र हम यह आशा करने का उकसाते हैं कि इसे स्पष्ट रूप से नीति शास्त्र अथवा राजनीति का ग्रन्थ माना जाय। उनका आग्रह है कि मनुष्य के सम्बन्धो की दृष्टि स नागरिक मानकर ही उस विचार का विषय होना चाहिये अथवा सीधे उसे एक नैतिक व्यवस्थापक समझा जाय। चूँकि ग्रीक दार्शनिक इन दो प्रश्नो को पृथक पृथक नही देखते थे, इसीलिए अक्सर कहा जाता है कि उन्होने इसको उलझा दिया है। सच तो यह है कि वे मानव जीवन को आज के लोगो के अभ्यास से अलग अधिक सहज और अधिक समग्र दृष्टि से परखने मे निपुण थे। माना कि एेसे प्रश्न हैं जिनको हम नैतिक अथवा राजनीतिक श्रेणियों मे बाँटकर ही परख सकते हैं किन्तु ग्रीक विचारकों ने यह भेद नही माना। असलियत यह है कि जैसा जीवन वे सचमुच व्यतीत करते थे उसम इतनी भेद-बुद्धि नही पनपी थी जितनी हमारे आचरण में आज आ गयी है। आज कानून प्रथा और धर्म को हम अपने व्यवहार म अलग-अलग प्रकार की विशिष्ट वस्तु मानने लगे हैं उस युग म ऐसा भेद था ही नही।

प्रधान विषय के साथ-साथ 'रिपब्लिक' म अनेक प्रसंगगत तथा गौण विषयों का भी समावेश हुआ है। इसम उस समय की विद्यमान संस्थाओं रीति-रूढ़ियों और मान्यताओं की आलोचना बहुत बडे परिणाम म मिलती है। इसे केवल दर्शन-ग्रन्थ ही नही बल्कि सामाजिक तथा राजनीतिक परिष्कार की कृति मानना चाहिये। इसकी रचना उस मनुष्य की भावना स स्फूर्त हुई है जो केवल मानव जीवन के चिन्तन म ही निरत नही था वरन् उसे संशोधित और क्रान्ति प्रेरित करने के लिए प्रबल वेग स आग्रही था। यही तथ्य प्लेटो के लेखन को विचित्र ढंग स रोचक तो बनाता है परन्तु उसकी दर्शन-सुलभ निष्पक्षता और संयम का विघटन कर देता है। उसकी दृष्टि निरन्तर अशुभ तत्त्वों की ओर जोर स ध्यान

खीचती हुई लिखन में जुटी रहती है। अरस्तू इस मामले म उससे कोसा दूर है।

इसके बाद पुस्तक की विधा पर विचार कर लेना चाहिये। प्लेटो अकेले की यह खूबी नही थी कि उसने अपने अनुसधान को सम्वाद की शली म प्रस्तुत किया। सुकरात के कई शिष्या न सम्वाद लिखे हैं और अरस्तू क युग तक यही परिपाटी बनी रही। यथायत उस युग के सामान्य साहित्य-लखन म इसी परि पाटी का आश्रय लिया जाता था। इसलिए ग्रीक दशनज्ञ इमे सहज भाव स अपना लेते थ। आधुनिक साहित्य की तुलना म ग्रीक साहित्य निश्चय ही कम वयक्तिक था—उदाहरणाथ, ग्रीक नाटक हमारे युग की अपेक्षा कम आत्मपरक हैं। लेकिन ग्रीक साहित्य कही अधिक यथाथवादी था। आधुनिक इतिहास ग्रन्था से मिला कर देखें तो थुसीडाईडीज के इतिहास मे व्यक्ति विशेष के परिचय सम्बन्धी ब्यौरे म और घटनाओ पर सामान्य विचार विमश का अभाव है। इतिहासकार के मतामत को थुसीडाईडाज न वास्तविक पुरुषा के मुख म काल्पनिक भाषणा का रूप देकर प्रस्तुत किया। इस मामले म हम पाते हैं कि आज के साहित्य म भाव तथा सिद्धान्त के विवेचन और व्यक्ति तथा चरित्र के चित्रण का जो भेद प्रचलित है उस युग म इस प्रधानता नही मिल पायी थी। यही कारण है कि प्लेटो ने कुछ समकालीन कुछ विगत पीढी के अनेक वास्तविक व्यक्तिया को कुछ साव जनिक मनुष्यो और अपने मित्रो म स कुछ लोग चुनकर उन्ह अपनी दशनागत सम्मतिया तथा विचारा का प्रवत्तक बनाया। उसन इनका उपयोग सामान्यजन मानकर नही किया। इन पात्रा का चयन इसीलिए किया गया क्याकि सम्वाद मे जो प्रतिपादित हुआ है उसका कुछ सत्य सचमुच इन लोगा क आचरण म निहित था। और बहुधा इन व्यक्तिया को नाटकीय सगीत तथा सजीवता के साथ चित्रित किया गया है। फिर भी ऐतिहासिक सत्य की रत्तीभर परवाह न करके इन्ह बरता गया है। (ऐतिहासिक सत्य बोध आधुनिक काल का लक्षण है। उसका अभाव प्राचीनता का चिह्न है और प्लटो तथा अरिस्तोफेनेस दोनो म यह मिलता है।) या समझिये कि एक ओर सम्वादक पात्र निश्चित सिद्धान्ता की सहज श्रेष्ठ अभि व्यक्ति के प्रतिमान होते हैं ता दूसरी ओर उनके यथाथ चरित्र का बहुतेरा अश उनसे झाकता रहता है। प्लटो के अनुरूप सम्वाद-लेखन की विधा आज तो असम्भव ही है। हमे ऐसा लेखक चाहिये जो सिद्धान्ता के विवेचन तथा चरित्राकन के भेद को स्वतन्त्र मानकर चले यदि पात्र वास्तविक हैं तो उनका चित्रण प्रमुखत एतिहासिक हित को ध्यान म रखकर किया जाये और अगर वे कल्पनात्मक हैं

तो मूलतः उनको नाटकीय ढंग से अंकित करना चाहिये। नियम तो यह है कि जब भी आधुनिक दार्शनिक सम्वाद शैली का आश्रय लेते हैं, जैसा बर्कले ने किया तब वे अपने पात्रों को चरित्रात्मक करने का यत्न नहीं करते। अंग्रेजी साहित्य में प्लेटो की सम्वाद विधा का श्रेष्ठ उपमान बर्कले की रचना में मिलता है। प्लेटो के विभिन्न सम्वादों में नाटक-तत्त्व अलग अलग मात्रा में मिलता है। उसका 'प्रोतागोरस' (Protagoras) सब तरह से पूर्ण दार्शनिक नाटक है और 'इथीडेमस' दार्शनिक प्रहसन। बाद में लिखे गये सम्वादों में नाटक-तत्त्व कम होता गया, तथापि उन सबको सच्चे अर्थ में सम्वाद मानना चाहिए—केवल 'लाज' (Laws) को छोड़कर जिसमें सम्भाषण नाममात्र है और 'टिमइयस' (Timaeus) में तो व्याख्या के निर्वाह में वार्त्तालाप की विधा ही छोड़ दी गयी है। 'रिपब्लिक' में भी जैसे-जैसे विषय का प्रतिपादन आगे बढ़ता जाता है वैसे वैसे उसका नाटक-तत्त्व घटता जाता है, बीच-बीच में भले ही वह फिर जी उठे।

प्लेटो का सम्वाद प्रणाली सामान्यतः ग्रीक साहित्य की अन्य प्रवृत्तियों के अनुरूप होते हुए भी दर्शन के इतिहास में उसके अनुसरण का विशेष कारण है। सम्वाद विधा का एक गम्भीर अभिप्राय है। स्वयं सुकरात दर्शन विषयक सम्वाद के आदि-स्रोत थे जिनसे ग्रीक दर्शन का, प्रकृति के अनुसन्धान से स्वतन्त्र रूप में वस्तुतः आरम्भ होता है। वे जीवन भर वार्त्तालाप करते रहे। उनके जीवन की प्रेरणा प्लेटो के सम्वादों की विधात्री है। दार्शनिकों में सुकरात अद्वितीय हैं क्योंकि वे वैसा ही जिये, जैसा उनका दर्शन था। जो उन्हें कहना था, उसे पुस्तकों में नहीं अपने जीवन-व्यवहार में उन्होंने प्रकट किया और अपने भावों की रूपरेखा को दूसरों के सतत सम्पर्क से धो धोकर निखारा और सम्बर्धित किया। यह सुकरात की ही अद्भुत प्रतिभा थी कि इतना सब इस ढंग से उन्होंने कर दिखाया। वह ऐसा पुरुष था कि जहाँ भी वह गया, जिस किसी से भी मिला प्रत्येक स्थिति में उसकी प्रभुता प्रदर्शित हो उठती थी। तब उसके सम्बन्ध में यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन एक जीवन्त वस्तु है जो सजीव मस्तिष्क के सम्पर्क में आकर प्रस्फुटित हुआ है। आदतन हम मानकर चलते हैं कि दर्शन कुछ ऐसा विषय है जो नितान्त व्यक्तित्वहीन और दुर्बोध है। लेकिन बल इसी सचाई में है कि मानवी स्वभाव की किसी निश्चित वस्तु का वर्णन ही समग्र दर्शन विधा का अभीष्ट है, उसमें जितने भेदाभेद मिलते हैं, वे मानव प्रकृति के मूल में निहित भिन्नता के द्योतक हैं। यह है कि जब दर्शन विधा सारसंग्रह रूप में ग्रन्थबद्ध हो जाती है तब अधिकांश लोगों को उसकी भाषा दुर्बोध लगती है। एक बार ग्रन्थ प्रकाशित हो गया

तो लेखक अपने पाठकों के निकट सम्पर्क में न रहने के कारण उनका सहायक नहीं बन सकता और अपने मतों के अनर्थ को रोकने में असमर्थ रहता है। सुकरात और दर्शन के आधुनिक लेखक के बीच प्लेटो एक कड़ी के समान है। उसने सजीव दर्शन विधा को लिखित शब्दराशि में अक्षुण्ण रखने का प्रयास किया है। वह मनुष्य स्वभाव के ऐसे रूप खड़े करता है जो उसके पाठकों को न्यूनाधिक मात्रा में परिचित लगते हैं और इन्ही पात्रों के जरिये सहज प्रश्नोत्तर द्वारा वह अपने भाव खोलता है। प्लेटो की सम्वाद-शैली का साहित्यिक प्रयोजन आधुनिक साहित्य में नाना प्रकार की पुस्तकों में बिखर गया है। विशेषत दर्शन ग्रन्थों और उपन्यासों में जहाँ पात्रों के जीवन में मूर्त होकर भाव पनपते हैं।

इसके अतिरिक्त प्रश्न तथा उत्तर प्लेटो की दृष्टि में सत्य की खोज के लिए स्वाभाविक शैली है। ग्रीक दर्शन के सवैतनिक शिक्षकों की कूटतर्क-पद्धति के विपरीत प्लेटो अपनी शैली को निरन्तर प्रयुक्त करते रहे क्योंकि उन कुतर्की शिक्षकों के उग्र प्रवचन अथवा कोरे उपदेश मे निष्प्रभावी शब्दाडम्बर के सिवा था ही क्या? इस प्रकार प्रश्नोत्तर पर ही उसका आग्रह क्या था? कारण है कि सत्य की खोज एक क्रमानुगत प्रक्रिया ही होनी चाहिये ताकि हर कदम पर हम स्वय यह प्रतीति कर सकें कि हम किस निश्चित मत बिन्दु पर पहुचे। यह उपलब्धि प्लेटो की सम्वाद शैली से होती है जहाँ दो या अधिक व्यक्तियों की सहमति से निर्णय का प्रत्येक डग स्थिर किया जाता है। सिद्धान्तत यह तरीका हमेशा इसी ढग का रहेगा यद्यपि जरूरी नहा है कि दो व्यक्तियों के विवाद का आश्रय लेकर ही दर्शन अग्रसर हो। जो व्यक्ति सचमुच चिन्तन करता है वह अपने आप से प्रश्न करके अपने भाव स्थिर करता चलता है और प्रश्नों द्वारा ही उन भावों की परख भी करता है। असल में चिन्तक अपने साथ उसी तरह व्यवहार करता है जिस तरह सुकरात दूसरे लोगों से किया करता था। सम्वाद में दो या अधिक मस्तिष्क मूर्त होकर सत्य की खोज मे जुट जाते हैं और एक आशय दूसरे के सयोग से सत्य को प्रकाशित करता है। आधुनिक दर्शन ग्रन्थ में सम्वाद शैली के इस पहलू का स्थान आलोचना ने ले लिया है जो परस्पर विरोधी अभिप्रायों को उलट पलट कर सत्य की प्रतिष्ठा का यत्न करती है।

सम्वाद पद्धति के साथ साथ हमे प्लेटो की इस विशेषता का भी ध्यान रखना चाहिये कि अपने विचारों को विचित्र ढग से प्रस्तुत करना उसका स्वभाव ही है। रिपब्लिक के द्वितीय अध्याय का उदाहरण लीजिये। वह जब वर्तमान समाज में बरते जानेवाले सिद्धान्तों का विश्लेषण करने लगता है तो उनका

प्रदान वह इस तरह करता है कि वे ऐतिहासिक रेखा चित्र जसे दिखने लगते हैं। पहले वह एक ऐसे राज्य का वणन करता है जिसके गठन का एकमात्र लक्ष्य जीवन की आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करना है और बाद म वह उस एक भोगपरायण राज्य म बढन बदलने देता है। प्लेटो जानता था कि राज्य की इन दोनो पद्धतियो के लक्षण तत्कालीन एथेन्स के जन जीवन म प्रकट हुए थे और उन्ह उसने आत्मसात किया था।

ग्रन्थ के अष्टम तथा नवम अध्यायो म यह सिलसिला अधिक स्पष्ट है। यहाँ प्रगति की तर्कयुक्त व्यवस्था म वह पाप अथवा दुष्कम के नाना रूपो को चित्रित करना चाहता है। इसीलिए वह एक के बाद एक पाँच पात्रो तथा राज्यो को चुनकर उनका इस प्रकार वणन करता है जसे एक म से दूसरे का विकास इतिहास की सहज प्रक्रिया हो। अपने लेखन को अधिक सजीव बनाना इस प्रवत्ति का फल होना चाहिये परन्तु इसम भ्रामक विचार पनपते हैं तथा अनावश्यक दोष मढने के अवसर बनते है। रिपब्लिक' मे प्लेटो का एक विचार, तकसगत व्यवस्था म दूसरे का अनुगमन करता है लेकिन जिस नाटकीय अथवा विचित्र माध्यम से वह अपने विचारो को सतत प्रस्तुत करके चलता है, उससे ग्रन्थ का तर्कयुक्त गठन कुछ का कुछ हो जाता है।

'रिपब्लिक' की तार्किक-पद्धति परिचर्चा के अनुरूप ही है। जितने तथ्य मिल सकते हैं उन सबका एकत्र करके बाद म उनसे सिद्धान्त स्थिर करने की चेष्टा वह नही करता। तथ्य तो ग्रन्थ म भरे पडे हैं परन्तु पहले से अपने मन म स्थिर सिद्धान्तो को प्रतिपादित करने के लिए ही वह उन तथ्यो का उपयोग करता है। वह सिद्धान्त प्रस्तुत करके उनसे निष्कष तक पहुँचने का प्रयास भी नही करता। वह शुरू म मनुष्य के स्वरूप की एक निश्चित धारणा को व्यक्त करता है और फिर उसके कल्पित भावी जीवन का चित्र खीचने मे लग जाता है। ऐसा करते समय वह लगातार उन सिद्धान्तो का अनुसरण करता है, जिन्हें उसने समझाया ही नही, मगर जिनका आश्रय लेकर ही वह बहुत दूर तक चर्चा करता रहा। मानवी जीवन-सम्बन्धी परिचित मान्यताओ से वह मनुष्य के स्वरूप का चित्र बनाना शुरू करता है और धीरे धीरे जीवन के अन्य रहे सहे तत्त्वो को उसमे जोडता है। इसी के साथ वह प्रचलित विचारो को अपनाता और जाँचता परखता चलता है इस प्रक्रिया म वह सत्य को छानकर रखता है असत्य को झटक देता है। तर्क की प्रेरणा अथवा निगमन म से किसी भी पद्धति से उसकी शली को सम्बोधित नही किया जा सकता। उसकी प्रणाली 'जननशील' अथवा

रचनात्मक' है। सिद्धान्त का निर्माण और उसका अनु प्रयोग साथ-साथ चलता रहता है।

इस तर्क विधि का अनुशीलन आरम्भ करने के पूर्व उसके मुख्य विभागों पर हमें उचित ध्यान देना चाहिये जो इस प्रकार हैं

१ प्रथम तथा द्वितीय अध्याय यह प्राक्कथन मात्र है। इसमें मानव-जीवन सम्बन्धी कई चुने हुए अभिप्रायों का परीक्षण किया गया है और हमारे समक्ष वह समस्या आती है जिसका हल, रिपब्लिक' प्रस्तुत करता है। उस समस्या का स्वरूप इस प्रकार बनता है। हम मानते हैं कि कुछ नैतिक सिद्धान्त हैं जिनका पालन करना जीवन में आवश्यक है परन्तु जो कुछ हम सचमुच देखने मिलता है वह हमारी मान्यता के बिलकुल विपरीत होता है। हमारा अनुभव है कि जिसे साधारणत जीवन की सफलता कहना चाहिये, वह नैतिकता पर निर्भर होकर नहीं मिलती। इस विरोध का बोध जो माँग करता है, उसकी परिणति प्राक्कथन में होती है। बतलाइये कि वस्तुत नैतिकता क्या है? (उसके आन्तरिक और संयोगजनित परिणामों को छोड़ कर) यह खुलासा करने से ही इस प्रश्न का उचित समाधान होगा कि जिसके अन्त करण में नैतिकता है उसके भीतर वह किस प्रकार सक्रिय हुआ करती है। मनुष्य के अभ्यन्तर में नैतिकता का क्या आशय है? यह प्रश्न रिपब्लिक के केन्द्रगत विचार का सूचक है।

२ द्वितीय अध्याय में चतुर्थ अध्याय के अन्त तक इस खण्ड में प्लेटो ने अपनी कल्पना के अनुरूप मानव समाज की रूपरेखा दी है। इसी समाज की संस्थाओं में न्याय का प्रथम उन्मेष खोजा जा सकता है। उसके अनुसार मानव प्रकृति की आवश्यकताओं पर ही इन संस्थाओं को आधारित किया गया है। समाज एक समवाय (जनमण्डल) है जिसके जीवन में मानवी प्रकृति का प्रत्येक तत्त्व उचित ढंग से अपना सहज क्रिया क्षेत्र पाता है और इसी प्रक्रिया में न्याय रहता है। इस खण्ड में जिस बाह्य-संगठन का विवरण है उसका महत्त्व केवल इसी बात में है कि मनुष्य के आन्तरिक जीवन को वह अभिव्यक्ति देने का साधन है। आशय यह है कि राज्य में जीवन की व्यवस्था से आरम्भ कर और उसके प्रत्येक अंग में समवाय (जनमण्डल) के योग क्षेम का आधारभूत सिद्धान्त खोजकर प्लेटो मानव स्वभाव की रचना में सक्रिय इस सिद्धान्त के मूल तक पहुंचने का यत्न करता है।

ऐसी व्याख्या से वह सिद्ध करता है कि समाज के मूल संगठन में जितना शुभाशुभ है वह मानवात्मा की आन्तरिक प्रवृत्ति पर टिका हुआ है।

३ पंचम अध्याय से सप्तम तक आदर्श समाज की संस्थाओं व कुछ लक्षणों पर और चर्चा करके प्लेटो इस खण्ड के प्रमुख भाग में इस आदर्श को साकार बनाने के उपायों का प्रश्न उठाता है। उत्तर में कहा गया है कि मनुष्य जीवन अपनी सामर्थ्य की सीमा तक पूर्ण बन सकता है बशर्ते कि वह लगातार ज्ञान के अनुशासन में चले। समूचे विद्यमान अशुभ या कुकृत्यों का कारण यह है कि मनुष्य अपनी वासनाओं तथा पूर्वग्रहों के वशीभूत होकर अपने जीवन की सहज विधि से विमुख हो जाते हैं। प्लेटो इसे अपने ढंग से यों व्यक्त करता है कि यदि आदर्श की प्राप्ति तथा आज के अशुभ का अन्त लक्ष्य है तो राज्य पर दर्शन का शासन होना चाहिये। (दर्शन से उसका अभिप्राय है—उत्कृष्ट ज्ञान और नितान्त महत्त्वपूर्ण विषयों का परिपूर्ण बोध।) इन अध्यायों में वह दो बातों के प्रतिपादन में व्यस्त है। एक तो यह कि समग्र अशुभ, मानव प्रकृति की उस अपूर्व मूल्यवती क्षमता की भ्रष्टता और क्षति से फलित होता है जिसके बल पर सत्य की उपलब्धि की जा सकती है। दूसरे, वह उन साधनों की चर्चा करता है जिनमें संयमित होने पर यह क्षमता मानव-जाति के परम कल्याण का निमित्त बन सकती है।

४ अष्टम तथा नवम अध्याय जिस तरह विगत अध्याय मानव जीवन के उत्कर्ष का चित्र हमारे समक्ष रखते हैं उसी प्रकार इन अध्यायों में मानवीय अशुभ का आदर्श प्रतिध्वनि प्रस्तुत होती है। बताया गया है कि समाज और मानव प्रकृति का पतन कितनी निम्नतम गहराई तक पहुँचने में समर्थ है। इस प्रसंग में प्लेटो उस सिद्धान्त की अपनी धारणा को आगे परखता और निखारता है जिसके अनुशीलन पर मानव-कल्याण निर्भर है। इसी के साथ वह सिद्ध करने में लगा है कि वर्णित सिद्धान्त की अवहेलना से ही सारे अशुभ जन्म और फल जन्म लेते हैं।

५ दशम अध्याय : रिपब्लिक का यह भाग बिलकुल अलग है। इसमें दो परस्पर सम्बन्धरहित खण्ड हैं। प्रथम अर्धांश में कला विषय, विशेषतः काव्य का फिर से विचार हुआ है यद्यपि यह तृतीय अध्याय में पहले ही किया जा चुका था। शेष आधे भाग में प्रधान विषय पर विचार किया गया है जिसमें मानवात्मा की क्षमताएँ और उसके गन्तव्य लक्ष्यों की विवेचना के साथ साथ मरणोत्तर काल तक शुद्ध आत्मा का अनुसन्धान सम्मिलित है। ○○

न्यायसम्बन्धी प्रमुख मतो का परीक्षण

'रिपब्लिक' के प्रथम अध्याय और केवल इसी अध्याय की रचना तथा व्यवस्था प्लेटो के पूवगत सम्वाद अर्थात सुकराती सम्वाद के सवथा अनुरूप है। जसा द्वितीय अध्याय के शुरू म ही कहा गया है, यह अध्याय ग्रथ के शेष भाग की प्रस्तावना के समान उपयोगी है। इसम नतिकता के कतिपय माय विचारो को अनेक प्रकार के व्यक्तिया का मूतरूप देकर प्रस्तुत किया गया है यदि आधुनिक ग्रन्थ मे इनको रखा जाता तो इह भावात्मक रूप मिलता। हम पहले यह देखने का यत्न करना चाहिये कि प्लेटो इन व्यक्तियो के माध्यम से कितने प्रकार के चरित्रो को प्रस्तुत करने का अभिप्राय रखता था।

प्लेटो क सम्वादा म सुकरात सदव सच्ची दशन भावना का प्रतिनिधि रहता है परन्तु यह दशन भावना भी विभिन्न रीति से विभिन्न सम्वादो मे अपने स्वरूप को प्रकट करती है। इस अध्याय म इसका स्वरूप आलोचनात्मक भावना बनकर उभरा है जिसका किसी भी तरह से निश्चित परिणाम नहीं निकलता। सुकरात दशन म निरन्तर रहने वाले तत्त्व का प्रतीक है। यह सशयवती अथवा पृच्छात्मक भावना किसी भी बात को जसी की तसी मानकर नही चलती बल्कि चाहती है कि प्रत्येक तथ्य अपनी सचाई को तक की स्वीकृति से सिद्ध करे। दशनन की बनक इसी भावना के विद्यमान रहने पर स्पष्ट होती है। इसके साथ यह विश्वास भी सहायक रहता है कि यद्यपि हर एक व्यक्ति को स्वय यत्न करके सत्य खोजना चाहिये तथापि सत्य की खोज निश्चय ही करना पडेगी। तो प्रथम अध्याय म सुकरात मूर्तिमान दशन के रूप म उपस्थित होना है और वह विशेष पात्रो से कुछ निश्चित प्रश्न करता है तथा कुछ माय सिद्धान्ता का परीक्षण करता है।

सेफालस उस पीढ़ी के सज्जन की संचित अनुभवराशि का प्रतीक है जो सुकरात के दार्शनिक ग्रंथ के प्रारम्भ होने की घड़ी में समाप्त हो रही थी। दर्शन इसी अनुभव का निष्कर्ष बनकर आता है, उसके गुण-दोष बताने नहीं। सिसरो का मत है कि सेफालस के प्रति दयालु होना सुकरात के लिए अनुचित होता। सुकरात का यह आचरण एक उदाहरण है जिसे अरस्तू ने दर्शन के अध्येता को अनुकरणीय बताया है। वह कहता है कि हम वयोवृद्ध मनुष्यों के अप्रमाणित अनुभव को ध्यानपूर्वक समझना चाहिए क्योंकि अनुभव ने उन्हें उचित दृष्टि प्रदान की है। सरल भाषा में व्यक्त अनुभव के जिस स्वरूप का प्रवक्ता सेफालस है, उसे हम तर्क-परीक्षित अनुभव भले न कह सकें किन्तु वह जीवन का निचोड़ तो होता ही है। जिसे यह लाभ मिला है उसने यदि उस पर मनन चिन्तन नहीं किया, तो दर्शनशास्त्र के सम्भावित प्रश्नों का समाधान करने की योग्यता उसमें नहीं होती। इसी कारण जब गुण-दोष की जाँच शुरू होने लगती है और अनुभव के विश्लेषण करने की स्थिति आती है, तब सेफालस अपना भार पुत्र को सौंपकर ओझल हो जाता है।

सेफालस के सहज उद्गारों में रिपब्लिक के कुछ दार्शनिक निष्कर्षों का पूर्वाभास मिलता है। उसके भाषण में दार्शनिक प्रवचन का आनन्द देह-सुख का स्थान ग्रहण कर लेता है। ऐसा करके उसने चतुर्थ अध्याय में वर्णित 'निकृष्ट प्रेम' के समान 'क्रोधी तथा क्रूर स्वामी' से पिण्ड छुड़ाया। जीवन की दीर्घ अवधि में उसकी यही धारणा बनी कि दरिद्रता से सुख की प्रतीति में बाधा तो पड़ती है परन्तु पार्थिव समृद्धि का भी सुख पर कोई वश नहीं चलता और चारित्र्य ही सुख का यथार्थ नियामक है। वह भावी जीवन की कवि-सुलभ झाँकियों में पुराने ढंग की आस्था को किंचित विनम्रता के साथ बनाये रखता है। किन्तु साथ ही इसी आस्था के यथार्थ सत्य को वह विकारों से निःसंग रखकर धारण किये रहता है। तात्पर्य यह है कि उसका धार्मिक विश्वास अपने सरल तथापि शुद्ध रूप में स्थिर होकर लोकप्रिय धर्म की भ्रष्टता से विपरीत होता है। प्रचलित पथभ्रष्ट धर्म का जैसा वर्णन द्वितीय अध्याय में हुआ है वह पुण्य तथा पाप के सिद्धान्त का भद्दा संस्करण है। इस प्रकार 'रिपब्लिक' का आरम्भ भविष्य जीवन के विचार से होता है और वैसे ही उसका अन्त। सेफालस की दृष्टि में नैतिकता इस सूत्र में संकलित है 'वचन तथा कर्म की सत्यता और ईश्वर तथा मनुष्य के प्रति अपने ऋण का उचित निर्वाह।' यदि इस मन्त्र के विस्तार तथा गहरेपन का

ठीक तरह अपनाया जाय तो इसके भीतर वह सब भरा मिलता है जितना कोई भी कभी कहने का अभिलाषी हो सकता है।

पोलमारकस के प्रवेश करते ही हमें एक नयी पीढ़ी का परिचय मिलता है जिसे पुरानी पीढ़ी का अनुभव उत्तराधिकार में प्राप्त है और वह भी आंशिक रूप में। प्लेटो बीती हुई पीढ़ी को अनुभूति के माध्यम से जानता था इसीलिये उसका विवरण यथार्थ नहीं कहा जा सकता। पोलमारकस के विषय में ज्ञातव्य है कि वह सेफालस का पुत्र तथा वाक्-पण्डित लिसियस का भाई था और 'तीस तानाशाहों' ने उसका वध कराया था। फिड्रस (Phaedrus) नामक ग्रन्थ में दर्शन का व्यक्ति कहकर उसका उल्लेख किया गया है। इस पात्र को प्रस्तुत करने में प्लेटो का अभिप्राय किस वर्ग के व्यक्ति से है? विश्वासपूर्वक वह इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए उपस्थित होता है कि न्याय अथवा नैतिकता क्या है? लेकिन यह उत्तर उसके किसी अनुभव का परिणाम न होकर उधार लिया हुआ एक सिद्धान्त है जिसमें उसकी कोई गति नहीं। अभी तक हम ऐसे मनुष्य के सम्पर्क में रहे हैं जिसकी न्याय धारणा, उसके निजी आशय के अनुसार, सारतः सत्चरित की अभिव्यक्ति है चाहे उस समग्र दार्शनिक धारणा मानना तर्कसंगत न हो। पोलमारकस तक पहुंचते ही हम ऐसे पुरुष को पाते हैं जो परम्परा प्राप्त इसी धारणा को सहसा स्वीकार कर लेता है। कवियों से उधार लेकर इसी मान्यता को वह एक स्वयंसिद्ध निदेश अथवा नियम का रूप देता है जिसे वह खुद नितान्त अल्पांश में समझता है और जो उसकी समझ के अधूरेपन के कारण ही सद्गुण की सर्वथा सदोष परिभाषा मात्र है। यह स्वयंसिद्ध नियम भला हो या बुरा इससे हमें कोई सरोकार नहीं, सब कुछ इसी बात पर निर्भर है कि हम किस ढंग से इसके अभिप्राय को ग्रहण करते हैं।

पोलमारकस की तर्कविधि के दो भाग किये जा सकते हैं। पहले, उसे धीरे धीरे लगता है कि सिमोनाइडीज से प्राप्त स्वयंसिद्ध नियम के अभिप्राय का लेशमात्र भी वह नहीं जानता, उसके इस नियम की परिभाषा, उसकी अपेक्षा जो अन्य व्यक्ति कुशलतापूर्वक कर दिखाये वह उसी की शरण ढूँढ़ता है और उसके भावार्थ के बिलकुल विपरीत उसके शब्दों से मनमाना आशय निकाला जा सकता है। उसकी तर्कविधि का अन्त बौद्धिक विवशता की भावना अथवा अज्ञान की चेतना में होता है और सुकराती सम्वाद का प्रमुख लक्ष्य भी यही था। इस तर्कविधि के दूसरे खण्ड में अधिक यथार्थ परिणाम रहता है। इससे पोलमारकस को ज्ञात होता है कि जिसे सचमुच वह सिमोनाइडीज के नियम का

अभिप्राय मान बैठा था, नैतिक सिद्धान्त के प्राथमिक लक्षणों की पूर्ति भी उससे नहीं होती। वास्तव में वह अपने निजी विश्वास का यही आशय समझता था कि मित्रों के प्रति सद्व्यवहार तथा शत्रुओं के साथ कष्टजनक बर्ताव ही ठीक है। कोई यह नहीं मानेगा कि स्वयं नैतिकता के भाव का खण्डन किये बिना किसी को क्लेश-कष्ट देना नैतिकता कहला सकती है। पोलमारकस की धारणा से मिलता जुलता उदाहरण इस कथन में भी मिलता है कि हम अपने मित्रों से प्रीति तथा शत्रुओं से घृणा करना उचित है, जिसकी आलोचना 'सरमन आन दी माउण्ट' में की गयी है। ग्रीक जाति की नैतिक धारणा में यही भावना साधारण रूप से प्रचलित थी, सोलन की कविताओं में इसीलिये यह प्रार्थना मिलती है—'मुझे अपने मित्रों के प्रति सुखद तथा शत्रुओं से घृणा करने योग्य बना दो।'

इस तर्कविधि के प्रथम खण्ड में जिस प्रणाली का प्रयोग किया गया है वह सुकराती पद्धति के एक रूप का बहुत अच्छा उदाहरण है। जो वास्तविक निष्कर्ष निकलता है उसको हम प्लेटो द्वारा ग्रहीत सिमानाइडीज के सिद्धान्त का सहज परिणाम न मान बैठें। उस सिद्धान्त से अनेक विभिन्न अभिप्राय निकल सकते हैं। हमें ध्यान इसी बात में लगाना है कि पोलमारकस कैसे और क्या हास्यास्पद निष्कर्ष के मान लेने की दशा में पहुँचा जैसा सचमुच हुआ है। उसके अनुसार न्याय की परिभाषा यही है कि प्रत्येक मनुष्य जिस उचित व्यवहार का पात्र है उससे वैसा ही बरतो। व्यवहार-पात्रता के अर्थ पर ही सब कुछ निर्भर है। ध्येय यह है कि पोलमारकस के मन में इस परिभाषित धारणा का जो धुंधला और अस्थिर आशय है, उसी से इसे स्पष्ट करा लिया जाये। सुकरात प्रणाली से ही यह सम्भव है जिसके अनुसार स्वीकृत तथ्यों अथवा उदाहरणों को तथा समान पहलुओं पर आश्रित प्रस्तुत विचार को सामने रखकर उस विचार को संशोधित, परिष्कृत अथवा विनष्ट किया जाये। हम पहले व्यवहार-पात्रता के उस अर्थ को देखना है जिसे विधि-सम्मत उचित कहकर समझा जाता है। स्पष्टतः पोलमारकस का अर्थ यह नहीं था क्योंकि विधिसंगत क्षतिपूर्ति अथवा पुनर्प्राप्ति का ऐसा उदाहरण देना सरल है जो न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। तब वह इस पात्रता के स्थान पर अधिक अस्पष्ट शब्द रखता है। अब पात्रता का अर्थ हो जाता है—कोई वस्तु जो प्राप्य है और कोई व्यक्ति जिसे वह प्राप्त होना चाहिये। उसके इसी भाव को अधिक स्पष्ट परिभाषा में प्रस्तुत कराने के लिए सुकरात किसी व्यक्ति को प्राप्तव्य वस्तुओं के जाने-माने अनेक उदाहरण सामने लाता है जिनमें से हरएक इस परिभाषित भाव के घेरे के बाहर चली

जाती है और इस तरह उसके भावार्थ को उत्तरोत्तर संकुचित कर देती है। उदाहरणार्थ चिकित्सा-कला वही वस्तु देती है जो उसके किसी पात्र को देय है। इस तुलना के ढंग पर वह कौन सी देय वस्तु है जो न्याय किसी पात्र व्यक्ति को देता है? परन्तु ऐसा सोचते ही न्याय उसी श्रेणी में मान लिया जायगा जिसमें हम कला को रखते हैं। तब प्रश्न उठता है कि इन दोनों में पहचान का चिह्न क्या है? यह तुलना बिलकुल काल्पनिक नहीं है। न्याय ऐसी क्रिया है जो मनुष्य को सत् असत् विवेक में प्रवीण बनाकर उचित कार्य करने की समर्थता देती है। यही तथ्य न्याय तथा कला के बीच सम्पर्क चिह्न है। न्यायशील मनुष्य वह है जिसमें कुछ करने की समर्थता अथवा देन है लेकिन प्रश्न है—वह कुछ है क्या? पोलमारकस को वही अत्यन्त सुगम उदाहरण सूझता है जो न्यायाधीश की साधारण न्याय सेवा में व्यक्त होता है। वह कहता है कि न्यायकर्त्ता मनुष्य युद्ध-काल में अपने मित्रों की सहायता तथा अपने शत्रुओं को दुःख देने में अत्यन्त कुशल हुआ करता है। तब उसे ध्यान आता है कि न्याय की उपयोगिता का विस्तार शान्ति के हित में होना चाहिये और वह व्यापारी का बिलकुल सहज उदाहरण लेता है। यहाँ सुकरात को अवसर मिल जाता है जिससे वह पोलमारकस को लाचार करके उसकी न्याय धारणा को फिर संकुचित कर देता है। व्यापार तो आदान प्रदान या लेन-देन है जिसमें दो या अधिक लोगों का लगाव रहता है। पोलमारकस के मन में किस तरह के आदान प्रदान की कल्पना है? धन का लेन-देन? तो धन सम्बन्धी लेन-देन को मानकर सुकरात सिद्ध करता है कि ऐसे बहुतेरे लेन देन होते हैं जिनमें न्याय मनुष्य को अपने मित्र की सहायता के योग्य नहीं बनाता। उदाहरणार्थ पोलमारकस स्वीकार करता है कि घोड़ा खरीदने में न्याय से मनुष्य को उपयोगी बनने में सहायता नहीं मिलती बल्कि इस काम में घोड़ों के विषय में ठीक ज्ञान ही सहायक होता है। इसके पहले भी उसने मान लिया था कि मित्र के रोगग्रस्त होने पर चिकित्सा-कला ही लाभप्रद होती है न्याय-बुद्धि नहीं।

तर्कविधि के इसी सिलसिले से पोलमारकस क्रमशः अपनी न्याय धारणा के प्रत्येक व्यावहारिक महत्त्व को खो बैठता है। यह दुर्गति इसीलिये होती है क्योंकि वह जिस सूत्र का उपयोग करता है उसे वह खुद नहीं समझता। फलतः अपने से कहीं अधिक श्रेष्ठ न्यायविद के सम्मुख उसे समर्पण करना पड़ता है। अच्छा होता यदि वह कहता कि न्याय अथवा नैतिकता ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो मनुष्य को निश्चित नाम भाषित अमुक-अमुक करने के योग्य बनाता है अपितु वह एक व्यापक सिद्धान्त है जो मनुष्य का प्रत्येक कार्य समुचित रूप से करने

की योग्यता प्रदान करता है। सत्कर्म की कई कलाओं में इसकी गणना नहीं हो सकती, यह तो एक निश्चित कला है, जिसका प्रयोजन एक ही शुभ कर्म है। इस तर्कविधि का समूचा परिवेश हम इतना अटपटा लगता है कि हम उससे तनिक भी प्रभावित नहीं होते, किन्तु हम चाहें तो उसे आधुनिक रूप में सरलता से रख सकते हैं। नैतिकता सम्बन्धी किसी भी चलनसार कहावत को लीजिये जैसे—"ईमानदारी ही सर्वोत्तम नीति है" और सडक चलते किसी आदमी से अचानक उसका अभिप्राय पूछिये तो उसका अर्थ सुनकर लगेगा कि वह पोलमारकस के समान ही चकराया हुआ है।

तर्कविधि के दूसरे भाग का आरम्भ पोलमारकस के इस पश्चात्ताप से होता है कि वह अपने कथन के आशय को स्वयं नहीं जानता। फिर भी वह दावा करता रहता है कि बहरहाल मित्रों का भला और शत्रुओं का बुरा करना ही न्याय है। क्या नैतिकता की सर्वथा प्रारम्भिक धारणा से यह भावार्थ कोई संगति रखता है? सुकरात जिस तर्क से इस वास्तविक विसंगति को सिद्ध करता है वह शुद्ध शब्दगत दिखायी पडती है। वस्तुतः समूचे नीति विषयक विवाद में हमें शब्दों को ही जाँचना पडेगा। सुकरात इस बात को सिद्ध करने की चेष्टा करता है कि अगर भला (सत्) और बुरा (असत्) शब्दों से कोई नियत अर्थ निकलता है तो भी वह नैतिकता का पर्याप्त विवरण नहीं हो सकता। कारण इसमें यह अन्तर्विरोध निहित है कि असत् का प्रेरक कारण सत् हो सकता है। किसी मनुष्य को चोट पहुँचाने अथवा उसकी हानि करने का अभिप्राय क्या है? ऐसा करके ही उसे मानवी श्रेष्ठता की दृष्टि से पतित करना ही तो हुआ, मनुष्य को चोट पहुँचाने का परिणाम उसे नराधम बनाना होगा। तो, न्याय का और चाहे जो आशय हो वह मानवी उत्कर्ष का एक रूप है। अतएव यह कहना कि न्याय मनुष्य को अधम-पतित बनाता है, इस कथन के समान है कि ताप हमें शीतल करता है। इसलिए अगर सिमोनाइडीज़ का आशय यही था जैसा पोलमारकस समझता था कि उसका आशय था तो वह कभी सही नहीं कहा जा सकता क्योंकि सम्भवतः उसका आशय ऐसा था ही नहीं।

तत्कालीन ग्रीस में कवि-वचन को आचरण और नीति सम्बन्धी प्रश्नों का प्रमाण मानने की प्रथा थी। सिमोनाइडीज़ के प्रभाव का आश्रय लेना इसका एक उदाहरण है। हमें यह बात अजीब लगती है किन्तु उस युग का प्रायः समग्र चिन्तनोन्मुख साहित्य कवियों की रचनाओं में मिलता है। ग्रीक दर्शन के अग्रदूत कवि ही थे, मनुष्य के सम्बन्ध में स्वयं मनुष्य के चिन्तन को कवियों ने ही पहले

पहल अभिव्यक्ति दी थी। ग्रीक जाति के प्रारम्भिक भाव कविता मे ही व्यक्त हुए थे, हिब्रुओ के भविष्य-कथन की पद्धति म नही। फलत जब लोग अपने भावा को सूत्रबद्ध करना चाहते थे तब वे कवियो की शरण मे जाते थ। इस दृष्टि से होमर तथा कुछ अन्य कवियो की रचनाएँ ग्रीक धमशास्त्र जैसी मानी जाती थी। सच है कि उन्ह विशिष्ट तथा युक्तिसगत प्रमाण के रूप मे मान्य नही किया गया था, कविता और साहित्य के सामान्य ग्रन्था की कोटि मे ही उनकी गिनती होती रही। किन्तु अग्रेजी भाषा मे जिस तरह बाइबिल का स्थान बन गया उस श्रेणी म ग्रीस के पुरातन कवियो को मान लिया गया है। प्लेटो के युग मे नीति विवाद मे कवि वाणी का प्रयोग सहज परम्परा को भी लाँघ गया था, उनके कथन की टीका करने का अभ्यास सस्कृति के विशेष प्रकार जैसा बन गया। इस प्रसग मे सुकरात का मत यह है कि सिमोनाइडीज पहेलियो का कवि था। प्रोतागोरस मे वह कवि वचन को पहेली अथवा रूपक के अथ म उपयोग करन क चलन का परिहास करता है। इस प्रकार के अभ्यास का कारण था। लोग ऐसा समझने लगे थ कि यदि कवि रचना से जीवन-सम्बन्धी नवीन भाव निकालना है तो उसे ऊपरी तौर पर पढना भर लाभप्रद नहीं हो सकता। यह जरूरी समझा जाने लगा कि नवीन भावा को उनकी कविता म जसे बने वसे खोज निकालो। यहाँ पहुचकर सिमोनाइडीज के प्रति सुकरात की धारणा को प्लेटो व्यगमिश्रित शिष्टता के रूप मे प्रकट करता है। लकिन उसने कविया का निरूपण प्रसग भेद के अनुसार अलग अलग ढग से किया है।

नैतिकता और कला म जिस तुलना का उपयोग पालमारकस के साथ तक करते समय हुआ है, सुकरात प्लेटो तथा अरस्तू के विवेचन मे वह बार बार दिखायी देती है। यह समझ लेना चाहिये कि इस तुलना म बिलकुल निश्चित समानता किस बात की है और इसे इतना अधिक घटित करने मे सुकरात का प्रयोजन क्या था? कलाओ के दृष्टान्त से बदस्तूर ललितकलाओ को समझ लेना ठीक न होगा। यहाँ कला का सकेत यान्त्रिक अथवा व्यवसायी कलाओ से है जिसमे चिकित्सा, नौ विद्या जूते बनाना पाकशास्त्र आदि शामिल हैं। जहाँ कही शिल्प अथवा चित्रकला का दृष्टान्त आया है इनको भी दूसरी कलाओ के बराबर माना गया है। असल म नैतिकता और कला से उत्पन्न वस्तुओ के बीच तुलना नही है। सत्कर्मी तथा कलाकार की दक्षता अथवा निपुणता म जो निश्चित साम्य है वही अभिप्रेत है। न्याय नियत कम की सत्ता है और इस अथ म किसी अन्य कला के अनुरूप है। रसोइये और जूता बनाने वाले ऐसे व्यक्ति हैं जो दूसरे

लोगों की तुलना में इन कामों की योग्यता इसलिए अधिक रखते हैं क्योंकि वे अपने काम के ज्ञान बल पर ही योग्य अथवा निपुण हो सकते हैं। यही बात कला और नैतिकता में तुलना का विषय है। सम्यक् जीवन निर्वाह के लिए हम जीवन की यथार्थता का बोध होना चाहिये। सुकरात के नाम से जुड़ी हुई एक कहावत है 'सदाचार ही ज्ञान है' जिसका सही अर्थ है कि जीवन का समुचित बोध हो जाना उसे अपने अधीन कर लेना है। किसी भी वस्तु के सफल कलाकार बनने की शर्त यही है कि उसके सिद्धान्त का ठीक ज्ञान होना चाहिये। इसी आशय में नैतिकता को कला का स्वरूप दिया गया है क्योंकि सज्जन को जीवन कला में प्रवीण माना है। वही अपने जीवन की परिस्थितियों का और उनके निर्वाह की उत्तम प्रणाली को भली भाँति जानता है। उतावली में कोई यह न सोच बैठे कि जीवन कला या नैतिकता का अभ्यास जूता बनाने की कला के समान किया जा सकता है। जिन ग्रीक विचारकों ने नैतिकता और कला में समानता का आभास पाया था और वह वास्तविक ही है वे कभी इस तुलना का अतिरेक करने के अभिलाषी नहीं थे। प्लेटो सघन भाव से जीवन-कला तथा दूसरी कलाओं के अन्तर को स्पष्ट करने में कसर नहीं रखता। इस भेद का मूल तत्त्व यही है कि अन्य कलाओं में जिस तरह निपुणता मिल सकती है उस तरह जीवन निर्वाह की कला में सम्भव नहीं है। तुलना के इस उपयोग का एक मात्र प्रयोजन यही है कि यदि नैतिकता मनुष्य को आचार-व्यवहार में अधिक कुशल नहीं बनाती तो वह निरर्थक है और कुशलता से जीने के लिए जीवन का चिन्तन मनन उसी लगन से करना जरूरी है जिस तरह कोई स्वस्थ मनुष्य अपने व्यवसाय में निरत होता है। सहज ही ऐसा मान लिया जाता है कि ग्रीक विचारकों ने जब नैतिकता की तुलना कलाओं से की तो उनका ध्यान ललित कलाओं की ओर था और नैतिक जीवन तथा कलाकृति में समरूपता उनका अभिप्राय रहा है। बहुतेरे लोग सदाचारी जीवन को कलाकृति के समकक्ष ही समझते हैं और यह उचित दृष्टिकोण है। परन्तु इससे प्लेटो अथवा अरस्तू की चिन्तन शैली का मेल नहीं बैठता यद्यपि उनकी शब्दावली में भी कभी-कभी नैतिकता को सुन्दर वस्तु जैसा वर्णित किया गया है। उन्हें नैतिकता तथा कला में जो तुलना दिखायी देती थी उसे आधुनिक भाषा में व्यक्त करने के लिए चाहो तो इस तरह कह लो कि नैतिकता का अर्थ एक कल्पना अथवा सिद्धान्त है जिसे जीवन में साकार किया गया हो। आशय यह है कि जीवन की गतिविधि वैज्ञानिक शैली में बदल जाय जैसा प्रयोगात्मक विज्ञान में होता है जिसमें ग्रहण

शक्ति से सफलता और अज्ञान से विफलता मिलती है। असल म यही ग्रीक शैली की जीवन दृष्टि है क्योंकि ग्रीक जाति केवल कलाप्रिय ही नही अपितु बुद्धिजीवी थी और उसका ऐसा दृष्टिकोण स्वाभाविक था।

आग चलकर विवाद मे थ्रेसीमेकस का प्रवश होता है। प्लेटो सामान्यत ग्रीक भाषा शास्त्र के वैतनिक अध्यापक के जिस स्वरूप को पेश करता है थ्रेसीमेकस उसका प्रतीक नही है। इन तार्किको का कोई एक विशेष वग तो था नही और किसी एक व्यक्ति को उनका प्रतिनिधि नही कहा जा सकता। प्लेटो और इन तार्किका की प्रतिस्पर्धा एक नही विविध रूप मे प्रकट होती है। सीधी तरह से इन तार्किको का वणन करें तो कहना होगा कि इन्ही लोगो ने ईसा पूव चौथी और पाचवी सदी म ग्रीस को सम्कृति का बोध कराया। यो कहिये कि नयी विचारधारा का प्रचार इन लोगा का अपना व्यवसाय बन गया था। जिस आवश्यकता की पूर्ति इन लोगा न उस समय की उस समझन के लिए हम यह देखें कि उन्नीसवी सदी म सस्कृति प्रचार के क्या साधन हैं? कोई एक नामधारी जनवग अथवा माध्यम आज नही मिलता। लेकिन पहले हम समाचार पत्र तथा पत्रिकाओ क लेखक मिलत हैं जो विविध रुचि का एक विशाल समुदाय है। फिर उपन्यासकार आत हैं। नतिक तथा धार्मिक उपदेश क साथ साथ वे लोग भी हैं जो विज्ञान या दशन के निश्चित विचारो को लोकप्रिय बनाने की चेष्टा करत हैं चाहे उनम स सभी को मनीषी अथवा दशनज्ञ कहना सह्य न हो। प्रोफेसर हक्सले का उदाहरण लीजिये जो विज्ञानविद् क अलावा विज्ञान के प्रचारक भी हैं। मथ्यू आरनोल्ड कवि तो थे ही उन्होंने धम तथा जीवन सम्बन्धी कुछ निश्चित विचारो के प्रसार म महत्त्वपूर्ण प्रयास किया। ग्रीक तार्किका (Sophists) को एक प्रकार के जन समूह की दृष्टि स समझना सही नही है जैसा इग्लण्ड म सस्कृति प्रचारक का एक विशिष्ट रूप होता है। उन तर्कविदा में उत्तम-वृत्ति और नीच-वृत्ति के लोग थे और वे भी थे जो नितान्त विभिन्न प्रयोजन से आचरण करते थे। कतिपय ऐसे व्यक्ति जरूर थे जिनमे सचमुच शिक्षा का प्रसार करने की रुचि थी। दूसरे वे थे जो बनी हुई आस्थाओ को मिटाना चाहत थे और ऐसा समुदाय भी था जिनका एकमात्र ध्येय धनाजन था।

ग्रीस की परिस्थितियाँ इग्लैण्ड से भिन्न थी। जिन खास बातो की शिक्षा इन तार्किका (Sophists) ने ग्रीस को दी वह इन लोगा के अनुरूप किसी माध्यम स इग्लण्ड मे दी जाने वाली शिक्षा से अलग थी। प्राय सभी कृत्रिम तथा

अत्युक्तिपूर्ण भाषा या वाग्मिता की शिक्षा देते थे अर्थात् भाषा के प्रयोग की क्षमता जीवन का एक उपकरण हो गयी थी। वाग्मिता के इस अध्यापन का आधुनिक समरूप इंग्लैण्ड की 'उच्चतर शिक्षा' में मिल सकता है। इंग्लिश पब्लिक स्कूलों और विश्वविद्यालयों में प्रमुखतः क्या सिखाया जाता है? बाहर से देखने वाला बहुत कुछ सचाई के साथ यह कह सकता है कि उक्त संस्थाओं में भाषा के उपयोग का अभ्यास ही मुख्य वस्तु है—साहित्य के बोध की शक्ति तथा लेखन की योग्यता वहीं मिलती है। अपने भाव व्यक्त करने की क्षमता प्राप्त कर लेना शिक्षा के प्रयोजन का अपरिहार्य तत्त्व है और ग्रीस में यह क्षमता जीवन के उचित निर्वाह हेतु सर्वथा आवश्यक थी। इसीलिये प्रायः इन सभी तार्किकों ने वाग्मिता का अध्यापन किया। परन्तु भाषा का ज्ञान केवल शब्दों के उपयोग को जान लेना तो नहीं है। भाषा ज्ञान का सहज फल महत्त्वपूर्ण विषयों का चिन्तन और इस चिन्तन को वाणी देना है। ग्रीस में सार्वजनिक जीवन अथवा राजनीति जैसे विषयों को प्रधानतः रोचक माना गया था और यह तार्किक अध्यापक अपने शिष्यों को इन्हीं विषयों पर भाषण देने का अभ्यास कराते थे। फलतः संयोगवश और कभी-कभी जानबूझकर इनका अध्यापन नैतिक शिक्षा अथवा सदाचार शिक्षा थी जिसका सीधा सम्बन्ध वस्तुओं के ज्ञान से रहता था। यह कहना सही नहीं है कि इंग्लैण्ड की उच्चतर शिक्षा केवल भाषागत प्रशिक्षण था क्योंकि भाषागत प्रशिक्षण का अर्थ ही अनेक प्रकार के भावों को ग्रहण करना और उनका समुचित प्रयोग करना है। इसके साथ यह मानना भी ठीक नहीं है कि ग्रीस में इन तार्किक अध्यापकों की शिक्षा कोरी वाग्मिता थी। सच तो यह है कि यह लोग ग्रीस में अधिकतर सदाचरण के अध्यापक थे।

इन वाक्-पण्डितों को एक तरह से पेशेवर लोग ही समझना चाहिये। जीविका का यही साधन उनका था। परिस्थिति के अनुकूल वे विशेष जन-समुदाय के समक्ष विचार प्रस्तुत करने को बाध्य हो जाते थे और उसे प्रभावित करने में सचेष्ट रहते थे। आज के समाचार-लेखक भी यही सोच विचारकर लिखा करते हैं कि वे किसके लिए लिखते हैं और बहुतायत में अपने पाठकों की रुचि के अनुकूल शैली तथा विषय-वस्तु उनके लेखन का लक्ष्य होना चाहिये। विज्ञानी और अन्य व्यक्ति में मौलिक अन्तर यही है। सत्य के प्रचार का कोई लक्ष्य विज्ञानी के मन में नहीं रहता। वह तो सत्य क्या है—इसी की चेष्टा में डूबा रहता है चाहे दूसरा कोई उसे माने या न माने। यही कारण है कि बहुतेरे

महान् विज्ञानीपुरुषों के समकालीन व्यक्तियों ने उनके सम्बन्ध में निपट भ्रामक धारणाएं फैलायी और उनके विचार दूसरे लोगों के जरिये दुनिया जान गया—यही काम इन तर्क-पण्डितों ने किया। जो व्यक्ति यह काम करता है वह अपने आपको बड़ी जोखिम में डाल देता है जैसा हाल धर्म सिद्धान्त के प्रचारक का भी होता है। जितना बड़ा सत्य वह सामने लाता है उसे ग्रहणीय बनाने की उतनी ही प्रभावी शैली उसे अपनाना जरूरी हो जाता है और ऐसा करने पर उसे सत्य के साथ समझौता होता ही है। जन रुचि से मेल खानेवाली शैली का अवलम्बन असाधारण कठिनाई है और कुछ लोग इस ढंग के प्रयोग में बहक कर अविवेकी बन जायें तो आश्चर्य नहीं। जितने वाक् पण्डित प्लेटो की चर्चा में भाग लेते हैं वे एक दूसरे से इतने भिन्न हैं जितने साहित्यकार अथवा सन्त पुरुष विवेकशून्य अखबारनवीस से हो सकते हैं। प्रोतागोरस तथा जार्जियस सम्माननीय व्यक्ति हैं जनकल्याण के इच्छुक हैं परन्तु जननेता कहलाने की धुन में यथावत साधारणजन के विचारों को ही वे फैलाते रहते हैं। कई तो ऐसे धूर्त निकले हैं कि लोगों पर अपनी धाक जमाने या पैसा लूटने से ज्यादा उनका कोई ध्येय नहीं होता। प्लेटो इन वाक्-पण्डितों के साथ यथोचित व्यवहार करता है। उनमें से कुछ लोग उससे व्यंगमिश्रित आदर पाते हैं जैसे जार्जियस तथा प्रोतागोरस और कुछ उसकी कटु घृणा के पात्र हैं जैसे यूथीडमस।

थ्रेसीमेक्स उन वाक् पण्डितों में से था जिन्होंने अपनी वाग्मिता को शिक्षण का प्रधान विषय मान लिया था। पता चलता है कि श्रोताओं की वासनाओं को उत्तेजित करने की प्रक्रिया सिखलाने में वह सुदक्ष था। वह चेलसीडान का निवासी था। यह जानने की कोई सामग्री नहीं है कि प्लेटो द्वारा उसका चरित्राङ्कन कहाँ तक न्यायोचित था वैसे इससे हमें प्रयोजन भी नहीं है। उसके चरित्र में जो लक्षण उभरते हैं वे प्लेटो के तर्क पण्डितों में से बहुतरों में मिलते हैं। हलके दर्जे के अधिकतम वाक् पण्डित प्लेटो की रचना में सत्य के प्रति उदासीन द्रव्यलोभी और मौखिक विजय में अनुरक्त होने के समान गुणों से भूषित हैं। विवेक के प्रति अनिच्छा और मिथ्या तर्क की प्रवृत्ति प्रायः सभी में दीखती है किन्तु थ्रेसीमेक्स के कुछ विशेष लक्षण हैं। शायद प्लेटो चाहता था कि साधारणजन में सचमुच जैसे दोष होते हैं थ्रेसीमेक्स में उनका बढ़ा चढ़ा रूप दिखलाया जाय। इसीलिये उसमें नीरसता, अभद्रता (वैसे यह दुर्गुण प्लेटो के सम्वादों में बहुत विलक्षण है) व धृष्टता तथा परिणाम की लापरवाही और

मानव द्वेषवाद मिलता है। असल में उसका चित्राकन प्रमुखत वाग्मिता के शिक्षक रूप में नहीं किया गया। पहले प्रकरण में ही वह ऐसा मनुष्य लगता है जो राजनीतिक सदाचार की निन्दा करने में प्रवृत्त है। वैसे तो वह सदाचार की कल्पना में भी विश्वास नहीं करना चाहता। इसके साथ-साथ वह विज्ञानविद का ढोंग रचता है और बताता है कि उसके बराबर यथातथ्य या बिलकुल चौकस दार्शनिक और किसी के वश का काम नहीं। वह अपनी बात को पेश करने में इतना चतुर है कि उसका शब्दाडम्बरपूर्ण कथन भी धूर्तताप्रिय लोकमानस पर अत्यधिक प्रभाव डालता है। वह जिस मत का समर्थक है, उस युग में वैसा ख्याल हवा में गूँज रहा था मगर इतने नंगे रूप में बहुधा उसे बताया नहीं जाता था। थूसीडाइडीज के मेलियन सम्वाद और अरिस्टोफेनीज कृत 'क्लाउड्स' (Clouds) के पात्रों की तर्कविधि में भी इस प्रकार के मत की झलक मिलती है। इसे हम जॉर्जियस (Gorgias) में भी पाते हैं जहाँ इस मत को गम्भीर और प्रभावपूर्ण शैली में व्यक्त किया गया और उसका समाधान भी किया गया है। उस सम्वाद में कलीक्लीज वैसी ही प्रभावी शैली से इस मत का प्रतिपादन करता है जैसी रीति से हमेशा इसके यथार्थ को व्यक्त किया जाता रहा है।

थ्रेसीमेकस के साथ जिस तर्कविधि का प्रयोग हुआ है उसे दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहले भाग में उसके वास्तविक आशय का रूप प्रकट करने के उद्देश्य से उसके सारांशात्मक सूत्र की छानबीन की जाती है। सार यह निकला कि यथार्थ जीवन कला है—अपनी उन्नति येन-केन प्रकारेण करते रहना और दण्ड की सम्भावना से निश्चिन्त रहना। जीवन का सच्चा लक्ष्य स्वार्थपरता में सफलता पाना है। जिसे न्याय और अन्याय कहकर पुकारते हैं वह तो अपनी अपनी नजर का फर्क है। अगर स्वार्थता फलदायिनी है तो वह न्यायोचित है, यदि नहीं तो अन्यायपूर्ण है। दूसरे भाग में यह सिद्ध करने का यत्न है कि यदि इसी दृष्टि को नियम समझ लें और इसके अनुकूल जीवन बिताने को सिद्धान्त कहने लगें तो वह स्वयं अपना खण्डन बन जाता है क्योंकि सिद्धान्त का निषेध उसकी जड़ में है। विवेक, सदाचार अथवा सुख के स्वरूप का एक भी आवश्यक गुण उसमें नहीं बचता। दोनों भागों की शैली का मिलान पोलमारकस की तर्कविधि से किया जा सकता है। थोड़े से शब्द चुनकर उनमें निश्चित न्यूनतम अर्थ का आरोप किया जाता है और जिज्ञासा होती है कि यदि इन शब्दों का उचित अर्थ मान लिया जाय तो तर्कसंगत अभिप्राय क्या होगा? इसे मुख्यत कुछ धारणाओं के दुरूह अभिप्राय से गढ़ा हुआ तर्क ही कहना पड़ेगा। अत प्रारम्भ में यह

असन्तोषकारक और अविश्वासजनक लगना चाहिए। लगता है कि यद्यपि थ्रेसीमेकस बराबर ठोस कहलाने वाले तथ्यों पर विचार करता है जबकि उसके विरुद्ध जो तर्क हैं उसका सम्बन्ध जीवन के तथ्यों से नहीं है। मानलें कि जीवन के तथ्य थ्रेसीमेकस की धारणा जैसे हैं तो तर्क सिर्फ इतनी जाँच करने आया है कि ये तथ्य कुछ दुरूह धारणाओं का समाधान करते हैं या नहीं? उदाहरणार्थ यदि शासन सार्वभौमिक रूप में स्वार्थलिप्त है तो क्या उसे शासन की संज्ञा दी जा सकती है? ग्लोकन ने द्वितीय अध्याय के शुरू में यही भाव व्यक्त किया है। उसके कथनानुसार थ्रेसीमेकस का मुँह तक न भले बन्द कर दिया हो परन्तु श्रोताओं को यह भरोसा नहीं मिला कि जो कुछ वह कहता है उसमें तनिक भी सार नहीं है। वे इतना ही नहीं चाहते कि सुकरात तर्कविधि से न्याय को अन्याय की अपेक्षा बढ़तर सिद्ध कर दिखाये बल्कि उसे यह भी प्रमाणित करना चाहिये कि न्याय तथा अन्याय मानव जीवन के क्रियाशील सिद्धान्त हैं।

१ थ्रेसीमेक्स आरम्भ ही इसी प्रतिज्ञा से करता है कि 'न्याय सबलों की स्वार्थ दृष्टि है।' अच्छा है कि उसके शब्दों के सन्देहार्थ पहले ही स्पष्ट करलें। ग्रीक भाषा में सबलतर के अर्थ में जो शब्द प्रयुक्त होता है उसमें सबलतर तथा भद्रतर का आशय भरा है। तो प्रश्न उठता है कि उसने किस विशेष आशय में सबलतर अथवा भद्रतर को रखा है? दैहिक बल के भाव को अलग रखकर थ्रेसीमेक्स कहता है कि इस शब्द से शासन अथवा सत्ताप्रभु अभिप्रेत है। इसे बिलकुल ठीक अर्थ मानना चाहिये क्योंकि शासन अन्य प्रकार के साधनों से सम्पन्न होने के साथ यथार्थतः बलप्रयोग पर आधारित रहता है। तब 'न्याय सबलों की स्वार्थ दृष्टि है'—इस कथन से थ्रेसीमेकस का अभिप्राय है कि शासन अपनी स्वार्थपूर्ति के ध्येय से ही कानून बनाता है। किन्तु यह भी सन्देहात्मक है। थ्रेसीमेक्स के अनुसार यह सही है कि प्रजातन्त्र या स्वल्पतन्त्र के कानून केवल प्रजातन्त्रीय या स्वल्पतन्त्रीय अभीष्ट को पूरा करते हैं। प्रजातन्त्र इस कल्पना पर आश्रित जनमण्डल है कि राज्य का श्रेष्ठ और सच्चा हित प्रजातन्त्रीय है और यही स्वल्पतन्त्र पर लागू है। लेकिन इस वक्तव्य का इससे भिन्न अर्थ भी हो सकता है अर्थात् जो शासन करते हैं वे अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ दृष्टि से कानून बना लेते हैं और तब यह तुरन्त स्पष्ट हो जाता है कि थ्रेसीमेक्स का असल अभिप्राय यही है।

जैसा ऊपर समझाया गया है इस स्थिति (अर्थात् शासन या सत्ताप्रभु की स्वार्थदृष्टि न्याय है) के परीक्षण की पहली चेष्टा थ्रेसीमेक्स को यह स्वीकृत

करने की दशा में पहुंचा देती है कि शासन का कोई न कोई सिद्धान्त नियम या उसकी कला है। सुकरात इस तथ्य पर फिर विचार करने का अनुरोध करता है कि अपने हिता के सम्बन्ध में शासन भूल करता है। इसीलिये वह जिस कार्य का आदेश देता है, सम्भव है वह उसका वास्तविक हित या स्वार्थ न हो। तब थ्रेसीमेकस दृढ़तापूर्वक कहता है कि वहरहाल शासन अथवा सत्ताप्रभु के उल्लेख से उसका अभिप्राय शासन पर अधिकार रखनेवाले किसी भी व्यक्ति से नही है। उसके कथन मे ऐसे व्यक्तियो का सकेत है जो शासन करने की वास्तविक योग्यता तथा ज्ञान के कारण अधिकारयुक्त पद पर हैं। उसकी दृष्टि मे शासन केवल उसे कहना चाहिये जो भूल न करे। यहा पहुंचने ही हम एक अलग तरह की स्थिति मे पड जाते हैं और इसमे सुकरात को नये और महत्त्वपूर्ण विचार बिन्दु की ओर बढने का सुभीता मिल जाता है। इस सिलसिले मे शासन उस श्रेणी मे चला जाता है जिसमे व्यावहारिक सिद्धान्त अथवा कला मानी गयी है। ऐसा होने से कला को सामान्यत जो कुछ लागू हो सकता है, वह सब शासन के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है।

इस तर्कविधि का अगला कदम, सहज ही कला की अमूर्त धारणा को विस्तृत करता है। कला के मामले मे हित या स्वार्थ-दृष्टि की कल्पना कैसे लागू होती है? कला का हित किस आशय को व्यक्त करता है अथवा कलाकार अपनी हैसियत मे किस हित से प्रेरित माना जाये? (प्रश्न शैली कला और कलाकार का अभेद कर देती है। कलाकार को साकार कला मान लिया जाता है। बस सच है कि कलाकार से पृथक कला का अस्तित्व हो नही सकता। कला का अर्थ ही है सजीव कलाकार और जो कुछ सर्जन यह करता है। यही बात विज्ञान की है। कुछ व्यक्तियो की जीवन्त मानसिक स्थितियां और इन स्थितियो के परिणामो को ही विज्ञान कहा जा सकता है न।) कला के हित के दो अर्थ हो सकते हैं। पहले विषय-वस्तु का स्वार्थ या हित, बहुत निश्चित रूप से कला का हित कहला सकता है। कलाओ का जन्म कुछ वस्तुओ की कामनाओ, त्रुटियो अथवा अपूर्णताओं से होता है। मनुष्य देह की अपूर्णता औषधि की कला का कारण है, शरीर को औषधि के बिना पूर्ण स्वस्थ रखा जा सकता तो इस कला का आविर्भाव ही न होता। कला का विषय-वस्तु सम्बन्धी स्वार्थ या हित का प्रयोजन इस अपूर्णता की पूर्ति करना है। शिथिल शैली मे इसी को कला का हित कह लीजिये। परन्तु दूसरे अर्थ मे प्रश्न यह है कि कला के हित का बिलकुल निश्चित अभिप्राय क्या है? कला एक प्रकार की सत्ता है जो कुछ

कामनाओं को तोष देने अथवा कुछ त्रुटियों की पूर्ति करने म प्रयुक्त हो सकती है। इसलिए उसका हित, ध्येय या प्रेरणा इसी *काय को यथासम्भव कुशलतापूवक* करने के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता। उसका कौशल या उत्कप उसका हित या स्वाथ है। किसी कलाकार की कल्पना कीजिये जो अपनी समग्र शक्ति से कलाकृति मे जुटा रहता है। क्या कलाकार की इस प्रवति से अलग या अधिक उसे कुछ और की चाह होगी ? नही, यदि उसके अलावा अन्य हित से उस लगाव होता है तो साफ है कि वह अपनी कला से परे चला गया तथा चाहे जो कुछ उसे कहे *कलाकार तो वह नही रह गया*। कला वैसे आत्मतृप्त होती है *कला स्वभाव से ऐसी त्रुटिरहित या निष्काम रहती है कि उसे दूसरी कलाओ* से पूण करने का अवसर नही आता। कला का उत्कप या कौशल उसका पुरस्कार है। यदि हम कला को छोडकर कलाकार की चर्चा करें तो यह तक विधि अधिक स्पष्ट हो जायगी। मानना होगा कि डाक्टर या चित्रकार जब तक डाक्टर या चित्रकार है तब तक उसका इसके सिवा कोई स्वाथ या हित नहा हो सकता कि वह अपने रोगी की समुचित चिकित्सा करे, अथवा पूरी निपुणता से चित्र बनाय। जिस घडी उसके चित्त म दूसरा हित उठता है उसी क्षण वह सही *अथ म डाक्टर या चित्रकार नहीं रह जाता*। इसका यह मतलब नही लगाना चाहिये कि कला क परे उसका लगाव अन्य हिता से हो जाने के कारण वह कलाकार से घट कर कुछ और हो गया।

अब उसको शासन-कला म लागू करें तो कला और कला वस्तु अथवा विषय के बीच जो सम्बध रहता है वही शासक तथा शासित म होता है। अपने विषय के अधिपति होने के कारण व उसके साथ स्वेच्छानुसार बर्ताव करते हैं। जब हम उन शासको की बात करते हैं जो अपने शासकत्व को चरिताथ करते है और जब हम उन्हे दूसरो से अपेक्षाकृत सबल तथा *भद्र मानते है* तब हमारा आशय यह है कि सच्चे अथ म शासक होने क लिए जो श्रेष्ठता उनम होती है, कलाकार मे वही श्रेष्ठता अपनी कला वस्तु का उपयोग करन मे प्रकट हुआ करती है। शासक के लिए जनमण्डल उसकी विषय वस्तु है जिस पर उसकी प्रभुता चलती है। समाज रूपी कला वस्तु की जरूरतें शासन के अस्तित्व को मूत *बनाती हैं। अतएव यदि* सचमुच शासन-कला जसी कोई वस्तु है जिसका अथ है कि वह मूतरूप म विद्यमान है और जिसे हमने शासन नाम स सम्बोधित *किया है* उस यदि किसी *अन्य भिन्न* वस्तु म विघटित या रूपान्तरित नही करना है तो शासन के हित का एकमात्र अभिप्राय शासितो का हित ही हो सकता

है। शासक के नाते उनका हित केवल सचमुच रीति से शासन करना है। फिर यदि हम कहे कि न्याय शासकों का हित है तो हम यह कदापि नहीं कहना चाहते हैं कि शासन करने के अतिरिक्त और कुछ भी करना उनका हित हो सकता है। लेकिन थ्रेसीमेकस के कथन में उनके हित का सर्वथा भिन्न अभिप्राय था।

यह बिल्कुल अमूर्त तर्कविधि है जिसके फलस्वरूप थ्रेसीमेकस वैज्ञानिक और तर्कसंगत ढंग का परित्याग छोड़ देता है, जैसा अभी तक वह करता रहा है। उसका उत्तर इस तर्कविधि से भटक जाता है और तथ्यों पर विचार की अपील करता है। वह कहता है "शासन की वास्तविकता को देखो" और कतिपय ग्रीक शासकों के अत्याचार सत्य को मानकर भी उनका कुटिलतापूर्ण विवरण देता है। वे सरकारें गडरियों के समान हैं जो भेड़ों को चराने का काम भेड़ के हित की बजाय सिर्फ अपने हित के लिए करती हैं। आगे बढ़कर वह कहने लगता है कि जीवन में सच्चा और सम्मान्य मनुष्य सचमुच टिकता नहीं उसे बहुत कम लाभ होता है और उसे अधिकतर अर्थचिक्कर माना जाता है। सबल का वास्तविक हित अन्याय है वह भी छोटे पैमाने के मामूली अपराध जैसा अन्याय नहीं। उनके अन्याय विशाल और विस्तृत होते हैं। न्याय और अन्याय में भेद ही नहीं रह जाता। केवल वर्णन करने के ढंग से इनमें भिन्नता दीखने लगती है। अगर अन्यायकर्ता बहुत बली है तो अशक्त लोग उसके कार्य को न्याय कहकर पुकारते हैं। कहीं अन्यायी दुर्बल हुआ तो बलवान उसके कार्य को अन्याय मानते हैं और उसे दण्ड भोगना पड़ता है।

धीरे धीरे हम भिन्न प्रकार के और व्यापक प्रश्न के समीप पहुंच रहे हैं न्याय और अन्याय की वास्तविक प्रकृति में स्पष्ट अन्तर क्या है? और अन्तत मानव जीवन का यथार्थ लक्ष्य अथवा कल्याण क्या है? थ्रेसीमेकस तो पाप या बुराई और पुण्य या भलाई के भेद को त्याग ही देता है। उसकी दृष्टि केवल आत्महित के सिद्धान्त को मान्यता देती है। अगर आत्महित या स्वार्थ सफल हो जाता है तो उसे न्याय कहलाने का हक है यही सार की बात है।

अपने उत्तर में प्रथम खण्ड में थ्रेसीमेकस के गडरिया और भेड़ के उदाहरण को पकड़कर सुकरात इस स्वीकृत तथ्य पर पुनर्विचार करने का अनुरोध करता है कि जब कलाओं का पारिश्रमिक लिया जाता है तब उसके मूल में यह धारणा होती है कि कलाकार अपने निजी लाभ के लिए कार्यरत नहीं होता। वह निरन्तर

भावात्मक ढग से अपनी कला की कल्पना को विकसित करने में ही सलग्न रहता है। सुकरात ने कलाओं के अलग-अलग स्वभाव की चर्चा पहले ही कर दी है। अब वह वतनिक कलाकार का ठोस मामला लेकर बताता है कि इस प्रसग में दो सवथा पृथक कलाए आती हैं। एक तो उसकी निजी विशिष्ट कला और दूसरी श्रमजीवी की कला जो उसक और दूसरे कलाकारो के बीच समान है। नियत वस्तु के सजन की प्रवीणता कला है और उससे निर्मित वस्तु उसकी अपनी विशेषता है। नाव खेने की मजदूरी लेनेवाले नाविक या मल्लाह और रोग की चिकित्सा कर धन कमानेवाले डाक्टर दोनो की खास कला से उत्पन्न पृथक पृथक वस्तु का हम स्पष्ट भेद जान सकते हैं और दोनो को प्राप्त समान वस्तु अर्थात धन को देख सकते हैं। इस विश्लेषण की सचाई और दोनो की कलाजनित वस्तु का अन्तर इससे और सिद्ध हो जाता है यदि रोगी की चिकित्सा में लगे रहने पर भी डाक्टर फीस लेना बन्द कर दे तब उसकी कलाजनित विशेष वस्तु अर्थात आरोग्यलाभ को धन में नहीं बदला जा सकता यद्यपि धन दोनो कलाओं में समान वस्तु है। शासन-कला के प्रसग को जोडकर सुकरात यह तथ्य प्रस्तुत करता है कि शासनकर्त्ताओं को उनके काम का मूल्य दिया जाता है। यह मूल्य धन या पद के रूप में प्राप्त होता है। पुरस्कार का एक रूप और भी है। काश कोई निकम्मा सरकार बन जाता तो उसके अशुभ कृत्यो का फल स्वय इन शासको और जनमण्डल को भोगना पडता। राज्य करने के अवसर से इन्हें यह विपत्ति नही झेलनी पडी—यह अपने आप एक पुरस्कार है। इसमें शासन सम्बन्धी सवमान्य नियम प्रमाणित है कि शासन करना अपने आप आयप्रद काय नही है। सुकरात इसमें इतना और जोड देता है कि वही शासक श्रेष्ठ होते हैं जो धन अथवा यश के लाभ से प्रेरित होकर राज्य नही करते। सिफ इसीलिए वे शासन करने में लग जाते हैं कि यदि उन्होंने सरकार अपने हाथ में न रखी तो दूसरे लोग शासन को बिगाड देंगे। अपने वक्तव्य को आगे खींचकर सुकरात यह भी कह सकता है कि जितनी अधिक कुशलता से मनुष्य राज्य करता है उसे शासकीय काय के निर्वाह मात्र में पुरस्कार का सुख उतना ही अधिक परिमाण में मिलता है।

प्लेटो मूल्यभोगी कला को दूसरी कलाओं से जिस प्रकार विभाजित करता है वैसा अन्तर हम भी दिखला सकते हैं भले ही प्लेटो से हमारी भाषा अलग हो। डाक्टर का उदाहरण लेकर हम कहना चाहेंगे कि कमाई करनेवाले व्यक्ति के रूप में डाक्टर अथशास्त्री अथवा साख्यिक विचार का विषय है। उन्हें डाक्टर

के बारे मे केवल इसी सवाल से सरोकार है कि उसके काय का मूल्य क्या है ? उसकी कला क किस विशिष्ट गुणधम से आय होगी—यह बात उक्त प्रश्न मे कोई हेर फेर नही कर सकती। इसी बात को पलटकर कहे तो कलाकार चाह एक हजार मालाना कमाय अथवा दस हजार, उसकी कला पर कोई प्रभाव नही पडता। सुकरात जिस प्रमुख तकबिन्दु पर डटा है, उस इस साधारणत स्वीकृत सिद्धान्त से समझाया जा सकता है जो सावजनिक सेवा म नियुक्त अधिकारीगण के वेतन म लागू होता है। सिद्धान्त यह है कि उनके वेतन की सीमा एसी होनी चाहिये ताकि वे मनोयोगपूवक कत्तव्यरत रह सकें और यथासम्भव उन्ह पदेन लाभ का अनुचित लोभ न सता सके। शिकायत की गयी है कि संयुक्त राज्य के न्यायाधीशा का अल्प वतन उनके न्यायधम पर विपरीत प्रभाव डालता है। नि सन्देह थ्रेसीमेकस के बताये तथ्य सही हैं परन्तु इसी के बराबर का सही यह भी है कि शासकीय प्राधिकार क स्वभाव मे सुकरात जो दोष देखता है उसे साधारणजन का विवेक यथावत स्वीकार करता है।

२ हम अब थ्रेसीमकस से किय गय तक के दूसर खण्ड पर विचार करेंगे। शासन की धारणा का विश्लेषण पूरा करके सुकरात इससे भी अधिक महत्त्वपूण प्रश्न को उठाता है। क्या सफलतापूवक आत्मोन्नति जीवन का सही सिद्धान्त है ? क्या न्यायप्रिय मनुष्य की अपेक्षा अन्यायी व्यक्ति का जीवन अधिक लाभ दायक है ? तकविधि के प्रसग म यह प्रकट हो चुका है कि थ्रेसीमेकस के "न्याय सबला की स्वाथदृष्टि है"—कथन म उसका यथाथ अभिप्राय यही है। अपन आशय की स्पष्टता के समथन म उस कहना पडा कि जिसे अन्याय कहते हैं शब्दों के सही अथ की दृष्टि से वह सदाचार और विवेक है।

इन शब्दा का ग्रीक भाषा म क्या अथ है ? सदाचार वह गुण है जिसके कारण व्यक्ति नियत काय को उचित रूप म करता है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई सदाचार नही होता। इसके साथ 'सत' विशेषण लगा ही है। वस्तु स्वय सत है जब वह उचित आचरण म सलग्न रहती है। अत सज्जन का अन्य जो भी अथ हो उसका आशय अपने काय म कुशल मनुष्य तो होना ही चाहिये—वह मनुष्य जो सम्यक जीवन बिताता है चाहे इसम और कुछ भी अथ क्या न जोडा जाये। अग्रेजी के 'गुडनेस और गुड शब्द सहज ही ग्रीक भाषा के शब्दा क समानार्थी होन पर भी उनम वसी व्यापक भावव्यजक क्षमता नही है जो मनुष्य विषयक आचरण का चरिताथ कर सक। मोरलिटी' (Morality) और मॉरल (Moral) शब्द ता इस भाव म रीते हैं।

ग्रीक भाषा के विवेकी अथवाची शब्द को 'सदाचार अर्थ के ग्रीक शब्द का एक विशेष रूप माना जाता है। अरस्तू इस ग्रीक शब्द के प्रारम्भिक उपयोग का वर्णन करते हुए कहता है कि वह कला (ग्रीक शब्द का पर्याय) का सदाचार है। विवेकी (Wise) और कुटिल (Cunning) शब्द इसी अर्थ में ओल्ड टेस्टामण्ट में आये हैं। यदि हम मनुष्य जीवन को किसी कला की विषय वस्तु की दृष्टि से देखें तो ग्रीक शब्दार्थ से वह व्यक्ति जीवन कला का विधाता कहलायेगा। तो थ्रेसीमेकस के आशय में अन्यायी समझा जानेवाला मनुष्य जीवन की वास्तविक कला का विधाता होता है। ग्रीक भाषा के सदाचार और विवेक' अथवाची शब्दों को अन्याय के भाव में आरोपित करके प्रसगात थ्रेसीमेकस न्याय में अपनी अनास्था को इस रूप में रख लेता है कि वह श्रोताओं को अत्यन्त विरोधाभासी लगता है। प्लेटो का मन्तव्य भी यही है। सुकरात कहती कसता है कि अगर थ्रेसीमेकस समझौता कर लेता और कहता कि अन्याय घृणित होने हुए भी हितकारी है तो उसके तर्क का समाधान सरलता से हो जाता।

इसके बाद हम समझना है कि अन्याय से उसका अभिप्राय क्या है? चिरकाल से अन्याय का सारभूत आशय झूठ व्यवहार माना जाता है। जीवन की समस्त उपयोगी वस्तुओं का दूसरे की अपेक्षा अधिक से अधिक उपभोग की चेष्टा ही अन्याय है। अन्यायी मनुष्य वही है जो अन्य व्यक्ति की तुलना में किसी वस्तु को अधिक मात्रा में जुटाने का सदैव प्रयत्न किया करता है। ग्रीक चिन्तन में न्याय का प्रधान भाव एक नियत प्रकार की समानता का अभिलाषी रहा है। आशय यह है कि बिलकुल समान परिणाम में भले न हो किन्तु उचित अनुपात में प्रत्येक का उसकी जीवनस्थिति के अनुकूल अथवा अन्य किसी पैमाने के अनुसार प्राप्ति होना चाहिये।

अनन्तर थ्रेसीमेकस अन्याय की दुहाई देने लगता है और उसे जीवन का यथार्थ ज्ञान कहकर पुकारता है। इस तरह ग्रीक शब्दों के अर्थ को ग्रहण कर अन्याय को सदाचार अथवा सद्गुण मानने का दावा स्थिर होता है अथवा गिर जाता है। उसका दूसरा दावा है कि जीवन की यथार्थ शक्ति अन्याय ही है। अन्त में वह अन्याय को जीवन का सच्चा सुख अथवा कल्याण बताने का दावा करता है। इन तीन दावों के अन्तर्गत उसकी स्थिति की जब व्याख्या करनी होगी

(अ) पहले दावे के बारे मे सुकरात की तर्कविधि के सागन पर इस प्रकार विवेचन किया जा सकता है सर्वथा अन्यायी मनुष्य की सक्रियता के पीछे जो सिद्धान्तबल है जाँच करने पर उसमे यह निषेध मिलता है कि कोई सिद्धान्त ऐसा है ही नही। वह कहता है 'प्रत्येक मनुष्य जितना ले सकता है लेव।" अच्छे और बुरे उचित और अनुचित का भेद वह नहीं मानता। वह इतना भी सहन करना नही चाहता कि ऐसी कोई सीमा होनी है जिसके आगे अन्यायी को कुछ और नही मिलना चाहिये। थ्रेसीमेकस के मन्तव्य का यह अर्थ लगाकर उस आग्रह करते हुए दिखाया गया है कि सिद्धान्त रहित मनुष्य जीवन का यथार्थ कलाकार है। अब इस प्रकार के मनुष्य की तुलना हम दूसरी कलाओं में निपुण व्यक्ति अथवा कुशल कलाकार से कर लें। सभी दूसरी कलाओं में उचित या अनुचित अथवा अपनी गति की सीमा के बोध से रहित व्यक्ति अपनी कला से अनभिज्ञ माना जाता है। वह कला के विषय में बिलकुल कुछ नही जानता। मान लीजिये कि दो गायक वाद्य-यन्त्र का स्वर मिलान के लिए बैठे हैं। अगर वे सच्चे संगीतज्ञ हैं तो उचित और अनुचित के सिद्धान्त में उनकी सहमति एकरूप होगी। इसी सिद्धान्त-बोध के कारण उनको नियत मात्रा लाँघने का ख्याल तक नहीं आयगा। या कहिये कि यदि वाद्य-यन्त्र सही मिलाया जा चुका है तो जानकार संगीतज्ञ नियत सीमा के आगे और मिलाते रहने की बात तक नही सोचेगा अथवा यदि दो कुशल डाक्टर सलाह करने मिलेंगे तो जिस डाक्टर ने रोगी की उचित चिकित्सा की है उसे नीचा दिखाने की नीयत से चालू चिकित्सा के सही ढंग को बदलने की बात तक दूसरा डाक्टर सोचेगा नही। नियत सीमा तक चलने की चेष्टा और उसके बाहर न जाने की कोशिश कला विषयक कुशलता अथवा औचित्य के भाव का वांछित मानदण्ड है। इसी की उपलब्धि के लिए समूची यत्नशक्ति है। फिर ऐसा लगता है कि सभी कलाओं में नैपुण्य तथा बोध कलाविद की इस समझ में है कि किस समय वह *नियत सीमा* तक पहुँच गया? प्लेटो कहता है कि ऐसा मनुष्य अपनी बराबरी के दूसरे कलाविद से आगे निकल जाना नही चाहता। इसे अपने ढंग से यों कहेंगे कि वह जिसे अपनी कला का सिद्धान्त मानता है उसकी सीमा का उल्लंघन वह नही करता। यदि सभी समय कलाविद इसी कोटि में गिने जायें तो असीम वस्तु संचय में आसक्त अन्यायी पुरुष अधम और अबोध कलावन्त की श्रेणी का मनुष्य दिखायी पड़ेगा।

सुकरात की तर्कविधि विश्वासजनक नही लगती। इसलिए नही कि उसे भावात्मक रूप म प्रस्तुत किया गया है बल्कि उसका एक अन्य कारण भी है। समग्र प्रश्न जिस मूल से बढा है, यह कारण उसको स्पष्ट करता है। जब कोई प्रश्न प्राकृतिक अथवा आदि तथ्यो को उभारता है तो साधारण जन उनका सामना करने से कतराते हैं। प्लेटो के अनेक परिच्छेद इस तर्कविधि पर प्रकाश डालत हैं। पालिटिकस (Politicus) नामक ग्रन्थ म मानदण्ड के दो भेद स्पष्ट हैं। पहला मानदण्ड वस्तुआ क परस्पर विरोधी महत्त्व को स्पष्ट करता है दूसरे के द्वारा केवल उनके महत्त्व ही नही प्रत्युत उनके बीच अनुपात या सापेक्ष सम्बन्ध की सूचना दी जाती है। इस सिल सिल को प्लेटो आग बढाकर कहता है कि समस्त कलाओ का अस्तित्व इस अनुपात-सूचक मानदण्ड पर निर्भर है। जार्जियस' (Gorgias) के कुछ भाग म यही अर्थ विशेष मिलता है। क्लीवलीज' म इस धारणा को थ्रेसीमकस के समान कुछ विशेष बलपूर्वक अपनाते हुए दिखाया गया है और वह उसके प्रतिकूल ही जाती है। यदि निपट तर्कसंगत ही रहने का व्रत लें तो जीवन सर्वथा असम्भव हो जाय और तर्कसम्मत अनैतिक जीवन यथार्थत तर्क दृष्टि से असम्भव और आत्मघातक होगा। अनुपात अथवा सापेक्ष सम्बन्ध महान सिद्धान्त है जो जीवन तथा विश्व को एक साथ मिलाकर रखता है। फाइलेबस (Philebus) म सुकरात सीमान्त की चर्चा करता है। अन्यत्र जिसे मानदण्ड कहा गया है मूलत सीमान्त भी वही है। यह सीमान्त अथवा मानदण्ड वस्तुआ को तुलनीय बनाता है जिसके बिना तुलना और मापन सम्भव नही है। इस ऐसा व्यापक सिद्धान्त माना गया है जिसके आधार पर केवल कलाए ही नही बल्कि प्राकृतिक नियम भी टिके हुए हैं। प्लेटो क अन्य परिच्छेदा म सदाचार तथा मानव जीवन प्रकृति और उसकी प्रक्रिया एव कला और उसकी गतिविधि का कसौटी समानरूपेण यही सिद्धान्त है।

इस सिद्धान्त क विषय म एक नितान्त मिथ्या धारणा बन गयी है जिससे हम बचना चाहिये। सीमान्त शब्द के आधुनिक प्रसग और कभी-कभी मानदण्ड शब्द के भी आज क वाच्यार्थ इन्ही शब्दो के प्लेटो क भावार्थ से सर्वथा विपरीत है। माना कि सीमान्त शब्द हम प्रगति के अवरोध का सकेत करता हुआ लगता है। भास होता है कि यह शब्द किसी भी कार्य मे पूर्णता पाने से हम टोकता है। प्लेटो और अरस्तू क लिए तो ग्रीक भाषा

व स्तम म इन शब्दों की अर्थ-व्याप्ति बिलकुल भिन्न थी। सीमान्त की कल्पना मे एक प्रकार की सिद्धि या उपलब्धि का भाव निहित है जिसके द्वारा पूर्णता तक पहुँचना है। वह प्रगति की बाधा नही है प्रत्युत उसके बिना प्रगति अन्तहीन निरर्थक प्रक्रिया हो जायगी। वसे दोनो प्रकार म इस शब्द का उपयोग सार्थक किया जा सकता है। परन्तु भाषा के प्रयोग म जो अन्तर है उसी क कारण वस्तु की ओर हमारी विचार दृष्टि के भेदों का मौलिक अन्तर प्रकट होता है। ग्रीक कल्पना के मानदण्ड के अभिप्राय का बाधक आधुनिक शब्द विधि या कानून है। आज हम प्रकृति तथा सदाचार की जो कल्पना करते हैं उसमे विधि का भावार्थ अधिकाधिक व्याप्त होता जा रहा है। इस भावार्थ क दो प्रयोग हो सकते हैं। कानून या विधि को सयमकारी और दमनकारी शक्ति की तरह माना जा सकता है अथवा उसे क्रियाशीलता की ऐसी विधा या पद्धति समझा जा सकता है जो हम पथ भ्रष्ट नही होने देती। दूसरा अर्थ ही प्राकृतिक नियमों का सच्चा आशय है। इसी सच्चे अर्थ म प्लेटो मानदण्ड को भी प्रयुक्त करता है। प्लेटो और अरस्तू समान भाव म सत्य को अभिव्यक्त करने का यही सहज तरीका मानते हैं कि पुण्य या उचित और पाप या अनुचित म स्पष्ट भेद है अथवा सदाचार एक सिद्धान्त है। इसी क समकक्ष विचार यह है कि सीमान्त अथवा मानदण्ड अक्षरशः सत्य है जिसके बिना मानव जीवन असम्भव हो जायगा। अरस्तू क मत का निचोड़ यह है कि सदाचार, दो उग्रताओं अथवा अतिवादों का मध्य बिन्दु है। इस मानदण्ड की कल्पना का रूपान्तर समझिए जो सत् शिव अथवा सुन्दर क सदैव आविर्भूत होने की अभिव्यंजना है और जो कभी अत्यधिक या न्यूनतम नही होता। ग्रीक विचारक इस प्रकार के मानदण्ड की समक्षता को विश्व म, सदाचरण म और समग्र मानव-जीवन म विवेक के चेतनभाव का प्रतीक मानते थे। इस सदाचार विषयक कल्पना नहीं समझना चाहिये क्योंकि यह मानव-जीवन म सम्बद्ध पूर्णतया विश्वव्यापी भाव है। अपने निराले ढंग से ग्रीक चिन्तक सदाचार की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि सदाचारी मनुष्य वही है जो सिद्धान्त को मान्यता देता है। उनकी दृष्टि म सदाचार, कला विज्ञान और विवेक से जुडी हुई प्रत्येक वस्तु का परस्पर सम्बन्ध-सूत्र इसी सद्धान्तिक मान्यता म निहित है। अतएव थ्रेसीमेकस के साथ तक म जो विचार विषय उलझा हुआ है वह बुद्धि की पहुच के भीतर आनेवाला सवथा प्राथमिक विषय

है। आशय यह है कि सदाचार सम्बन्धी चर्चा में यह विषय इतना अधिक पीछे चला जाता है कि उसे हम ठीक नहीं समझते। मूल प्रश्न यह है कि मानव जीवन में कोई सिद्धान्त है अथवा नहीं? परन्तु इसकी अपेक्षा कहीं अधिक मूर्त वातावरण में हम उचित अथवा सत् के सम्बन्ध में साधारणतः चर्चा किया करते हैं। (थ्रेसीमेकस चाहता तो वह सहज भाव से इस तर्कविधि का यह उत्तर तत्काल दे सकता था 'जो मनुष्य जितना लेने की शक्ति रखता है उतना लेने में लगा रहे'—इससे यह मतलब नहीं है कि वह जितना ले सकता है, उतना सचमुच और पूरी तरह लेते समय किसी भी प्रकार का सिद्धान्त अथवा मर्यादा नहीं मानता। लेकिन इस ढंग का उत्तर देने का यही अर्थ होता कि वह अपने तर्क की पूर्व स्थिति की वकालत करने के बजाय उससे विमुख हो गया।)

(आ) अन्याय अथवा शक्तिभर सब कुछ लेने की प्रवृत्ति को सत्ता अथवा बल के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। तर्कविधि के इस पहलू का विचार्य विषय सिद्धान्त पालन और सिद्धान्तहीनता के बीच का प्रश्न है। थ्रेसीमेकस की विवाद वस्तु का समाधान यह कहकर किया गया है कि यदि हम सफल बल प्रयोग का कोई उदाहरण लें तो हम एकता के किसी तत्त्व को, किसी मानदण्ड को पाते हैं जिसे मूकभाव से स्वीकार करके जन-समुदाय मिल जुलकर कार्यरत होता है। इसी का आशय यह भी है कि अपनी शक्तिभर सम्पूर्णतः सब कुछ समेटने का अथवा सिद्धान्त के पूर्ण अभाव का अर्थ होगा—मिलजुलकर काम करने की अयोग्यता और फलस्वरूप विच्छेद तथा विनाश। किसी भी समाज में राज्यरूपी विशाल समाज में सेना में अथवा दस्यु समूह सरीखे छोटे संगठन में अन्याय की सफलता न्याय की किसी निहित मान्यता से निरंतर स्फूर्त होती है। इसी का अनुसरण करके सुकरात प्रतिपादित करता है कि न्याय शब्द कर्म के केवल किसी बाहरी रूप का विवेचन नहीं करता, अथवा वह स्वयं अपने बल या अपनी सत्ता का स्वामी है। फिर जहाँ कहीं भी उसका निवास होगा चाहे समाज में या व्यक्ति के अन्तःकरण में वह अपने प्रभाव को हमेशा सूचित करेगा। व्यक्ति के अन्तःकरण की ओर ध्यान दिलाकर सुकरात जताना चाहता है कि न्याय-बोध का संयोग ही व्यक्ति के बल की इसी तरह समाज के बल की उपाधि है। ऐसा मानते ही, हम न्याय की बाह्याचरण अवस्था के स्थान पर उसे मानव के अन्तःकरण का एक जीवन्त सिद्धान्त मान लेते हैं जो जीवन निर्वाह

में स्वतः गतिमान होना है। यही प्रस्तुत विषय की प्रतिपादन शैली का प्रथम संकेत है जो रिपब्लिक के समूचे शेष भाग की प्रधान धारणा है। निरंकुश अन्याय के सिद्धान्त का अर्थ है—आत्म-सयोग अर्थ मनुष्यों की संगति और ईश्वर-योग की असम्भाव्यता। जहाँ-कहीं बल का दर्शन होता है वह न्याय अथवा सयोग के किसी सम्मिश्रण का प्रभाव ही होगा।

(६) अब विवाद-वस्तु का इतना अंश शेष रहता है कि अन्यायी मनुष्य न्यायी की अपेक्षा 'अधिक सुखी अथवा अधिक कुशल जीवन' बिताता है। इसके उत्तर में प्लेटो निपट सहज ढंग से उस कल्पना को स्पष्ट खोलकर रखता है जो अरस्तू के नीति शास्त्र (Ethics) की मूलभूत कल्पना है। नीति शास्त्र के प्रथम अध्याय में अरस्तू पूछता है सुख क्या है? जीवन का यथार्थ प्रयोजन क्या है? उत्तर देने के लिए फिर वह प्रश्न करता है क्या मनुष्य के रूप में मनुष्य का कोई कर्त्तव्य होता है? वह कर्त्तव्य को सदाचार का सर्वथा निकट सम्बन्धी मानकर उसकी परिभाषा करता है। इसका सीधा अर्थ है—कर्म की महत्ता या प्रतिष्ठा कर्त्तव्य-निर्वाह का उत्कर्ष। हम भली भाँति समझना होगा कि यही अभिप्राय ग्रीक चिन्तन में सदाचार की व्याख्या में व्यक्त किया गया है। प्रस्तुत परिच्छेद में सुकरात की तर्कविधि इस प्रकार है प्रत्येक वस्तु का एक नियत कर्त्तव्य है अर्थात् जो वस्तु क्रियाशील है अथवा कोई अन्य वस्तु उत्पन्न करती है उसमें तदनुरूप गुण रहता है। प्रत्येक वस्तु जिस क्रिया अथवा कर्त्तव्य का एकमात्र निमित्त या श्रेष्ठ निमित्त है वही उस वस्तु का निश्चित कर्त्तव्य है। वस्तु का गुण ही उसे कर्त्तव्य निर्वाह में कुशल बनाता है। जब निमित्त कर्म कुशल होता है तब उसके इसी गुण को सद्गुण या धर्म कहते हैं। जैसे, आँख का गुण देखना है और कान का गुण है सुनना तो सम्यक् दृष्टि तथा सम्यक् श्रवण इनके धर्म कहलाये। मनुष्य की आत्मा निश्चित कर्म से सम्बद्ध है यद्यपि कहा जा सकता है कि उसके विविध कर्म होते हैं। परन्तु सामान्य शब्दावली में इन विविध कर्मों को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि मानवात्मा का कर्म जीवनयापन है। (ग्रीक जाति आत्मा को जीवन-तत्त्व के आशय में प्रयुक्त करती थी) तो उसका धर्म वह गुण कहलायेगा जो उसे जीवनयापन में कुशल बनाता है। अतएव यदि अभी तक का हमारा कथन उचित माना जाय तो न्याय ही मनुष्य का धर्म है अन्याय नहीं न्यायशील मनुष्य ही कुशलता से जीवन निर्वाह कर सकता है अन्यायप्रिय व्यक्ति नहीं और कुशल जीवन ही सुखी होता है।

फिर यहाँ तर्कविधि नितान्त दुर्बोध हो जाती है। हम इस दुर्बोधता का भग करना चाहिये और कहना चाहिए कि सदाचार में गुणधर्म का आशय दृष्टि तथा श्रवण के गुणधर्म से सर्वथा भिन्न है और कुशल जीवनयापन से सुख का जैसा अभिप्राय निकलता हुआ दीख पड़ता है उसमें बहुतेरे दूसरे अर्थों का भी समावेश रहता है। इन शब्दों की सुनिश्चित अर्थ-व्याप्ति ही इस तर्कविधि का आधार है जिसके द्वारा प्रत्येक शब्द से स्पष्ट और नियत आशय मिल सके। मनुष्य और घोड़े के सद्गुण एक दूसरे से बिलकुल अलग-अलग हैं किन्तु उनमें कौन-सा समान तत्त्व है जिसे हम उन दोनों में गुण कहकर पुकारते हैं। क्या हम किसी भी वस्तु को सद्गुण कह सकते हैं चाहे कर्म की निपुणता का उसमें लेशमात्र न रहे और चाहे इस गुण का पात्र कोई क्यों न हो? क्या अच्छी या बुरी वस्तु कहने से हमारा आशय इसके अतिरिक्त कुछ और भी हो सकता है कि वह नियत कर्म करने में कुशल अथवा अकुशल है? इसी प्रकार सुख अपने व्यापक अर्थ में हित, क्षेम अथवा कुशल को समेटे हुए है जिससे वह बहुत जटिल वस्तु बन जाता है। फलतः कोई उस समूचे व्यापार का वर्णन करने में सहसा समर्थ नहीं है जिसके सकलित अभिप्राय का नाम सुख कहलाता है। किन्तु क्या इस सुख में निश्चय ही यह गूढ़ार्थ नहीं मिलता कि मानवात्मा अर्थात् मनुष्य की समग्र प्राणशक्ति की यही उत्तम व्यवस्था है अथवा वह अपने नियत कर्तव्य को इसी से निपुणतापूर्वक किया करती है? यदि सद्गुण या धर्म और सुख का यही प्रयोजन है जो हमारे भावार्थ से प्रतीत होता है तो यह निष्कर्ष निकलता है जब जनसमुदाय एक मत से यह मानने को तत्पर हो जाता है कि निर्धारित आचार-व्यवहार से धर्म अथवा सदाचार का स्वरूप स्थिर होता है तब उसका इसके सिवा दूसरा आशय नहीं हो सकता कि इसी व्यवहार में उस सुख की अनुभूति होती है। यदि कोई यह कहे कि जिसे वह सदाचार मानता है सुख या क्षेम नाम से अभिप्रेत वस्तु का उससे कोई सरोकार नहीं है तो सदाचार और सुख दोनों शब्दों के वास्तविक अर्थ से वह परिचित ही नहीं है। सार रूप में प्लेटो इसी दृष्टिकोण को इस भाग में प्रतिपादित करना चाहता है।

तर्कविधि के पिछले दो भाग द्वितीय अध्याय के प्रथम अर्धांश की भूमिका तैयार करते हैं। धर्म अथवा सदाचार की स्थूल धारणा क्षीण होती जाती है और उस प्राणशक्ति की एक मूलतः सहज क्रिया मानने के लिए हमें न्योता

जाता है। द्वितीय अध्याय में ग्लौकन तथा एडीमेण्टस इसी धारणा को ग्रहण और विकसित करने का आग्रह करते हैं।

प्रथम अध्याय की समाप्ति के पूर्व सयोगवश आगे आनेवाले दो मनोभाव हमें विचारणीय जान पड़ते हैं

१ थ्रेसीमेकस खट्टे मन से सुकरात की प्रसिद्ध व्यंग्योक्ति का उल्लेख करता है जो विपक्षी का खण्डन करने के लिए अज्ञान का छल हुआ करता है। अरस्तू रचित नीति शास्त्र (Ethics) में व्यंग्यपटु वह व्यक्ति है जो विवाद में अपनी यथार्थ प्रतिभा को बहुत कम प्रकट होने देता है। इसी साधारण अर्थ में व्यंग्योक्ति एक सामाजिक गुण है जो दर्प अथवा क्षुद्रता का नितान्त विपरीत रूप है। यही कपटाचार या मिथ्या विनय बन जाता है जब कोई व्यक्ति निरन्तर अपनी तुच्छता का स्वाग करता है और तब साधारणतः हम यही सोचने लगते हैं कि वास्तव में एम व्यक्ति का एकमात्र गुण उसका दंभ है। परन्तु सुकरात की व्यंग्योक्ति केवल सामाजिक व्यवहार में शैली की मृदुलता नहीं थी कपटाचार अथवा छद्म विनय तो उसे कहा ही नहीं जा सकता। ज्ञान की अक्षयता के निर्मल बोध से सुकरात के मानस में इस व्यंग्योक्ति का आविर्भाव हुआ था। उसके उदगारों की तुलना ईसाईमत के उपदेशों में व्यक्त इस प्रश्न से कर सकते हैं क्या मुझे सुजन कहता है तू ? सुकराती व्यंग्य की यही गहन सार्थकता है। जो ज्ञातव्य है उससे मिलान करें तो सुकरात क्या, कोई दूसरा भी कुछ नहीं जानता। उसका कथन है कि जिनसे मैंने बातचीत की, उनकी अपेक्षा मैं अधिक विवेकवान इस लिए हूँ कि मुझे अपने अज्ञान की प्रतीति है। निस्सदेह वह जिन लोगों से वार्तालाप करता था, आमतौर पर वे सब उससे कहीं अधिक अज्ञानी थे। और यदि कोई अपरिचित मनुष्य उसके साथ सम्भाषण करता तो अज्ञान की यह सतत मान्यता एक प्रकार का हास्यास्पद व्यंग्य-सा लगती जिसे सुकरात ने पक्ष को सबल बनाने के लिए ही जान-बूझकर अपनाया गया है। ('भाग्य का व्यंग्य' से तुलना की जा सकती है, भाग्य का व्यंग्य कहते समय उस मनुष्य का ध्यान आता है जो अपनी यथार्थ परिस्थितियों से सर्वथा अचेत रहकर आचरण करता है।)

२ थ्रेसीमेकस ने 'रिपब्लिक' के चर्चागत विषय को गति देने में प्रशंसनीय योगदान किया है। सुकरात और वाक्-पण्डितों (Sophists) में एक भेद यह बताया गया है कि वाक्-पण्डित वेतनभागी थे सुकरात ने कभी पैसा नहीं लिया। ज़ेनोफ़न (Xenophon) से विदित है कि प्लेटो के समान सुकरात वेतन लेने की रीति को सचमुच बुरा नहीं समझता था। लेकिन उसकी धारणा थी कि वेतन

लेनेवाले म वह एक प्रकार की हीनता का लक्षण है। झेनोफ़ान बताता है कि सुकरात ने कभी अपने उपदेश के बदले धन नहीं चाहा या तो वह धन अथवा भोग साधन के प्रति उदासीन रहता था। उसके कथनानुसार इस सम्बन्ध म सुकरात की धारणा यह थी कि धनाशा रहित होने से उसकी स्वाधीनता निरापद रहती है। उसे लगता था कि जो लोग समाज हित के बदले धन ग्रहण करते हैं वे अपने आपको धनदाता का दास बना देते हैं। झेनोफान यह भी कहता है कि एण्टीफान ने धन विरक्ति के लिए सुकरात को काफी झिड़का और कहा कि वह इमानदार आदमी तो था मगर वह अपने हित को नही समझता था। सुकरात उत्तर देता है कि वह सुविचार या विवेक को सौन्दर्य मानता है और उसकी दृष्टि म सुविचार को बेचकर धन कमाना उसे दुश्चरित्र करना है। दूसरी तरह कहें तो सत्य ऐसी वस्तु है जिसे बेचा या खरीदा नही जा सकता तथा उसे धन म आकना पदच्युत करना है।

आधुनिक बुद्धि को यह ख्याल बेहूदा लगता है कि किसी वस्तु के बदले धन ग्रहण, पतन का लक्षण है। असल सवाल यह है कि धन ग्रहण कहाँ तक और क्योंकर धन लेनेवाले के प्रयोजन तथा मन स्थिति पर प्रभाव डालता है। कतिपय मनुष्य इसस लेशभर भी प्रभावित नही होते। लेकिन इस तरह धन लेने वाले और देनेवाले के बीच का नाता सचमुच बहुत बड़े खतरे म पड़ जाता है। बहुसख्यक लोगो का स्वतन्त्रमति तथा मनोभाव की निर्मलता इससे घटने लगती है। आजकल ज्यादातर प्रत्येक प्रकार का काय पेशा बनने की धुन म दिखायी दे रहा है और इस क्रिया म उसके गुणो का ह्रास निहित है। शायद पुरोहित या धर्माचाय पर मुख्य रूप स इसका असर दिखायी देता है यद्यपि डाक्टर वकील और दूसरे किसी भी पेशे के लोग भी बराबर इसी झमेले म पड़ते गये हैं। बिलकुल यही बात सुकरात और प्लेटो को वाक् पण्डितो (Sophists) के बारे म लगी होगी, बस यह धारणा सच्ची है। इसम शका नही कि पेशेवर हो जाने के कारण ये वैतनिक तार्किक (Sophists) धनदाताओ के अधीन हो गये और सत्य की प्रतिष्ठा खतरे म पड गयी। उन्हे जनता की रुचि का ध्यान रखकर प्रवचन करना लाभप्रद जान पडा जबकि सुविचार या विवेक का प्रसार उनका परम लक्ष्य था। फिर भी कुछ महान तार्किक हुए हैं जिन्हे धनलोलुप कहने का कोई आधार नही मिलता। उनम स प्रोतागोरस एक था जो श्रोताओ स उतना ही लेना उचित मानता था जितना वे देना ठीक समझते थे।

'रिपब्लिक' के मूल प्रश्न का विवरण

प्रथम अध्याय क अ त म प्लेटो, स्वय उसकी आलोचना मे हम परिचित कर देता है। उसन सुकरात का यह मानने की स्थिति म पहुचा दिया है कि एक दृष्टि से इस तर्कविधि का परिणाम शून्य है। स्पष्ट है कि न्याय क्या है—यह प्रश्न हल नही हुआ। और इसी कारण वह आचारनीति या सदाचार है तथा उसमे मनुष्य सुख पाता है—इसे भी हम निश्चित नही कर सकत। अभी तक की चर्चा मे वस्तु की सहवर्ती परिस्थितियो पर ही हमने विचार किया है और स्वय न्याय के बोध म वचित रह है।

जो चर्चा अब तक हो चुकी है उसका निचोड इतना ही है कि इसम कतिपय वस्तुएँ सामने आयी जिन्हे न्याय की सज्ञा नही दी जा सकती। कई प्रकार की प्रमुख कल्पनाएँ जमे—कला विवेक या सुविचार, हित स्थिर हुयी और उनका विश्लेषण किया गया। आगे चलकर सिद्ध हुआ कि थ्रैसीमेकस का मत अपन मूलरूप मे कुछ निश्चित तथ्यो का समाधान नही कर पाता—अर्थात दृढ तथा निपट स्वार्थपरता मनुष्य को जीवन के उचित निवहन का कोई सिद्धान्त उपलब्ध करान म सवथा अक्षम है। किन्तु ग्लोकन और एडीमण्टस की धारणा है कि भले थ्रैसीमेकस को चुप कर दिया गया हो उसके विपक्ष म प्रस्तुत तक विश्वास जनक नही है। वे उसकी विवाद वस्तु को फिर उठाते हैं और अभी तक दिय गये उत्तर स सवथा भिन्न समाधान की माँग करते हैं। ग्लोकन के अनुसार यह सिद्ध करना नाप है कि स्वय न्याय तथा अन्याय मनुष्य के अन्त करण की शक्ति क रूप म किस अभिप्राय की क्षमता रखते हैं। अथवा एडीमेण्टस के शब्दो म अन्याय की अपेक्षा न्याय अधिक हितावह है—इसे तर्कसगत ही सिद्ध करना जरूरी नही है बल्कि इनमे से प्रत्यक के धारक पर इनके प्रभाव का भी

प्रतिष्ठित करना होगा। प्रथम अध्याय के अंतिम खण्ड इसी प्रश्न की ओर संकेत करते हैं।

प्रथम अध्याय के तर्क-शास्त्र और शब्दों के स्थिर तथा सूक्ष्म प्रयोग पर निर्भर व्यतिरेक से आगे बढ़कर द्वितीय अध्याय के मनोवैज्ञानिक एवं स्थूल मानव स्वभाव के विश्लेषण-क्षेत्र में अब हम प्रवेश करेंगे (प्लेटो ऐसी व्यतिरेक अथवा विश्लेषण की प्रेरणा से अपने मनोविज्ञान के आधार पर एक काल्पनिक जनमण्डल का निर्माण करता है।) साथ ही वैयक्तिक अनुभवजन्य वक्तव्य उधार और अधूरे अप्रयुक्त सूत्र एवं निद्राशील वाक्-भट्टों के विरोधाभास से निपटकर अब हम समाज की वाणी और जनमत को परखने चले हैं जो उसके मान्य नेताओं में अथवा सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन के दैनिक विचार विनिमय में व्यक्त होता है। इस अध्याय परिवर्तन का एक और लक्षण है। अभी तक हमारे समक्ष अज्ञान का दम्भ करनेवाले सुकरात की मूर्ति रही है जो सहज ढंग से सब कुछ ध्यानपूर्वक सुनता है प्रश्न करता है और खण्डन करता है। अब हम उस सुकरात से भेंट करेंगे जो नवीन तथा उन्नत आचारनीति के व्याख्याता का प्रतीक है।

साक्षी है कि मानव मस्तिष्क से टकरानेवाली प्राथमिक समस्याओं में यह सप्रश्न निरन्तर बना आ रहा है।

प्रिय वस्तुओं के श्रेणीकरण से ग्लौकन चर्चा शुरू करता है। उसने प्रिय वस्तुओं तथा वांछित फलों के कारण प्रिय होनेवाली वस्तुओं के स्पष्ट भेद पर इस श्रेणीकरण को आधारित किया है। एडीमण्टस के साथ ग्लौकन इस धारणा में एक मत है कि न्याय स्वतः सुखकर है। परन्तु न्याय की मूलवृत्ति के प्रियत्व की प्रतीति करने के लिए वे चाहते हैं कि फल से सर्वथा पृथक रखकर न्याय की व्याख्या की जानी चाहिये। कारण, जब तक आचारनीति को उसके बाहरी अथवा मूर्त परिणामों और उसके हमेशा जुड़नेवाले लाभों से पृथक करके न देखेंगे तब तक हमें यह निश्चित रूप से नहीं मालूम हो सकता कि हम किस वस्तु पर विचार कर रहे हैं। थ्रेसीमेकस के तर्क वितर्क की शैली आचारनीति को व्यवहार के कुछ बाहरी परिणामों में संकुचित कर देती है। ऐसा करते ही आचारनीति के किसी नैतिक भेद की वास्तविकता ही लुप्त हो गयी। ध्येय तो यही रह गया कि सामर्थ्य की अंतिम सीमा तक भौतिक समृद्धि करने में ही लग रहना चाहिये। इसमें सफलता पाना न्याय है और असफल होना अन्याय। तत्त्वतः आचारनीति जैसी कोई वस्तु नहीं है वह एक परम्परा मात्र है। अतएव ग्लौकन जरूरी समझता है कि न्याय तथा अन्याय के भेद को सर्वथा शुद्ध रूप में अंकित करना चाहिये। एक ओर न्याय और दूसरी ओर न्यायजनित वे सम्पूर्ण भौतिक फल रखे जायें जो न्याय से विलग किये जा सकते हों। वह कहता है न्याय को उघाड़ा कर दो। इसके प्रतिपक्ष में उन सभी प्रिय या सुखकर वस्तुओं को जमा करो जिन्हें अक्सर न्याय के साथ जुड़ा हुआ समझा जाता है और जो सचमुच उससे सम्बद्ध नहीं होतीं बल्कि जो वास्तव में अन्यायी होते हुए भी न्यायी समझे जानेवाले के कार्य का परिणाम हुआ करती हैं। तब सप्रमाण समझाइये कि यह शुद्ध सिद्धान्त अपनी सत्यता का स्वयं प्रमाण होने के कारण इसके विपक्ष में प्रस्तुत किसी अन्य वस्तु से अधिक श्रेयस्कर जीवनोद्देश्य है।

उक्त दोनों युवक चाहते हैं कि सुकरात इसी दृष्टिकोण का समर्थन करें। उद्धार की सुविधा के लिए वे स्वयं इस दृष्टि के विरुद्ध कुछ सामग्री सुकरात के सम्मुख रखते हैं यद्यपि ये प्रचलित मत उनके अपने उद्गार नहीं हैं फिर भी इन चलनसार धारणाओं का खण्डन उनके लिए कठिन है।

सबसे पहले ग्लौकन उस मतबिन्दु को प्रकट करता है जो उसे अत्यधिक व्यथित कर रहा है। माना कि आचारनीति सचमुच अच्छी चीज है, लेकिन यदि

वह इसीलिए अच्छी है कि उसके बल पर कुछ भौतिक फल मिलते हैं तो वह सहज श्रेयस या श्रेष्ठ वस्तु नही रह जाती बल्कि बहुत बडी अच्छाई और बहुत बडी बुराई के बीच एक समझौता भर होता है। न्याय के बिना बाहरी लाभ का उपभोग बडी अच्छाई है और अन्याय के प्रतिदण्ड को भोगना बडी बुराई है। ग्लोकन के इस दृष्टिकोण म तीन स्पष्ट विचार्य विषय हैं। प्रथम वह न्याय के आदि-स्रोत का वाद प्रस्तुत करता है। न्याय के जन्म की परिपाटी का वर्णन करके वह उसकी मूलवृत्ति को समझाता है। दूसरा वह मानता है कि मनुष्य न्याय को द्वितीय श्रेणी की श्रेष्ठ वस्तु समझकर उसका अनुसरण करते है और यह भी अपनी यथार्थ इच्छा के विरुद्ध सहज भाव से नही। वह कहता है कि यदि वश चले तो हम सब अन्यायशील होना ठीक समझेंगे। तीसरा उसकी दलील है कि इस प्रसंग म मानवजाति की सामान्य भावना ही युक्तिसंगत है क्योंकि अगर हम ठोस बातो को ठीक तरह समझें तो हम पाते हैं कि जीवन के समूचे लाभ अन्याय के पक्ष म हैं अथवा हो सकते हैं बशर्ते अन्यायी मनुष्य चतुर हो। निष्कर्ष यह है किसी भी दशा मे यही सम्भव है कि आप दो में से एक प्रणाली को स्वीकार करें। एक ओर जीवन की समस्त सुविधाएं और समूचा सत्तावल है तथा दूसरी ओर न्याय का शुद्ध या नग्न सिद्धान्त है। ऐसी स्थिति म क्या आप कह सकते हैं कि इन दोनो तरीको म से न्याय अपेक्षाकृत श्रेयस्कर है? और यदि आप ऐसा ही मानते हैं तो श्रेय शुभ या सत से आप किस अभिप्राय का ग्रहण करते है।

एडीमण्टस दो भिन्न प्रकार की धारणाओ को व्यक्त करता है। पहली धारणा ऊपरी तौर पर ग्लाकन द्वारा वर्णित मत का बिलकुल विपरीत रूप दिखायी देती है परन्तु वास्तव म समान व्यवहारोचित फल की ओर ही उसका ध्यान है। उससे मानो यह ध्वनि आती है— न्यायशील बनो। न्याय इस लोक और परलोक दोनो म श्रेष्ठ फलदाता है।' सार है कि न्यायशील मनुष्य उन्नति करता है। सत्याचरण श्रेष्ठ नीति है—इससे अधिक यह धारणा कुछ नही कहती। यह नही कहा जाता है कि यदि दुराचार करते रहने के साथ उसके कारण मिलने वाले दण्ड से मुक्त बने रहने की व्यवस्था हो सके तो क्या पूछना। ग्लोकन के सोचने के ढंग से यह बात भिन्न दिखायी देती है। लेकिन इसमे और ग्लोकन के दृष्टिकोण म समान भाव यह है कि न्याय अपार बाहरी लाभो की लालसा म घुल जाता है। निष्कर्ष निकला कि न्याय का यशोगान यथार्थत महत्त्वपूर्ण है स्वत न्याय गौण है। इस धारणा का संस्कार शिक्षा प्रणाली और कुटुम्ब जीवन

म बहुत सहज गति से रोपा जाता है। दूसरी धारणा है न्याय स्वत संसार म सर्वश्रेष्ठ है परन्तु अन्याय अपेक्षाकृत अधिक रमणीय है और यदि यथोचित व्यवस्था कर ली जाय, तो उस सन्तापजनक फल का निश्चित उपाय बनाया जा सकता है। इस विषय के मूल तक पहुचने पर लगता है कि देवगण स्वत न्यायप्रिय नहीं हैं बल्कि अन्याय या दुराचार की कमाई से उनको खरीदा जा सकता है। न्याय के उच्छेद के लिए इससे अधिक प्रबल युक्ति और क्या हो सकती है कि इसमें देवचरित्र को भ्रष्ट करने की क्षमता है।

जिस परिच्छेद म य विभिन्न मतवाद पाय जाते हैं वह इसलिए प्रासंगिक महत्त्व रखता है कि धम, राजनीतिक अधिकार और विधि या कानून-विषयक उस समय की प्रचलित सम्मतियाँ उससे प्रकाश मे आ जाती हैं। पहले तो ग्लोकन न्याय की आदिम अवस्था व एतिहासिक उदगम को समझाकर उसके मूलस्रोत-सम्बन्धी विख्यात सिद्धान्त को सामने रखता है। यह सबसे पहला, लिखित रूप म प्राप्त वक्तव्य है जिससे हम एक सिद्धान्त सुलभ हुआ और जिसने तब से संसार मे अपने प्रभाव को फैलाया है। सिद्धान्त है कि नैतिक दायित्व का उदगम सन्धि है (चाहे वह पूण या अश रूप म हो।) इस सिद्धान्त का प्रयोग अत्यन्त विपरीत हितों के लिए किया जा सकता है और किया गया है। सवथा प्रतिकूल स्थितियो को उचित बतलाने के लिए भी इसे काम म लाया गया है। जिस तरह ग्लोकन इसे प्रस्तुत करता है और जिस तरह इसे हम निरूपित करना चाहेंगे, उसका स्वरूप या है वस्तु जगत के स्वभाव म अन्याय करना श्रेष्ठ है, परन्तु अनुभव से मनुष्य न समझ लिया कि अन्याय के व्यापार में दण्डमुक्ति नहीं होती। सबसे बडी बुराई यह है कि प्रतिशोध की सामथ्य के अभाव मे ही अन्याय का सहन करना पडता है। यही कारण है कि मनुष्य ने कानून और संस्थाओ का निर्माण करके इसस समझौता कर लिया जो निकृष्टतम बुराई से उनकी रक्षा करती रहें चाहे उसक अधिक से अधिक लाभ का साधन इन्हे न बनाया जा सक।

यह कल्पना नितान्त अनतिहासिक है कि कोई आदिम सन्धि समाज का आधार है। जिन कतिपय लेखको ने इसका उपयोग किया है वे भी इसे डके की चोट पर मिथ्या कहते हैं परन्तु इसके प्रभाव मे किसी तरह की न्यूनता नहीं आयी। अतीत म कल्पना की पहुंच के सवथा अदभुत उदाहरणो म यह भी एक है जिसने भूतकाल को साकार और ठोस रूप दिया है। स्वणयुग जसी मान्यताओ क अनुरूप ही इसे समझना होगा। स्वणयुग अतीत मे ऐसे आदर्श की कल्पना है जिसे मनुष्य वतमान म भी पाल पोस कर लिये फिरता है। इसकी

वह इसीलिए अच्छी है कि उसके बल पर कुछ भौतिक फल मिलते हैं तो वह महज श्रेयस या श्रेष्ठ वस्तु नहीं रह जाती वल्कि बहुत बडी अच्छाई और बहुत बडी बुराई के बीच एक समझौता भर होना है। न्याय के बिना बाहरी लाभ का उपभोग बडी अच्छाई है और अन्याय के प्रतिदण्ड को भोगना बडी बुराई है। ग्लोकन के इस दृष्टिकोण म तीन स्पष्ट विचार्य विषय हैं। प्रथम वह न्याय के आदि-स्रोत का वाद प्रस्तुत करता है। न्याय के जन्म की परिपाटी का वणन करके वह उसकी मूलवृत्ति को समझाता है। दूसरा वह मानता है कि मनुष्य न्याय को द्वितीय श्रेणी की श्रेष्ठ वस्तु समझकर उसका अनुसरण करते हैं और यह भी अपनी यथाथ इच्छा के विरुद्ध सहज भाव से नहीं। वह कहता है कि यदि वश चले तो हम सब अन्यायशील होना ठीक समझेंगे। तीसरा उसकी दलील है *कि इस प्रसग म मानवजाति की सामान्य भावना ही युक्तिसगत है* क्योंकि अगर हम ठोस बातो को ठीक तरह समझें तो हम पाते हैं कि जीवन के समूचे लाभ अन्याय के पक्ष म है अथवा हो सकते हैं बशर्ते अन्यायी मनुष्य चतुर हो। निष्कप यह है किसी भी दशा म यही सम्भव है कि आप दो मे स एक प्रणाली को स्वीकार करें। एक ओर जीवन की समस्त सुविधाए और समूचा सत्तावल है तथा दूसरी आर न्याय का शुद्ध या नग्न सिद्धान्त है। ऐसी स्थिति म क्या आप कह सकते हैं कि इन दोना तरीको म से न्याय अपेक्षाकृत श्रेयस्कर है ? और यदि आप ऐसा ही मानत है तो श्रेय शुभ या सत मे आप किस अभिप्राय को ग्रहण करत हैं।

एडीमेण्टस दो भिन्न प्रकार की धारणाओ को व्यक्त करता है। पहली धारणा ऊपरी तौर पर ग्लोकन द्वारा वर्णित मत का बिलकुल विपरीत रूप दिखायी देती है परन्तु वास्तव मे समान व्यवहारोचित फल की ओर ही उसका ध्यान है। उससे माना यह ध्वनि आती है— न्यायशील बनो। न्याय इस लोक और परलोक दोनो म श्रेष्ठ फलदाता है।' सार है कि न्यायशील मनुष्य उन्नति करता है। सत्याचरण श्रेष्ठ नीति है—इससे अधिक यह धारणा कुछ नही कहती। यह नही कहा जाता है कि यदि दुराचार करते रहने के साथ उसके कारण मिलने वाले दण्ड से मुक्त बन रहने की व्यवस्था हो सके तो क्या पूछना। ग्लोकन के सोचने के ढग से यह बात भिन्न दिखायी देती है। लेकिन इसम और ग्लोकन के दृष्टिकोण म समान भाव यह है कि न्याय अपार बाहरी लाभो की लालसा म घुल जाता है। निष्कर्ष निकला कि न्याय का यशोगान यथार्थत महत्त्वपूर्ण है स्वत न्याय व्यर्थ है। इस धारणा का सस्कार शिक्षा प्रणाली और कुटुम्ब जीवन

म बहुत सहज गति से रापा जाता है। दूसरी धारणा है न्याय स्वत समार म सवश्रेष्ठ है परन्तु अन्याय अपेक्षाकृत अधिक रमणीय है और यदि यथोचित व्यवस्था कर ली जाये, तो उसे सन्तोषजनक फल का निश्चित उपाय बनाया जा सकता है। इस विषय के मूल तक पहुचने पर लगता है कि देवगण स्वत न्यायप्रिय नहीं हैं बल्कि अन्याय या दुराचार की कमाई से उनको खरीदा जा सकता है। न्याय के उच्छेद के लिए इससे अधिक प्रबल युक्ति और क्या हो सकती है कि इसमें देवचरित्र को भ्रष्ट करने की क्षमता है।

जिस परिच्छेद म ये विभिन्न मतवाद पाये जाते हैं वह इसलिए प्रासगिक महत्व रखता है कि धर्म, राजनीतिक अधिकार और विधि या कानून विषयक उस समय की प्रचलित सम्मतियाँ उससे प्रकाश मे आ जाती हैं। पहले तो ग्लाकन न्याय की आदिम अवस्था के ऐतिहासिक उद्गम को समझाकर उसके मूलस्रोत-सम्बन्धी विख्यात सिद्धान्त को सामने रखता है। यह सबसे पहला निश्चित रूप म प्राप्त वक्तव्य है जिसस हम एक सिद्धान्त सुलभ हुआ और जिसने तब स समार म अपने प्रभाव को फैलाया है। सिद्धान्त है कि नैतिक दायित्व का उद्गम सन्धि है (चाहे वह पूर्ण या अशरूप म हो।) इस सिद्धान्त का प्रयोग अत्यन्त विपरीत हितो के लिए किया जा सकता है और किया गया है। सर्वथा प्रतिकूल स्थितियो को उचित बतलाने के लिए भी इस काम म लाया गया है। जिस तरह ग्लाकन इसे प्रस्तुत करता है और जिस तरह इस हम निरूपित करना चाहेंगे इसका स्वरूप यो है वस्तु जगत् के स्वभाव मे अन्याय करना श्रेष्ठ है, परन्तु अनुभव से मनुष्य न समझ लिया कि अन्याय के व्यापार मे दण्डमुक्ति नहीं होती। सबस बड़ी बुराई यह है कि प्रतिशोध की सामर्थ्य के अभाव म ही अन्याय को सहन करना पडता है। यही कारण है कि मनुष्य ने कानून और सस्थाओ का निर्माण करके इसमे समझौता कर लिया जो निकृष्टतम बुराई म उसकी रक्षा करती रह चाहे उसके अधिक से अधिक लाभ का साधन इन्ह न बनाया जा सके।

यह कल्पना नितान्त अनैतिहासिक है कि कोई आदिम सन्धि समाज का आधार है। जिन कतिपय लेखको ने इसका उपयोग किया है वे भी इसे डके की चोट पर मिथ्या कहते हैं परन्तु इसके प्रभाव म किसी तरह की न्यूनता नहीं आयी। अतीत म कल्पना की पहुच के सर्वथा अद्भुत उदाहरणो म यह भी एक है जिसने भूतकाल को साकार और ठोस रूप दिया है। स्वर्णयुग जैसी मान्यताओ क अनुरूप ही इसे समझना होगा। स्वर्णयुग, अतीत म एक आदर्श का करपना है जिस मनुष्य वर्तमान में भी पाल पोस कर लिये फिरता है। इसकी

तुलना भावी परमसुख-शान्ति की काल सम्बन्धी आस्था से भी की जा सकती है। यथार्थतः यह आस्था इस महत्त्वपूर्ण तथ्य पर टिकी है कि प्रत्येक सभ्य जनमण्डल, वैसे कोई भी साधारण समवाय (जनमण्डल), अपने अस्तित्व के लिए अपने सदस्यों के अधिकारों का मानने की परस्पर स्वीकृति देता है और यही निःशब्द सन्धि है। अनैतिहासिक यह तब हो जाती है जब हम इस तरह कहने लगते हैं जैसे संसार के इतिहास में कभी मनुष्य मात्र एकत्र हुए और उन्होंने चर्चा करके समाज निर्माण का एक समझौता कर लिया। ऐसा कभी हुआ ही नहीं। परन्तु इस कल्पना की युक्ति में कृत्रिम इतिवृत्तात्मक विवरण के पर जो बल है वह वर्तमान के यथार्थ सत्य को प्रकट करता है।

जैसा पहले कह चुके हैं इस कल्पना का उपयोग नितान्त विभिन्न उद्देश्यों से किया गया है। हाब्ज (Hobbes) ने निरंकुश नृपवाद के समर्थन में इसका प्रयोग किया और रूसो (Rousseau) ने जनता की इच्छा के असीम प्राधिकार को इसी के आश्रय से सिद्ध किया। स्पष्ट है कि यह कल्पना कितनी सरलता से परस्पर प्रतिकूल अर्थ में प्रयुक्त हो जाती है। एक तरफ यह कहा जा सकता है कि किसी सभ्य जनमण्डल ने कुछ आदिम अधिकारों की परम्परा निभाने के लिए आपस में यह समझौता किया और इसी सन्धि के निर्वाह पर उस जनमण्डल का अस्तित्व निर्भर है। अतः एक सशक्त शासन अथवा किसी प्रकार के शासन की सभाल आवश्यक हो जाती है और प्रचलित कानून की मर्यादा का अतिक्रमण करने का अवसर किसी वस्तु को नहीं दिया जा सकता। ठीक इसी तरह दूसरी तरफ यह भी कहा जा सकता है कि आज का शासनतन्त्र केवल निःशब्द सन्धि पर स्थित है और जिस जनसमुदाय ने इस सन्धि में सक्रिय सहमति दी है वह उचित समझे तो शासन को भंग करने के लिए सर्वथा स्वतन्त्र है। ग्लोकन जिस तरह इसका प्रयोग करता है उसके अनुसार यह सन्धि-कल्पना क्रान्तिकारी हित के लिए और विनाशक ध्येय से काम में लायी जाती है और इस प्रकार के उपयोग में यह सिद्ध करने की नीयत रहती है कि न्याय समझौता और परिपाटी मात्र है। इसके अतिरिक्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अभिप्राय पर भी ध्यान देना है कि समस्त परिपाटी और इसलिए समग्र विधि या कानून मानव प्रकृति के साथ एक तरह का कृत्रिम बलात्कार है।

इस प्रकार ग्लाकन की तर्कविधि के मूल में स्वभाव और विधि अथवा परिपाटी का जो विलोम है उसका प्लेटो के युग में बहुत प्रचलन था। अन्य बहुतेरे विलोमों के समान जितने मुँह उतने ही अर्थ इस विलोम के भी थे। परस्पर

प्रतिकूल धारणाओं ने उलझाकर इसे निश्चित आशय के लिए असमर्थ बना दिया था और खूबी यह है कि इसीलिए यह बात बराबर प्रभावी बनी रही है। सबसे पहले दर्शन के इतिहास में इसकी चर्चा वहीं मिलती है जहाँ स्थूल प्रकृति के निमित्त इसका प्रयोग किया गया था। डेमोक्रीटस ने पार्थिव संसार की यथार्थ रचना को, मानव की इंद्रियचेतना से सम्बद्ध गौण लक्षणों से पृथक करके समझाया ('उष्ण' और 'शीत', 'मधुर' और 'कटु' इत्यादि) तथा बताया कि इन दोनों में पहला प्रकृति और दूसरा परिपाटी के कारण अस्तित्व पाता है। इस विलोम के विभिन्न उपयोग में साधारणतः हम सुधारवादी और स्वयंभूत तथा मूल सापेक्ष में अंतर्विरोध पाते हैं। जो स्थायी और विश्वजनीन है तथा जो परिस्थितिवश परिवर्तित होता है—इनमें भी विरोध मिलता है। लेकिन प्रकृति या स्वभाव से अधिक सन्देहात्मक कोई शब्द नहीं है। इस सूत्र को मनुष्य-कर्म तथा भावना में लागू करते हुए कुछ सिद्धान्तवादी मानते हैं कि मनुष्य में जो स्वाभाविक समझा जाता है असल में वह शेष पशु-समाज के अत्यधिक अनुरूप गुण-धर्म ही है। इसके बिलकुल विपरीत कुछ विद्वान समझते हैं कि पशु-संसार से जितना भिन्न गुणधर्म मनुष्य में है वही उचित दृष्टि से उसका स्वभाव है। पशु-समानता नहीं बल्कि पशु से भिन्नता, उसकी प्रकृति का लक्षण है।

एक दृष्टि में मनुष्य का प्रत्येक कर्म स्वभावज है—कानून, आचार-नीति, विज्ञान और इसी तरह अन्य क्रिया। उसका समग्र कर्म-व्यापार, उसकी प्रकृति या स्वभाव है। कानून तथा स्वभाव में विलोम का उल्लेख मनुष्य की आंतरिक रचना में प्रतिष्ठित विलोम का संकेत मात्र है। प्रश्न होता है कि जब हम मानवी प्रकृति में अंतर्भुक्त हैं तो किस युक्ति का आधार लेकर हम मनुष्य-स्वभाव से उत्पन्न कुछ वस्तुओं को स्वाभाविक और दूसरी वस्तुओं को परम्परागत कह देते हैं? जिस अर्थ में यहाँ हम विलोम को प्रयुक्त कर रहे हैं उसके अनुसार 'परम्परागत' का आशय होता है—वह सब कुछ जो परस्पर समझौते की नींव पर अस्तित्व पाता है और जिन समझौतों का उपयोग समाज करने के लिए लाचार है। यदि इन्हें परम्परागत कहते हैं तो हम इस सत्य को स्वीकार कर लेते हैं कि अंततः समाज का अस्तित्व परस्पर समझौते या संधि पर टिका हुआ है। राज्य तथा समाज की समस्त संस्थाएँ इसी परस्पर बोध के अनेक रूप हैं। तब मनुष्य द्वारा निर्मित रूप होने के कारण अपनी इच्छानुसार वह उनका त्याग या विसर्जन करे तो क्या आपत्ति की जा सकती है? इसी अर्थ में संधि-कल्पना को समझ लेने ही उसे अनैतिहासिक कहकर ठुकराना हितावह नहीं है। ऐसी

दशा मे इस तथ्य को व्यथ नही कहा जा सकता कि समाज समझौते या सधि पर आधारित है। इसके आग हम पूरी सचाई के साथ कह सकते हैं कि समाज क अस्तित्व म उसके घटक सदस्यो द्वारा अपन व्यक्तित्व का आशिक त्याग करने का निश्चय छिपा हुआ है अथवा व अपने अधिकारो का एक अश समाज का समर्पित करने के लिए तत्पर हैं यदि मनुष्य की क्षमता के अनुकूल कम को हम उसके अधिकारो की सज्ञा देत है। दो व्यक्ति जो काय अलग-अलग रहकर करना चाहेंगे उसक कुछ भाग का समपण किये बिना व एक साथ रहकर काम नही कर सकते क्योकि सयुक्त कम पृथक-पृथक कम क अनुरूप नही हो सकता। पर तु इसम क्या तुक है कि हम इस परस्पर बोध व परिणामो को परम्परागत ही नही बल्कि नाममात्र के लिए परम्परागत करना चाहते हैं और अधिक दृढ प्रमाण पर टिकी किसी स्वभावज वस्तु स उस विपरीत ठहरात हैं ? लेकिन यह स्वभावज वस्तु है क्या ? इस अथ मे मनुष्य स्वभावत कसा होगा ? सीधा उत्तर है कि इस दृष्टि स मनुष्य प्रत्यक वस्तु स रहित होकर कवल स्वत ही रह जायगा जैसा वह परम्परा मे है और तब उसके भीतर जो कुछ है वह उसस भी रहित होगा जबकि समाज के अस्तित्व का अभिप्राय ही मनुष्य के भीतर का सब कुछ है। ऐस स्वाभाविक मनुष्य को कहा स लायें ? परन्तु इसी ढग स हम मनुष्य क विषय म विचार करने का विवक किया जा सकता है।

तो लगता है कि हम चाहे तो कानून और सस्थाओ को एक सही अथ म परम्परायुक्त कह लेवें। लेकिन इसका यह आशय कदापि नही होता कि इस प्रकार कहने के कारण इन्हे स्वभाव के विपरीत भी मान लेना किसी तरह की सचाई है। समाज की सस्थाएँ समझौत या सधि पर आधारित हैं और इसीलिए वे अस्वाभाविक या नाममात्र को परम्परागत हैं—इन दोनो वक्तव्यो म जमीन आसमान का अ तर है। तब भला कम स्वाभाविक और परम्परागत के बीच का विपयय इतना सहज ग्राह्य हो गया और हमारे मन को इसने ऐसी बुरी तरह जकड रखा है ? परम्परागत शब्द का हम रोजमर्रा इस्तमाल कर एक बुरे या अप्रिय आशय का सकेत करना चाहते हैं न ? जब हम किसी सस्था अथवा रिवाज को परम्परागत कह देते हैं तब असल म हमारा मतलब यह होता है कि उसे अब बन रहने का हक नही है क्योकि किसी समय उसकी जो उपयोगिता थी वह आज नही रह गयी है। जब लोग इस विपयय का उल्लेख करते हैं तब उनक मन का आशय उस कानून के उदाहरण स स्पष्ट होगा जिसके प्रचलन की साथकता समाप्त हो चुकी है। क्या परम्परागत है तथा क्या नही है—इस पर लगातार

विचार का सीधा-सा कारण यह है कि लोगों के मन में कानून, रीति अथवा संस्था की जरूरत खत्म होते के ठीक मौके की बिलकुल अलग-अलग कल्पनाएँ हैं।

इस तरह ग्लोकन के मतानुसार न्याय को परम्परायुक्त वस्तु की कोटि में डालकर उसे स्वभाव के विपरीत भले बताया गया हो लेकिन उसमें यह महान् सत्य निहित है कि कानून तथा रीतियाँ परस्पर समझ या समझौते के बिना अस्तित्व में नहीं आ सकती तथापि उसका मत इस परस्पर बोध की महत्ता को भुला देता है। तर्क कहता है कि यह परस्पर बोध मनुष्य का कर्तृत्व ही नहीं है बल्कि समाजजीवी मनुष्य ने इसे विचारपूर्वक अपना सर्वश्रेष्ठ कार्य माना है और यह सुविचारपूर्ण निर्णय किस प्रकार हुआ? यदि यही सच होता कि दण्डमुक्त रहकर अन्याय करते रहना ही मनुष्य का वास्तविक स्वभाव है, तब समाज का निर्माण करनेवाली कोई शक्ति हो नहीं होती। कर्म में प्रेरित करनेवाली कामनाएँ ही प्रबलतम हुआ करती है। इसलिए समाज के अस्तित्व का समुचित आधार समझाना ही असम्भव था यदि मानवी कर्म की स्वाभाविक प्रेरणा का श्रेय अन्याय को दिया जा सकता।

आगे चलकर ग्लाकन दलील रखता है कि सदैव न्याय का पालन सचमुच अनिच्छापूर्वक हुआ करता है। आशय यह है कि निजी या आमतौर पर नैतिकता का अनुसरण केवल बलपूर्वक ही सम्भव है। यहाँ फिर एक वास्तविक और महत्त्वपूर्ण तथ्य को एक सर्वथा मिथ्या मत का आधार मान लिया गया है। समाज का अस्तित्व स्वयं एक बड़ी शक्ति का द्योतक है जो अनेक प्रकार से अपने आपको प्रकट करती है। प्रत्येक जनमण्डल की व्यवस्या अन्ततः पुलिस और सेना की शक्ति पर टिकी रहती है। कुछ लोककण्टक व्यक्ति केवल बल प्रयोग द्वारा ही समाज को क्षति पहुँचाने से रोके जा सकते हैं। कानून की प्रतिष्ठा के लिए मूर्तबल प्रयोग की सम्भावना आवश्यक है। लेकिन इसके माने ही बदल जाते हैं जब हम कहते हैं कि बल प्रयोग और बल प्रयोग के भयमात्र से ही जनमण्डल की नैतिकता कायम रहती है। अगर कहीं जनमण्डल की नैतिकता सचमुच बल प्रयोग और उसके भय पर आश्रित होती तो उसका अस्तित्व सम्भवतः आज तक नहीं रह सकता था। हाँ बल या शक्ति को ऐसे व्यापक अर्थ में प्रयुक्त कीजिये कि उसमें पुलिस और सेना के अतिरिक्त लोकमत सिद्धान्त-बल भावनाएँ विवेकशक्ति आदि का समावेश रहे। सचमुच इन्हें ही प्रेरक शक्तियाँ कहलाने का अधिकार है। इनका प्रभाव भिन्न भिन्न व्यक्तिगत मामलों में बहुत निराले ढंग से कारगर होता है। समान बल अपराधी को

हैं। मत्ताचार मे पृथक करन योग्य किसी निश्चित समृद्धि को सदाचार की एक सहज सहगामी प्रगति माना जा सकता है। मानवी-स्वभाव के भीतर यह धारणा बनी हुई है कि न्याय का सुफल मिलना ही चाहिये और एडीमेण्टम का उक्त कथन इस धारणा का बिगडा स्वरूप है। जन मानस म बहुत ही सहज भाव से यह आग्रह गूंजता रहता है कि सदाचरण का कुछ न कुछ फल मिलना तो चाहिये जीवन इतना विवेक तो रखे, और वह स्वय न्यायशील रूप म प्रतिष्ठित होकर हमारे लिए अनुकरणीय बने। प्राय सभी पुराने साहित्य म और खास तौर पर ओल्ड टेस्टामेण्ट म यह उल्लेख है कि ईश्वर के आशीर्वाद न्यायी मनुष्य को मिलते हैं। इस विचार म ऊचे सदाचरण के प्रति आक्षेप का स्वर नही है। परन्तु बाद म यह सिद्धान्त चल पडा कि सद्गुणी व्यक्ति का जीवन दूसरा की अपेक्षा अधिक सुविधापूर्ण होता है। फिर इस कथन का अर्थ यह होने लगा कि सदाचारी जन को पार्थिव वैभव का अधिकार है और इसीलिये सासारिक सफलता को सदाचरण का मापदण्ड कहा जाने लगा। पुराने समय म इस नीयत से ऐसा कहा जाता था कि न्यायपरायण राज्य म आस्था प्रकट करने का यही सरल उपाय था। लेकिन परवर्त्ती युग म इसे तर्क सम्मतवाद कहन पर यह कटाक्ष किया जाने लगा कि सज्जन सदैव उन्नति नहीं कर पाते। कुछ विरोधी नीयत से जीवन की मामूली बातो को भी इस सिलसिले म उठाया जाता है आजकल सदाचारी को कभी मिटते नहा देखा और न उसकी सन्तान का भीख मागते।

लुच्चा के मनचाहे बच्चे होते है और वे सब कुछ अपने छोकरा को देकर चल बसते है। ये बातें उन नजुर्बों की याद दिलाती हैं जो होते जरूर है और एक अनुभव की याद दूसरे को जगा देती है। इस ढग के कथनो म जो लोग अपनी नैतिक आस्था की पुष्टि ढूंढना चाहते हैं और इसे न पाकर व्यथित हो जाते हैं वे एक स्थिति की सही बात को दूसरी भिन्न दशा म भी उचित मान लेने की भूल कर बैठते हैं। वे शुरुआत ही इस गलत उम्मीद स करते हैं कि सदाचरण में कुछ इष्ट परिणाम हो सकते हैं। अगर यह शिकायत है कि सदाचार के अनुगमन से सुख-सम्पत्ति नही मिलती तो इसका बहुत सीधा जवाब है यदि आपकी मान्यता के अनुरूप सम्पत्ति सुख ही जीवन की मूल प्रेरणा और एक मात्र लक्ष्य है तो इसी म जीवन लगा देना चाहिये यदि ऐसा नही है तब आशा ही क्या करते हो कि सुख सम्पदा के साथ सदाचार का कोई नाता भी रहे?

सदाचार के साथ वाछित फलप्राप्ति की सामान्य कल्पना का विस्तार एडीमण्टस ने भविष्य के जीवन तक किया है। उसके कथनानुसार आज के जीवन

का पुण्यकर्म भविष्य में जीवन की प्रत्याशा को बल देता है जिसमें कुछ रहस्य-मयी शक्तियाँ (एलीमिनियन मिस्ट्रीज) सहायक हुआ करती हैं। उसका तात्पर्य यही है कि सदाचारी जीवन बिताने का उत्साह प्रत्याशा के बल पर ही बना रहता है। एक यह कथन है कि आत्मा अमर है और हमेशा सदाचार का अनुसरण ही उसके लिए हितकारी है—वसे रिपब्लिक' का मूल्य विषय यही है। दूसरा कथन यह है कि कुछ सत्कर्म सिर्फ इसीलिए किये जाना चाहिये ताकि उनके द्वारा हम मनवांछित फल प्राप्त हों। उक्त दोनों कथन एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं।

एडीमैण्टस का दूसरा कथन पहले विचार का स्वाभाविक विरोधी है। इस तरह की चर्चा निजी तौर पर लोग करते ही रहते हैं लेकिन कवि तथा लेखक भी इस विचार को व्यक्त किया करते हैं। न्याय के मार्ग पर चलनेवाले के कष्ट-क्लेश तथा संकटपूर्ण जीवन का काफी वर्णन किया जाता है और देवता दुष्टों की उन्नति करने के लिए तत्पर रहते हैं तथा सज्जन की परवाह तक नहीं करते। कभी कभी कविगण वर्तमान जीवन में न्याय के प्रति देवताओं की उदासीनता का जो वर्णन करते हैं उसे पैगम्बर और दैवी रहस्य के सौदागर पुष्ट किया करते हैं। इनका सच्चा उपदेश है कि प्रार्थना और बलि तथा धर्मदीक्षा सम्बन्धी क्रियाएँ इस जीवन और अगले जीवन को सुखी बनाने के लिए न्यायानुसरण की अपेक्षा दैवी कृपा को अधिक सुलभ बनाती हैं। कवियों की शिकायत और पैगम्बरों के उपदेश भौतिक उन्नति को सदाचार का सहज फल मानने की प्रवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम है अथवा यों कहें कि भौतिक उन्नति जीवन-साफल्य का एक मात्र मापदण्ड है। ग्रीक साहित्य में परमात्मा के अन्याय का विशद विवरण इस प्रकार की धारणा का पोषक है।

एडीमण्टस जिन मिस्ट्रीज' (Mysteries) का हवाला देता है, स्पष्टतः उनके दो प्रकार हैं। पहले यह बताया जाता है कि म्युसट्यस और उसका पुत्र युमोलपस—लोगों का अगले जन्म में नाना प्रकार के दण्ड और पारितोषिक की लालसा का उपदेश देते है। इसका सूत्र उन एल्युसिनियन मिस्ट्रीज' से जुड़ा है जिनकी स्थापना युमोलपस के द्वारा मानी जाती है। एडीमण्टस इनके बारे में सिर्फ इसलिए असन्तुष्ट है कि इन बातों के कारण दण्ड और पारितोषिक के प्रति आस्था बढ़ती है जिससे सदाचार सम्बन्धी सहज महत्त्व के प्रति आस्था निर्बल हो जाती है। आम तौर पर वह राज्य द्वारा संगठित रहस्यमयी प्रणालियों (Mysteries) का नाम तक नहीं लेता। लेकिन निजी पेशेवर बाजीगरों

का उल्लेख करता है जो विशेष स्थानों अथवा शायद विशेष देवताओं से सम्बद्ध ता नहीं थे मगर जो देश भर में चलते फिरते रहकर देवताओं पर जादू और टोने का प्रभाव डालकर उनके पापक्षय कराने में अपने आपको सक्षम बतलाते थे। सामान्यतः यह रहस्यपूर्ण क्रियाएँ पराक्रमी व्यक्तियों के नाम पर होती थीं—ज्यादातर आरफियस के नाम पर। एडीमेण्टस को इनके खिलाफ और भी शिकायत है इन क्रियाओं से यह ख्याल जोर पकड़ता है कि तुच्छ दान अथवा बलि के द्वारा अपराध के कुफल का निवारण किया जा सकता है।

ग्रीक भाषा में इन दोनों धार्मिक विधियों के लिए विशेष नाम हैं। पहले शब्द से गोपनीयता का संकेत मिलता है और उसका उपयोग धर्मदीक्षा प्राप्त लोगों तक ही सीमित था। आरम्भ में धार्मिक विधियों के लाभ से कुछ वर्ग विशेष के लोगों को वंचित रखने की प्रथा थी और केवल रहस्यमय क्रियाएँ ही इस प्रथा के क्षेत्र में नहीं थीं। बीच बीच में बहुतेरे देवता अपनी विशिष्ट रहस्य प्रक्रिया से जुड़कर एक न एक धार्मिक विधि का सूत्रपात कर लेते थे। जो ग्रीक शब्द कभी-कभी दीक्षा संस्कार के समय अर्पित द्रव्य प्रदान के अर्थ में प्रयुक्त होता था काल क्रम से अन्ततः वह धार्मिक पूर्णता अथवा ईश्वर प्राप्ति का द्योतक हो गया। उस भाषा के शब्दों पर इन धार्मिक विधियों की छाप मिलती है और अब *उनके द्वारा 'रहस्य' तथा 'दीक्षा' के भावार्थ में अधिक विस्तार आ गया है।*

अब सामान्य मत यह है कि रहस्य प्रक्रियाओं के सिलसिले में कोई शिक्षण अथवा उपदेश प्रचारित नहीं किया गया था। एल्युसिनियन मिस्ट्रीज धार्मिक स्वांग या लीला का रूप था जिनमें डिमित्र और डायानिसस प्रमुख पात्र हुआ करते थे। इन लीलाओं के द्वारा दो प्रधान कल्पनाएँ व्यक्त होती थीं—एक यह कि पृथ्वी मृतकों की भूमि है और दूसरी कि जीवन की खान है यह धरती। डिमित्र एक प्रतीक था जो अपनी खोई हुई पुत्री परसीफोन को खोज रहा है और परसीफोन की वापसी दूसरा प्रतीक था। जैसा प्रत्येक प्रतीकवाद के साथ होता है इनके प्रयोजन का अर्थ पूजक की मनोदशा पर बहुत कुछ निर्भर करता है। ग्रीक साहित्य में विनकुल स्थूल तथा उत्कर्षशाली दोनों दृष्टिकोणों से ऐल्युसिनियन मिस्ट्रीज का उल्लेख मिलता है। इन रहस्यमयी क्रियाओं में जुड़ी हुई एक उत्कर्षशाली कल्पना यह थी कि ईश्वर में लीन होना ही आत्मा के जीवन का भविष्य है किन्तु इसमें पथभ्रष्ट होने की सम्भावना बनी रहती है। सोफोक्लीज की रचना में इस विचार को व्यक्त पाकर डायाजीनीज ने उत्तेजित होकर प्रश्न किया कि क्या धर्म की दीक्षा पानेवाले चोर का परलोक में वीर पुरुष इपमीननडस की

अपेक्षा अधिक सुख मिलना चाहिए ? आरफिक मिस्ट्रीज में भी स्पष्टतः ऊंचे और हलके दर्जे रखे गये हैं। इन रहस्य प्रक्रियाओं में व्यक्त ऊंचे दर्जे का आशय यह है कि आत्मा का जीवन अविनाशी है और पूर्वावस्था में वह जो पाप या कुकर्म करती है उनका प्रायश्चित वह अस्तित्व की एक स्थिति में कर लेती है।

इस विषय पर काफी बहस होती रही है कि इन रहस्य क्रियाओं के फलस्वरूप अद्वैत ईश्वर में आस्था और पुनर्जीवन में विश्वास की नींव पड़ी। परन्तु अद्वैत ईश्वर में आस्था का निर्माण करने में इन रहस्य क्रियाओं का प्रभाव रहा है—इसे स्वीकार करने का कोई प्रमाण नहीं है। हां दूसरे प्रकार के विश्वास में उनका योग काफी रहा है। दोनों रहस्य क्रियाएँ इसे मानती हैं और गम्भीर तथा विशाल रूप से इसे व्यक्त भी करती हैं। यद्यपि इस सिलसिले में किसी तरह के शिक्षण अथवा उपदेश का आश्रय लिये जाने का आधार नहीं है तथापि निःसन्देह आत्मा के भविष्य जीवन की कल्पना को सुदृढ़ और अधिक उज्ज्वल रूप देने में ग्रीस के आरम्भिक विचारकों की अपेक्षा इन रहस्य क्रियाओं को बहुत सफलता मिली है। बहुधा यह बात ध्यान में आयी है कि इस जीवन के सत्कर्म के बदले मरणोत्तर जीवन में पारितोषिक की आकांक्षा-सम्बन्धी विचार बहुत बाद में सूझा है। लेकिन अशुभकर्म के कारण भविष्य में दण्ड भोगना ही पड़ेगा—यह विचार बहुत पहले से ग्रीक मस्तिष्क में घर कर चुका था। कवि होमर मरणोत्तर जीवन की रंचमात्र चर्चा नहीं करता। बहुत लिहाज किया तो वह इसे एक निषेधात्मक, निष्प्राण अस्तित्व जैसी चीज कहकर छोड़ देता है। जैसे-जैसे मनीषी पुरुष जीवन में सत् और असत् अथवा अच्छाई और बुराई के सम्बन्ध में विचार करने लगे तथा इस विषय में उनके विचार जैसे-जैसे गहराते गये उसी क्रम से इस जीवन अथवा भावी जीवन में अच्छाई और बुराई के प्रभाव का विषय अधिकाधिक चिंतन के योग्य होता गया। असल में इस जीवन के बारे में बढ़ती हुई चिन्तन-शक्ति का विस्तार ही भावी जीवन की कल्पना में सतत रुचि बनकर प्रकट हुआ। एशीलस और पिण्डार कवियों की रचनाओं में पाप के लिए मरणोत्तर दण्ड का उल्लेख मिलता है किन्तु प्राचीन कवियों में पिण्डार ही अकेला है जो मृत्यु के पश्चात् भावी पारितोषिक में दृढ़ विश्वास व्यक्त करता है। समय बीतने पर मृत्यु और भावी जीवन-सम्बन्धी जितने सुखद विचार उत्पन्न हुए वे ऐल्युसिनियन तथा इससे भी अधिक विस्तार से आरफिक रहस्यताओं में प्रकट होते दिखायी पड़ते हैं।

एडीमेण्टस अपने भाषण के अन्त में उस दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है जो ग्लाकन तथा उसके निजी विचारों के सारांश से मिलता जुलता है। इन विचारों

का आधारभूत एक ही विश्वास है कि न्याय अथवा अन्याय अपने ही महत्त्व के कारण ग्रहणीय अथवा त्याज्य नहीं है बल्कि किसी अन्य वस्तु के निमित्त वाछ नीय है। आगे चलकर वह बड़ी खूबी के साथ उस सकट का बखान करता है जिसका सामना ग्लाकन और स्वय उसे करना पड़ता है। वे जानते हैं कि समग्र लोकमत इस विश्वास के पक्ष म डटा हुआ है इतना ही नहीं इसी बात का हल्ला सबसे ज्यादा सुन पडता है कि चतुराई और ठीक ढग के दाँवपेंच स हम अनाचार कर सकते है फिर भी न्यायजनित भौतिक लाभ की पात्रता ज्यों की त्यों बनी रह सकती है। देवताओं की बात मत करो—क्योंकि वे हैं कहाँ? और यदि हैं भी तो उनके बारे म केवल कवियों स ही जानकारी मिलती है और इन कवियों न बताया है कि देवताओं को आसानी म भ्रष्ट किया जा सकता है। इस पुजीभूत अदम्य लोकमत के विपरीत कौन ऐसा मनुष्य है जो अनाचार की लालसा म बचा रहेगा—जब तक वह दौर्बल्य और साहसहीनता स ग्रस्त न हो? उसकी रक्षा के केवल दो उपाय हैं किसी देवी कृपा या स्फूर्ति के द्वारा उसम अनाचार स सहज घृणा हो जाय अथवा अनाचार के चालू अर्थ म किसी तरह छुटकारा पाकर उसके स्वाभाविक अभिप्राय को ग्रहण करन म समर्थ हो जाय।

इस जटिलता का मूल यह है कि आज तक न्याय तथा अन्याय के यथार्थ शुभ और अशुभ की समुचित व्याख्या किसी ने नहीं की—चाहे उसका किसी न अनुभव किया हो या न किया हो। इसी का विवेचन करन के लिए अब सुकरात की पुकार होती है। फिलहाल उन परिणामों का विचार त्याग देना चाहिये जो न्याय और अन्याय स उत्पन्न होकर दूसरों के मन पर प्रतिफलित होते हैं।

यहीं रिपब्लिक के प्राक्कथन भाग की समाप्ति हो जाती है और उसके रचनात्मक अश का आरम्भ होता है।

□ □

समाज तथा मानवी प्रकृति के प्रधान तत्वों का निदर्शन

सुकरात को इस समस्या का समाधान करना है, और यह प्रश्न लगातार उसके समक्ष दुहराया जाता है कि मनुष्य की आत्मा पर या या कहिये उसके अन्तर्जीवन पर—न्याय अथवा अन्याय का क्या प्रभाव पड़ता है विशेषत उसके अन्तर्जगत पर। जब ही सुकरात उत्तर देने लगता है तो एकाएक प्रश्न के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं दिखाया रहता। वह अकस्मात ही समाज के मूल रूप की चर्चा आरम्भ करने लगता है। इसी विषयान्तर प्रवेश के अभिप्राय का ग्रहण लेने पर ही 'रिपब्लिक' के समूचे तर्क विधान के सिद्धान्त का बोध निर्भर है।

अपने उत्तर के विचारक्रम को स्पष्ट करने के लिए सुकरात कहता है कि प्रत्येक मनुष्य के आन्तरिक जीवन पर न्याय के प्रभाव को बताना अत्यन्त कठिन है। सबसे बढ़िया तरीका यही है कि उसकी आत्मा के विश्लेषण से आरम्भ न करके राज्य तथा समाज के विस्तृत घेरे में मानव प्रकृति का दर्शन किया जाय जहाँ वह बड़े पैमाने पर बकौल सुकरात बड़े मोटे अक्षरों में देखने को मिलती है। मानव प्रकृति के बहिरंग का परीक्षण बहुत सरल है इसलिए उसे पहले परख कर बाद में उसके अन्तरंग स्वरूप को समझने का यत्न करना ठीक है—वहाँ भी, इन मोटे अक्षरों को उसके मन पर देखा जा सकता है। दूसरे शब्दों में सुकरात का विचारक्रम यह है कि सभी को स्पष्ट दीखनेवाले मानव प्रकृति के तथ्य पहले परख लिये जायें। फिर इन्हीं तथ्यों के महत्त्व का परीक्षण करते-करते वह मानव प्रकृति के उस गूढ़ सिद्धान्त को उजागर करना चाहता है जिसकी अभिव्यक्ति इन तथ्यों के रूप में होती है। 'रिपब्लिक' का समूचा प्रयास सचमुच मानव-स्वभाव का मनोवैज्ञानिक भाष्य करना है। इसके विचारक्रम का आधार

तत्त्व यह है कि समाज की समस्त संस्थाएँ, वग संगठन कानून धम कला तथा इसी तरह के अन्य साधन अन्तर मानवात्मा की उपज है जो एक अन्तरस्थ सिद्धान्त के रूप म सक्रिय रहकर अपने आप नाना बाह्यरूपों म प्रकट हुआ करते हैं।

कभी कभी यह कहकर प्लेटो के दृष्टिकोण का वणन किया जाता है कि वह व्यक्ति और राज्य की समानता को मानकर चलता है व्यक्तिगत जीवन मानो राज्य के जीवन का प्रतिबिम्ब या प्रतिरूप है। इस उसका समुचित वणन नहीं कहा जा सकता। उसकी प्रतिज्ञा यह है कि राज्य जिन मनुष्यों से बना हुआ है उनका जीवन ही राज्य का जीवन है जो इस ढग से प्रकट रूप म मिलता है कि बहुत सरलता से उसका अवलोकन किया जा सकता है। आगे चलकर जब वह न्याय अथवा राज्य के साहस की बात करता है तब उसका अभिप्राय नागरिकों के उस न्याय या साहस से है जो उनके सावजनिक दायित्व निर्वाह म प्रकट होता है। यो कहिये कि राज्य वास्तव म उसके घटक मनुष्य समूह का न्याय है। इसका यह मतलब नहीं है कि राज्य का न्याय उसके निवासी व्यक्ति के निजी जीवन के न्याय का बिलकुल प्रतिरूप होता है। सीधा अथ यह है कि यदि न्याय जैसी कोई वस्तु है तो चाहे जिस ढग से और चाहे जहाँ वह प्रकाशित हो उसका मूल प्रकृति जैसी की तैसी रहती है फिर वह सावजनिक सम्बन्धों म या व्यक्तिगत जीवन म अभिव्यक्त क्यों न हो। ठीक है कि व्यक्ति के सदगुणों से राज्य के गुण अधिक विस्तृत होते हैं। सेना की वीरता से ही राष्ट्र वीर्यवान बनता है और एक व्यक्ति की अपेक्षा सेना बहुत बड़ी तथा विशिष्ट वस्तु तो है। परन्तु सेना के रूप म जब राज्य का पराक्रम व्यक्त होता है जो एक जनसमूह का सावजनिक कममात्र है तब यह उसी सिद्धान्त का प्रकट रूप है जिसकी प्रेरणा से मनुष्यगण निजी जीवन या दूसरे सभी व्यवहार सम्बन्धों म वीरता का प्रमाण देते हैं। प्लेटो के समूचे तकक्रम की एक ही बात ध्यान म रखनी पड़ेगी कि राज्य की सत्ता उसम निवास करनेवाले व्यक्तियों स्त्री पुरुषों के समुच्चय के अतिरिक्त अथशून्य है।

अब प्लेटो की विचार पद्धति के दूसरे रूप का अवलोकन किया जाय। समाज के उद्गम और विकास पर दृष्टि डालनी चाहिये। समाज के उदगम वाक्यों से पहले, तो यह ध्वनि निकलती है कि उसकी सर्वथा आदिम अवस्था का पता इतिहास के ढग से लगाना है। लेकिन इसम प्लेटो की रुचि नहीं है। इसलिए इस विचार को छोड़ देना चाहिये। उदाहरणाथ एथेंस कैसे इतना समृद्ध बन गया—एसे एतिहासिक शोध म उसकी रत्तीमात्र भी रुचि नहीं है, तो उसके

चिंतन का विषय यह है समाज के मौजूदा स्वरूप को मान लेने पर उसके अस्तित्व से किन किन परिस्थितियों का बोध होता है? मानव स्वभाव में कौन सा तत्व है जो समाज के अस्तित्व का हेतु है? प्रश्न यह नहीं है कि समाज किन अवस्थाओं से गुजरकर विकसित हुआ है, बल्कि यह है कि वह अस्तित्व में क्योंकर आज तक बना हुआ है। यद्यपि प्लेटो बताता नहीं है तथापि आगे चलकर उसकी विचारधारा विकास की ऐतिहासिक क्रमबद्धता के बजाय तर्क व्यवस्था का अनुगमन करती चलती है। यों समझिये कि समाज के वर्तमान स्वरूप को मोटे तौर पर ग्रहण करने के बाद वह उसकी बिलकुल बुनियादी दशा पर सोचना शुरू करता है अर्थात वह समाज की उस अवस्था में अपना चिंतन आरम्भ करता है जब वह कुछ पार्थिव जरूरतों की पूर्ति करने का संगठनमात्र था। इस समाज को निम्नतम मनोवैज्ञानिक आधार कहा जा सकता है क्योंकि यदि मनुष्य की जरूरतें केवल यही होतीं तो वह अपने यथार्थ स्वरूप का एक विलग खण्डमात्र होकर रह जाता। यहीं से बात की शुरुआत करके प्लेटो पूछता है यदि मनुष्य को इन्हीं जरूरतों का जीव मान लिया जाय तो समाज को जन्म देनेवाला उसमें कौन-सा गुण है? इसी सिलसिले में वह मानव स्वभाव के उन्नत गुणों की चर्चा जोड़ता चलता है। इस ढंग से वह समाज का ऐसा चित्र अंकित करता है जो अपनी प्रधान रूपरेखा को पूरी तरह प्रस्तुत कर सके। सामाजिक विकास की हर अवस्था का वर्णन करते समय वह जानना चाहता है कि क्या उस विशेष अवस्था में कोई ऐसा सिद्धान्त दिखायी देता है, जो समाज के सदाचारी जीवन का नियामक हो? इस तर्कविधि के पहले खण्ड का अन्त होते-होते मानव जीवन के निर्माण में सहायक मुख्य तत्वों का स्वरूप हमारे समक्ष आ जाता है। इन्हीं को ध्यान में रखकर हम इनके विकास तथा निरूपण पर विचार करेंगे।

इस पद्धति का ठीक ठीक समर्थन के लिए हम आधुनिक जीवन में इसी के समान उदाहरण लेना चाहिये। इंग्लैण्ड की विद्यमान व्यवस्था को ध्यान में रखकर अगर कोई समाजविद कहे कि इंग्लैण्ड का जीवन इष्ट वस्तुओं की सतत पूर्ति के बिना टिक नहीं सकता तो उसका आशय है कि औद्योगिक प्रबन्ध के भरोसे पर वहाँ का जीवन निर्भर है, तब यह प्रश्न सहज ही उठता है कि क्या इस औद्योगिक प्रबन्ध के भीतर अच्छाई और बुराई उचित तथा अनुचित के विवेक का सिद्धान्त कहीं दिखायी देता? परन्तु प्लेटो की परख का ढंग हम उलझन में डाल देता है। अपने प्रश्न को दुर्ज्ञेय बनाने के बजाय उसे वह सहज रूप में रखता है। ऐसे समाज की कल्पना कीजिये जिसमें सभी मनुष्य

नितान्त उपयोगी वस्तुओं व धन्धों में ही जुटे रहते हैं। ऐसा लगता है कि वास्तव में वह समाज के ऐतिहासिक उद्गम का विवरण देना चाहता है लेकिन इसी की यह खूबी है कि उसका शब्द चित्र सहज ही आक्षेपकारक बन जाता है। उदाहरणार्थ मकान बनानेवाले राज और जूता बनानेवाले चमार को आदिम समाज का अंग कैसे माना जा सकता है? ठीक है कि प्लेटो के शब्द चित्र की सामग्री उसे अपने युग के अनुभवों में मिली है—समाज के उद्गम की यह रूपरेखा इस दृष्टि से युक्तिसंगत कही जा सकती है कि उसके अस्तित्व तथा भरण-पोषण के लिए आवश्यक व्यवस्था को वह सुस्पष्ट कर देती है। साथ ही उन विभिन्न आवश्यकताओं को एक सुबोध क्रम से देखने पर उनकी पूर्ति के उत्तम उपाय भी सुगम हो जाते हैं।

सबसे पहले प्लेटो समाज की प्रारम्भिक परिस्थितियों का संक्षिप्त ब्योरा देता है जो जीवन की इष्ट वस्तुओं के उत्पादन के निमित्त बनी हैं। केवल आवश्यक इच्छाओं की पूर्ति करते रहना ही उस राज्य का एकमात्र कर्त्तव्य है। इनसे भिन्न अनावश्यक बुभुक्षाएं वे हैं जिनको मामूली जरूरतों के अतिरिक्त, सन्तुष्ट करना भोग परायण राज्य का ध्येय होता है। इस रूपरेखा में 'रिपब्लिक' के मौलिक सिद्धान्त सुस्पष्ट दिखायी देते हैं जो अधिक निखर रूप में आगे निरन्तर आते रहते हैं। मानव समाज का जन्मदाता सामान्य तत्त्व क्या है? विविध रूपवती इच्छा ही वह तत्त्व है। समाज द्विविध सत्यता पर टिका है एक यह कि मनुष्य स्वयं पूर्ण नहीं है दूसरा सहायक तथ्य है कि अन्य मनुष्य उसकी आवश्यकता मानते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपने लिए अपूर्ण भले ही हो परन्तु उसमें ऐसी सामर्थ्य रहती है कि वह दूसरों के अभाव की पूर्ति कर सकता है। इसे हम परस्परता का सिद्धान्त कह सकते हैं। व्यक्ति की विवशता इस सत्य का साथ देती है कि वह अन्यान्य व्यक्तियों की विवशताओं का अनुपूरक है। रिपब्लिक में शुरू से आखिर तक इसी सामान्य विचार का अनुसरण किया गया है। इसी सिद्धान्त पर आधारित होकर समाज की समूची उन्नति एक विशाल व्यवस्था के रूप में प्रकट होती है जो विविध मानवी इच्छाओं को तोष देने के हेतु स्थित है।

ऊपरी तौर से देखने में उक्त परिच्छेद राजनीतिक अर्थव्यवस्था का निबन्ध जान पड़ता है लेकिन जो सिद्धान्त हमारे सम्मुख आर्थिक रूप में प्रस्तुत है वह प्लेटो की दृष्टि से अर्थकरी सिद्धान्त नहीं है। जिसे अर्थशास्त्री श्रम विभाजन का सिद्धान्त कहते हैं उसे प्लेटो नैतिक सिद्धान्त मानता है तथापि इस सम्बन्ध में उसने जो पहला दृष्टान्त दिया है वह उत्पादक श्रम के क्षेत्र से लिया गया है।

उसका प्रश्न है कि किन किन परिस्थितियों में उत्पादन अत्यधिक सफल होगा? उत्पादन तभी विशाल, सरलतम और श्रेष्ठ होगा जब उत्पादक एक विशेष कार्य में स्वयं संलग्न रहेगा अपनी सम्पूर्ण क्षमता के बराबर स्वतः अपना काम करेगा तथा श्रमफल का उपभोग अपने साथ दूसरों को भी करने देगा। प्रकृति ने इस सिद्धान्त का स्पष्ट संकेत किया है प्रकृति ने दो मनुष्यों को बिलकुल ठीक समान नहीं बनाया। व्यक्तित्व की यथार्थता मनुष्य-समुदाय को जनमण्डल के रूप में बाँधती है। प्रत्येक जन दूसरों को चाहता है और उन्हें अपना कुछ अंश देने में सक्षम है।

यही सिद्धान्त औद्योगिक समाज की क्रमिक उन्नति में उत्पादक कर्त्तव्यों की विशेषज्ञता के सहारे सफल होता है। फलस्वरूप पशुपालन उद्योग, कृषि उद्योग तथा विभिन्न यान्त्रिक उद्योग उत्पादकों के विशिष्ट वर्गों द्वारा संचालित हुआ करते हैं। फुटकर व्यापार और मुद्रा का चलन इसी मूल कारण से जुड़े हुए दिखायी देते हैं। इनके साथ साथ निर्यात तथा आयात व्यवसाय द्वारा राज्य दूसरे राज्यों से सम्पर्क बनाकर इसी सिद्धान्त को व्यवहार का मूलरूप देता है। औद्योगिक जन मण्डल का निर्माण करनेवाले यही प्रधान अवयव हैं, अथवा इस जनमण्डल को जीवन की इष्ट वस्तुएँ उत्पन्न करनेवाला एक संगठन माना जा सकता है। सुकरात प्रश्न करता है कि इस सारे प्रबन्ध में न्याय कहाँ है? एडीमेण्टस का उत्तर है कि शायद इन लोगों की आवश्यकताओं के परस्पर योग में न्याय निहित हो।

परन्तु इस तरह सुझाये गये उत्तर का स्वरूप तब स्पष्ट होता है जब हम समाज की व्यवस्था के विस्तृत विवेचन से अवगत हो जाते हैं। न्याय का उल्लेख होते ही प्रश्न उठता है कि अभी जिस जनमण्डल की चर्चा हुई है, उसकी जीवन शैली क्या होगी—जब वह अपनी मामूली इच्छाओं को सहज और स्वस्थ ढंग से पूर्ति करने में डूबा रहता है। जनजीवन के उस स्वरूप को सुकरात पशु-सहज सरलता का नाम देता है। ग्लौकन की निगाह में ऐसा जीवन शहर के सुअर की जिन्दगी से बहतर नहीं है। मानव जीवन इस प्रारम्भिक दशा में सिमटकर नहीं रह सकता जिसमें केवल स्थूल इच्छाओं की पूर्तिमात्र करना है चाहे इस जीवन क्रम को सरलता का आदर्श ही क्यों न कहा जाय। कारण यह है कि आदर्श सरलता का यह जीवन प्रगति से वंचित रहेगा क्योंकि मानव जीवन के सुपरिचित स्वरूप की रचना जिन तत्वों से होती है उनके बहुत बड़े भाग से वह रीत जाता है वह सभ्यता से अछूता बना रहता है।

यही कारण है कि भोगपरायण राज्य के वर्णन में वह सभ्यता के तत्त्वों की संक्षिप्त रूपरेखा देने में लग जाता है। समाज-जीवन में सुसंस्कार, भोगविलास तथा जीवन के पार्थिव साधनों की उन्नति का वर्णन वह करता है। इस विकास के अन्य उपकरण जैसे—ललित कलाएं, सज्जा-कला तथा कविता के अभ्युदय का परिचय भी वह देता है। इसी में स्वास्थ्य सम्बन्धी परिस्थितियों की जटिलता और फलस्वरूप औषधि के विस्तार को भी वह जोड़ता है। मानवी स्वभाव के इस विस्तार में जरूरी इच्छाओं के साथ नयी इच्छाएँ जुड़ती चलती हैं जो मनुष्य के श्रेष्ठतम विकास में सक्षम हुआ करती है। किन्तु इन्हीं के साथ-साथ वे सभी प्रकार की उच्छृंखलता तथा दुष्कर्म को भी जन्म देती हैं। आगे हम देखेंगे कि इन सबके अतिरिक्त भी मानवी स्वभाव के नये तत्त्व विचारणीय हैं। शुरू-शुरू में जिस राज्य का वर्णन किया गया है उसमें कार्यशील वह तत्त्व दिखायी देता है जिसे प्लेटो बुभुक्षा के नाम से पुकारता है जो केवल पार्थिव इच्छाओं की पूर्ति में लिप्त रहती है। अधिक विकसित राज्य में इससे भिन्न तत्त्व हमें मिलेगा जिसको प्लेटो भावना तत्त्व और दार्शनिक तत्त्व के नाम देता है। मानवी स्वभाव के यही दो गुण समय बीतने पर उस सभ्यता की उन्नति के कारण जान पड़ते हैं जिसका रेखाचित्र यहाँ दिया गया है। मनुष्यों में ये दोनों तत्त्व किस प्रकार सक्रिय होते हैं इसे प्लेटो यथाक्रम हमारे समक्ष रखेगा।

हमें बताया गया है कि पार्थिव सुख के विकास का दूसरा पक्ष है—युद्ध का उद्भव। बिलकुल जरूरी वस्तुओं के परे मानवी आकांक्षाओं का विस्तार होते ही आक्रमण की इच्छा का जन्म होता है। किन्तु युद्ध के आरम्भिक रूप आक्रमण की बात उठाकर प्लेटो तुरन्त सुरक्षा की चर्चा करने लगता है जो युद्ध के प्रयोजन को सार्थक बनाती है। फिर वह राज्य की सैन्य व्यवस्था के लक्ष्य पर विचार करने में तत्पर हो जाता है। बाहरी आक्रमण से राज्य को सुरक्षित रखना और आन्तरिक शान्ति में सहायक होना ही सेना का प्रयोजन है। प्लेटो किसी भी प्रसंग में यह नहीं मानता कि विजय प्राप्त करना राज्य के गठन का सच्चा ध्येय हो सकता है। राज्य में सैन्यबल की आवश्यकता की ओर हमारा ध्यान दिला कर वह समाज के जीवन का निर्माण करनेवाले स्वाभाविक तत्त्वों को प्रस्तुत करता है लेकिन उनमें निहित सत और असत के भेद का उल्लेख उसने नहीं किया।

स्पष्ट है कि जनमण्डल की सुरक्षा एक प्रकार का महत्त्वपूर्ण सामाजिक कार्य है जिसमें कार्यगत विशिष्टता का सिद्धान्त और भी अधिक कठोरता से

लागू होता है। जैसा हम पहले समझ चुके हैं यदि कुछ खास काम के लिए लोगों का स्वभाव विशेष ढंग का बनाया जा सकता है और यदि वस्तु उत्पादन के उद्देश्य से ठीक काम के लिए ठीक आदमी जरूरी है तो राज्य की शान्ति रक्षा की महती क्रिया के हेतु अधिक विशेषज्ञता तो चाहिये ही। इसके फलस्वरूप सुकरात राज्य के संगठन की प्रक्रिया में सम्बद्ध सबसे पहले सवाल को उठाता है। राज्य के सच्चे प्रहरी बनने के लिए किस प्रकार के स्वभाव का व्यक्ति जरूरी है? उनकी आन्तरिक रचना में जुझारू की योग्यता। जीवट सम्पन्न स्वभाव योद्धा के सहज गुण होना चाहिये, केवल आक्रामक वृत्ति ही नहीं बल्कि वह क्षमता जो प्रतिरोध को स्फूर्ति देती है। वह एक प्रकार का अजेय गुण है जिसके बल पर मनुष्य सब बातों में निर्भीक और पराजय के परे हुआ करता है। परन्तु साथ ही इन प्रहरियों में एक अनुपूरक तत्त्व भी प्रचुर मात्रा में होना चाहिये। यदि सिर्फ रण मद में डूबे लोगों की कल्पना की जाय तो ऐसे व्यक्ति एक दूसरे की हत्या को ही कर्त्तव्य समझने लगेंगे। ऐसे लोगों का समाज, भला कब तक चलेगा? तो इन पहरेदारों में अपने प्रति आकर्षण उत्पन्न करने का तत्त्व होना चाहिये, विकर्षण नहीं। प्लेटो इसी को दार्शनिक तत्त्व की संज्ञा देता है। बहुत हल्की श्रेणी के प्राणी भी जानी मानी वस्तु की ओर सहज ही आकर्षित हुआ करते हैं। मनुष्य के भीतर सहज रूप में रहनेवाला यही गुण दार्शनिक तत्त्व है। मनुष्य की प्रवृत्ति में यही एक चीज है जिसके कारण वह जिसे अपना सगा या समकक्ष मानता है उसकी ओर खिंचता जाता है। इस आकर्षण की परिधि में मानव-समूह मित्र, सम्बन्धी या सहयोगी अथवा मनुष्य के अतिरिक्त प्रकृति के सुन्दर पदार्थ, कला, विज्ञान अथवा दर्शन या सत्य सभी का समावेश है। मानव प्रेम और मानवी विवेक में सम्बर्धित अपनी दृष्टि को प्लेटो कभी नहीं त्यागता। उसके अनुसार मनुष्य अपनी दर्शन बुद्धि से प्रेरित होकर उसी की ओर आकर्षित होता है जिसे वह मानता है जैसे कुत्ता, जाने माने लोगों की तरफ सहज भाव से आत्मीयता का अनुभव करता है। भावात्मक दृष्टि से स्नेह का आधार पहचान है। कुत्ते में दार्शनिक तत्त्व का पता इसलिए लगा कि वह अपने जाने हुए व्यक्तियों को पसन्द करता है। *उस परिच्छेद का वास्तविक अभिप्राय हम पुस्तक के शेष भाग* को पढ़ते समय ही स्पष्ट होगा। प्लेटो के साथ बहुधा यही होता है कि आगे वह जो कुछ बहुत सुबोध ढंग से समझाना चाहता है उसकी भूमिका वह पहले दे दिया करता है। तीसरे अध्याय में वह सौन्दर्य प्रेम की चर्चा करता है जिसे वह दृश्यमान जगत में व्याप्त आत्मा के स्वरूप का बोध मानता है। आत्मा सुन्दर

वस्तु को सजातीय मानकर उसका स्वागत करती है। चौथे अध्याय में ज्ञान तथा सत्य की कामना को वह संसार में व्याप्त शक्ति से आत्मा के एक रूप हो जाने की इच्छा का प्रतीक मानता है। इन दो परिच्छेदों की अधिक चर्चा न करके जो कुछ दोनों में समान और प्रस्तुत परिच्छेद के उपयुक्त है प्लेटो के अनुसार आत्मा का वह दार्शनिक तत्त्व इस आशय में निहित है कि वह अपने से पृथक वस्तु के प्रति आकर्षित होता है किन्तु वह पृथक वस्तु भी सजातीय है।

मानव स्वभाव के उक्त दो तत्त्वों का उल्लेख जिस ढंग से किया गया है उससे यह आभास मिलता है कि प्लेटो विरल व्यक्तियों में प्रदर्शित होने वाले मानव प्रकृति के विशिष्ट रूप का वर्णन करना चाहता है। परन्तु जब हम इस अध्ययन की दिशा में बढ़ेंगे तब हम विदित होगा कि वह सचमुच सामान्य मानव प्रकृति की बात कर रहा है। उसकी धारणा है कि प्रत्येक मनुष्य के अन्तरंग में बुभुक्षा तत्त्व आत्मशक्ति तत्त्व तथा दार्शनिक तत्त्व—तीनों का सारभूत अंश हुआ करता है।

इस प्रकार समाज के प्रमुख तत्त्वों का परिचय मिल जाता है जिनके अभाव में मानव जीवन जैसा है वैसा टिक नहीं सकता। पशु सहज इच्छाओं की पूर्ति के बिना आत्मरक्षा की सामर्थ्य के बिना तथा परस्पर आकर्षण के सक्रिय सूत्र के बिना समाज गतिशील नहीं रह सकता। समाज की इन्हीं आवश्यकताओं के बोध से मानव स्वभाव में निहित दो उन्नत तत्त्वों का अनुमान यहाँ प्रस्तुत किया गया है। इस प्रक्रिया को उल्टे ढंग से भी यों रखा जा सकता है कि मानव स्वभाव में इन तत्त्वों की स्थिति के फलस्वरूप समाज के मूलभूत लक्षण प्रकट होते हैं।

□ □

शासकों के प्रारम्भिक जीवन की शिक्षा

१ विषय प्रवेश

समाज को मूलरूप देने में प्रथम मानव-स्वभाव के प्रमुख तत्त्वों की जो धारणा प्लेटो व्यक्त करता है, उसका आंशिक परिचय देकर तुरन्त वह उस स्वभाव के पोषण तथा शिक्षा की चर्चा करने लगता है। वह अपना ध्यान राज्य के एक सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण कर्तव्य, सुरक्षा पर लगा देता है। उसका कथन है कि जिन मनुष्यों को यह कर्तव्य सौंपा गया है उनके स्वभाव में इन उन्नत तत्त्वों का सशक्त विकास निश्चित रूप से हुआ है। तब दूसरा प्रश्न यह है कि इस प्रकार के चरित्र का निर्माण किस ढंग से करना चाहिए? इसी के समाधान की दृष्टि से वह ऐसी शिक्षा-पद्धति पर विचार करता है जो राज्य के सर्वोपरि कर्तव्यों के निर्वाह में पूर्णतः अनुकूल हो। स्वभाव और पोषण से ही मनुष्य चरित्र का निर्माण होता है। ये दोनों परस्पर पूरक हैं वांछित स्वभाव का निर्माण नहीं किया जा सकता परन्तु पोषण के द्वारा स्वभाव के अलावा सब कुछ निर्मित करना सम्भव है। समुचित पोषण के अभाव में उत्तम स्वभाव के समानरूप से अच्छे और बुरे बन जाने की सम्भावना है। प्लेटो की शिक्षा-सम्बन्धी सामान्य धारणा सप्तम अध्याय में दृढ़तया व्यक्त की गयी है। उसका लक्ष्य आत्मा के नेत्र को प्रकाशोन्मुख करना है। इसका अभिप्राय यह है कि शिक्षा का ध्येय आत्मा को ज्ञान प्रदान करना नहीं है वरन जो श्रेष्ठ गुण उसमें प्रच्छन्न रूप से विद्यमान हैं उन्हें प्रकाशित करना है और यह शिक्षण क्रिया सम्यक वस्तुओं के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने से सफल होती है। इस शिक्षा सिद्धान्त को किस प्रणाली से कार्यान्वित किया जाय? प्रथमतः आत्मा के आस पास उन वस्तुओं का परिवेश रहना चाहिए जो सुविचार तथा सच्चरित्र के अपेक्षित विकास की आधारभूमि बन सकें। प्लेटो की पद्धति

शास्त्रा के प्रशिक्षण का लक्ष्य यही है कि आत्मा सत्य के प्रति आसक्त बन । दोना शिक्षा प्रणालिया का अन्तिम लक्ष्य यही है कि आत्मा के सम्मुख विभिन्न रूपा म शिवतत्त्व प्रस्तुत किया जाय । स्पष्ट है कि सुन्दर एक विशेष रूप म शिव ही है और इसी तरह सत्य भी शिव का रूपान्तर है । छठव अध्याय म शिव का उस परमज्योति का स्रोत कहा गया है जो जगत् की प्रत्यक शिव वस्तु प्रत्यक सुन्दर वस्तु तथा प्रत्यक सत्य वस्तु म प्रतिबिम्बित है । अत शिक्षा यदि अपना चरम ध्यय प्राप्त करना चाहती है तो इसी व्यापक बोधशक्ति म वह निहित है । मनुष्य क ज्ञान की परमोपलब्धि चतुर्दिक दृश्यमान जगत् म व्याप्त विवेक तथा दवीबुद्धि की भरसक प्रतीति करना है । इस तरह प्रारम्भिक अवस्थाआ मे लगातार शिक्षा एक ऐसी पद्धति है जा आत्मा की सहायिका बनकर उस समग्र वविध्य म शिव तत्त्व का दशन करन की कुशलता दती है ।

अब यह स्पष्ट है कि प्रारम्भिक शिक्षा का लक्ष्य आत्मा को विविध कल्पनात्मक रूपा म शिवतत्त्व का बोध कराना है जिस बाद मे तकसम्मत रूपा म जानने का अवसर मिलगा । किन रूपा म और किस क्रम से यह सम्भव होगा ? शिक्षा का आरम्भ किससे होता है ? धम इसका आरम्भ बिन्दु है आशय है कि सबसे पहले आत्मा म शिवतत्त्व का परिचय एक एसी सत्ता के रूप म कराया जाता है जो पूणत शुभ और सत है । इस सत्ता के सम्बन्ध म अध्यापन करने का अभीष्ट यह है कि आत्मा यथासम्भव परमश्वर क अनुरूप हो सके । अतएव ईश्वर की यथाथ सत्ता का निश्चय करना महत्त्व रखता है और बालका के मन म उसके स्वरूप को सरल म सरल तथा सुबोधतम ढग स अकित करने की जरूरत है । तदनुसार प्लेटो की शिक्षा पद्धति पौराणिक कथाओ से आरम्भ होता है जिनसे परमात्मा के स्वभाव म निहित शिव तथा सत्य का परिचय मिल सके । भल य कथाए काव्यात्मक शली म हा किन्तु इनका ध्यय वही वस्तु है जिसे कालान्तर म तकविषयक अध्ययन के रूप म आत्मा के सम्मुख प्रस्तुत किया जायगा । आरम्भिक अवस्था म बच्चा क मन पर देवताआ के बिलकुल सच्चे और शुभ चरित्र को अकित करना चाहिय । इसके बाद वीर गुणा का परिचय देकर मनुष्य-स्वभाव के उत्तम तथा पवित्रतम आचरण रूपा का प्रस्तुत किया जाय । शिक्षा का यह क्रमिक प्रभाव आगे चलकर सौन्दय म विवेक की पहचान कराने म सक्षम हो । यह सौन्दयबोध सगीत क स्वर-ताल अथवा शिल्पकला के रूपविधान पर आश्रित हो सकता है । सुसस्कार का प्रयाजन यही है कि उसके द्वारा आत्मा साथक ढग म दृश्यमान जगत का मम जानने के योग्य बन । शिक्षा का ध्यय सफल हो गया

यदि उसके कारण कला, स्वभाव और जीवन की परिमिति में भ्रमित सदैव असीम विविध रूप, आत्मा को सत् का दर्शन और प्रतीति की अन्तर्दृष्टि दे सकें।

शिक्षा के सारे विवेचन और सृष्टि की समूची चर्चा में प्लेटो जहाँ सुविचार का प्रतिपादन करता है उसके साथ तत्कालीन संस्थाओं की समीक्षा में नहीं चूकता। यह समीक्षा धारा के समान ऐसी अबाधगति से चलती है कि चर्चा का शुभ पक्ष सहज ही विस्मृत हो सकता है। विरोध उसके विचारों को सीमित कर देता है। ग्रीकजन, होमर, हेसिअड और दूसरे लेखकों की रचनाएँ जिस अन्धश्रद्धा से पढ़ते थे और जिस तरह उनमें व्यक्त उदात्त भाव के प्रति अचेत रहते थे उसके कारण वह स्वभावतः उन महान् लेखकों की कटु आलोचना उनके ग्रन्थों से आरम्भ कर देता था। मानो कि उसकी आलोचना हमें पाण्डित्य प्रदर्शन लग सकती है। इसका कारण सीधा है। ग्रीक भाषा के कवियों से जितना प्लेटो परिचित था उतने हम नहीं हो सकते और ग्रीक जाति उन्हें जिस आदरभाव से ग्रहण करती थी, उतना हमारे लिये सम्भव नहीं है। प्लेटो जानता है कि इन्हीं काव्य रचनाओं से तरुण ग्रीकजन के मस्तिष्क का पोषण मिलता था। वह अच्छी तरह समझता है कि काव्य का निरूपण करते समय वह उसमें कुछ जोड़ने के बजाय उसका कुछ कम ही करता है। स्वदोष स्वीकार के बहाने वह कहता है कि यह सम्वाद कविता लिखने के हेतु नहीं है बल्कि राज्य की स्थापना करना इसका लक्ष्य है। अतः वह उन सामान्य सिद्धान्तों को स्थिर करना चाहता है जिनका अनुशीलन कवियों को करना चाहिये। इसीलिए स्वाभाविक है कि उसकी आलोचना में केवल निषेध की ध्वनि अधिक जान पड़ती है।

प्लेटो आरम्भिक शिक्षा का जिस तरह प्रतिपादन करता है उसके अनुसार वह दो (सुसंस्कार तथा पराक्रम) स्पष्ट खण्डों में बँट जाती है। सामान्यजन की दृष्टि में इस विभाजन के अभिप्राय को प्लेटो पहले लेता है जिसके अनुसार प्रथम खण्ड में आत्मा का प्रशिक्षण और दूसरे में शरीर का प्रशिक्षण रखा जा सकता है। परन्तु इसे वह कुछ देर बाद संशोधित करके समझाता है कि आत्मा के विभिन्न मूल गुणों के प्रयोग से भिन्न भिन्न उपायों द्वारा दोनों प्रशिक्षणों का प्रभाव आत्मा पर ही पड़ता है। सुसंस्कार खण्ड में वह पहले साहित्य, फिर संगीत और अन्त में शिल्प-कला का विवेचन करता है। साहित्य के विवेचन को वह विषय-वस्तु और विधा में बाँट देता है। यहाँ भी विभाजन के आधार की सार्थकता का हमें उचित परिचय नहीं मिलता। जिसे साहित्य की विधा या शैली कहना चाहिये, उसके वर्णन में प्लेटो की रुचि नहीं है। सर्वप्रधान समस्या है आत्मा को क्या

मिलाया जाय ? चूंकि साहित्य की कतिपय विधाए आत्मा पर विशेष प्रकार का सस्कार अकित करन म उपयोगी हो सकती हैं इसीलिए साहित्य विधा का विवेचन करने म वह प्रवत्त होता है।

जहाँ तक विषयवस्तु का सम्बन्ध है दार्शनिक साहित्य का मुख्य विषय दवी स्वभाव को देवताओ की कथाओ के माध्यम स प्रस्तुत करना है। इसके बाद प्लटो वीर पुरुषो और स तो की कहानियो म अद्भुत्वी प्रकृति का चित्रण आवश्यक मानता है। इस विषय क विभाजन क साथ-साथ नीति सिद्धान्तो के अनुसार दूसरा विभाजन भी होता है जिसकी शिक्षा इसी साहित्य के प्रयोग से दी जानी चाहिए। प्लेटो जिन गुणो की कल्पना करता है उन्ह मनुष्य चरित्र की आधार भूमि माना जाय। दो मौलिक गुणो स शिक्षा का आरम्भ होता है जिनके अनुसार बच्चो का लालन पालन होना चाहिए। व गुण हैं माता पिता क प्रति श्रद्धा और बधुत्व की भावना। इसक बाद तीसर अध्याय क शुरू म बच्चे क लिए आवश्यक गुणो की चर्चा क स्थान पर विकसित मनुष्य क दो मान्य प्रधान गुणो की विवेचना की गयी है। वे गुण है साहस और आत्मसयम। प्लटो इनम तीसरा गुण सत्य जोड दता है।

२ साहित्य मे वर्णित कल्पित कथाएँ और धारणाए

सुसस्कार व विषय की आरम्भिक चर्चा करत हुए प्लटो विस्मयकारी मत प्रस्तुत करता है कि शिक्षा का आरम्भ मिथ्या वस्तु स होना चाहिए। वह मिथ्या को दो अर्थो मे प्रयुक्त करता है। समस्त साहित्य और सम्पूर्ण दन्तकथाएँ एक दृष्टि स मिथ्या है यदि व वस्तु या घटना क यथार्थ प्रतीक नही होत है। इस अर्थ म पुराणवृत्त निश्चित रूप स मिथ्या है क्योकि पुराण म ईश्वर का मनुष्य क रूप म जसी लीला करते हुए चित्रित किया गया है वास्तव म ईश्वर वसा कभी नही कर सकता था। प्लटो कहता ही है कि पुराण-कथाए मिथ्या हैं। उसक जमाने म यह प्रथा थी कि पुराण कथाओ को तर्कसगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता था। प्लेटो न जानबूझ कर एसा नही किया। फ्याडस म इस प्रकार की प्रथा को वह अनुपयोगी या निरर्थक कहकर अग्राह्य कर दता है। किन्तु प्लेटो के अतिरिक्त किसी दूसरे लेखक ने पुराण-कथाओ का कभी ऐसा प्रभावशाली उपयोग नही किया है और वह जानता था कि किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने ऐसा किया। टिमेइयस म वह बतलाता है कि जगत के निर्माण की निश्चित सत्यता का विवरण देना उसके लिए सम्भव नही है। फिर भी वह

उसका एक शब्द चित्र देगा और ऐसी पुराण कथा प्रस्तुत करेगा जिससे सृष्टि की सत्यता का आभास मिलेगा। लेकिन जब वह देवताओं के स्वभाव की उत्साह पूर्वक चर्चा करना चाहता है तब वह पुराण-कथा की भाषा को त्यागकर दर्शन की भाषा में बोलने लगता है। वह ईश्वर अथवा देवताओं के विषय में अवतार वादी भाषा को पुराण-कथा की भाषा मानता है।

किन्तु मिथ्या शब्द का एक दूसरा अर्थ भी है जिसके अनुसार सभी पुराण कथाएँ मिथ्या नहीं हैं। इस अर्थ में जो मिथ्या है वह हितकारी या अहित कारी हो सकता है। जब सत्य सत्य की कल्पना को अपने भीतर रखकर उसका प्रतीक बनती है, तब वह इस अर्थ में शुभ हो जाती है। उन पुराण-कथाओं को भी इस अर्थ में हितकारी कहना चाहिए जिनमें देवी चरित्र के कार्य कलाप का वर्णन हमारी जानकारी के विपरीत असम्भव-सा है किन्तु जिनके द्वारा दैवी स्वभाव का यथासम्भव वास्तविक चित्रण किया गया है। जिस पुराण-कथा में ईश्वर के दुष्कमकर्ता का स्वरूप अंकित हुआ है, वह उपरोक्त दोनों अर्थों में मिथ्या होगी। इसीलिए प्लेटो यह जानते हुए भी कि पुराण-कथाओं की शैली असत्य है, उनका उपयोग करने में वह आगापीछा नहीं करना चाहता क्योंकि उनके द्वारा सत्य की सारभूत कल्पना व्यक्त हुई है।

इसी दृष्टि से प्लेटो ईश्वर विषयक कथाओं के निमित्त कुछ सिद्धान्त स्थिर करता है, जिनके अनुसार कथा को सत्य अथवा मिथ्या माना जा सके। जिन पुराण-कथाओं में देवता माता पिता के प्रति अपने कर्त्तव्य पालन से विमुख दिखाये गये हैं, प्लेटो उन्हें अनैतिक कथाएँ कहकर त्याज्य मानता है। इन सिद्धान्तों को अन्य नियम-पद्धति कहा जाना चाहिए और प्राय हर ग्रीक लेखक के चिन्तन में इसे स्थान मिला है। पहला नियम यह है कि ईश्वर शिव है और केवल वही शिव का कारण है। दूसरा यह कि ईश्वर सत्य है और परिवर्तन या छल करने में अक्षम है। जनता में प्रचलित धर्म की कतिपय मिथ्या कल्पनाओं पर इन्हीं दो नियमों से प्रहार किया गया है।

(क) जब प्लेटो ईश्वर के शिवत्व की बात करता है तब उसके मूल में उपकार या दया करने की भावना है। हम नैतिक हित अथवा हितकर और क्रियाशील हित अथवा हितकारी में भेद करते हैं। प्लेटो की दृष्टि में ऐसा कोई भेद नहीं है। इसलिए जिन कथाओं में ईश्वर मनुष्यों के अहित का कारण बताया गया है अथवा उन्हें संकट में डालता है उन्हें प्लेटो त्याज्य मानता है। एक ऐसा

ही परिच्छेद में हम इक्कीस के अध्याय में मिल सकता है जिसमें वह इस लोकोक्ति को थोथा बतलाता है—'बाप नीम खाय बच्चा का मुह कडुवा हो जाय'। ऐसी प्रचलित धारणा के विरुद्ध प्लेटो सहज तर्कसंगत अनुमान को दृढतापूर्वक यों रखता है कि यदि ईश्वर सत या शिव है तो वह असत अथवा अशिव का कारण नहीं हो सकता है। अपनी रचना टिमेइयस में उसने कहा है कि ईश्वर ने संसार बनाया क्योंकि वह शिव या सत है और इसीलिए उसकी इच्छा है कि उसके अनुरूप ही सब कुछ हो जहाँ तक ऐसी अनुरूपता सम्भव है उसे यथाशक्य शिव होना चाहिये। इस प्रकार प्लेटो सृष्टि के मूल-सम्बन्धी पुराण प्रश्न को अपने सम्मुख पाता है। वह मानता है कि मानव-जीवन में अशुभ वस्तुओं की संख्या शुभ से बहुत अधिक है लेकिन यह अशुभ या अशिव कहाँ से आता है? इस प्रश्न का बहुत सहज समाधान उसने इस तरह किया है कि *मनुष्य की विपत्तियाँ ईश्वर की बनायी हुई नहीं हैं अथवा उन्हें अशुभ नहीं* कहना चाहिये क्योंकि मनुष्य के चरित्र शोधन की दृष्टि से विपत्ति एक प्रकार का दण्डमात्र है। फिर यह कहना असंगत है कि मनुष्य के दुःख का कारण ईश्वर है और तब मनुष्य को दुःखी मानना भी गलत है क्योंकि जब मनुष्य दण्ड के योग्य होता है तभी उसे दण्ड मिलता है। आशय यह हुआ कि इस सही निगाह से देखने पर दुःख या विपत्ति के अर्थ में अशुभ सचमुच अशुभ नहीं रह जाता।

दूसरे सम्वादों में अनेक ढंग से इस पर चर्चा की गयी है। कई परिच्छेदों में *बताया गया है कि अशुभ या दुःख मानव जीवन और उसकी कल्पना के संसार* का किसी न किसी रूप में आवश्यक मूल पदार्थ या उपादान है। भौतिक एवं नैतिक जगत् में यह समानरूप से लागू है। केवल दैवी प्रकृति में अशुभ का सर्वथा अभाव है। इस आवश्यक तत्त्व को अपने जीवन में हम किस प्रकार अंगीकार करें? प्लेटो लाज़ (Laws) नामक ग्रन्थ में इस तरह उत्तर देता है हम केवल अपने अज्ञानवश ही किसी वस्तु को अहितकर या अशुभ मानते हैं। यदि हम अपनी दृष्टि के समीपवर्ती अल्पांश के बजाय समग्र वस्तु का बोध प्राप्त करें तो प्रत्येक वस्तु को शिव या शुभ की ओर सचेष्ट देखने में हम समर्थ होंगे। जितना सब विद्यमान है उसे जानना ही ज्ञान का परम लक्ष्य है और जगत में मनुष्य को जिसके देखने का यत्न करना है वह सब रिपब्लिक के शिवत्व की कल्पना में अंतर्निहित है। विश्व के बोध का आशय है—उसमें विराजमान शिव का दर्शन करना। विश्व में शिव के दर्शन करने का अर्थ है—वस्तुओं के मूलगत तर्क की पहचान। कोई भी मनुष्य इस परमस्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता किन्तु

मनुष्य का अपूर्ण ज्ञान इसी आदर्श के सहारे पूर्णता की अभिलाषा कर सकता है। इस विषय में प्लेटो की दो प्रमुख धारणाएँ हैं। वह मानता है कि मनुष्य यथासम्भव जिस दृश्यमान जगत की अनुभूति करता है, वह तात्विक दृष्टि से अपूर्ण है और उसमें अशुभ विद्यमान है। इस विश्व में एक ऐसा तत्त्व है जो ईश्वरेच्छा अथवा विवेक-क्रम का विरोध करता है। परन्तु इसी दृढता में उसकी यह मान्यता भी है कि वस्तुजगत-सम्बन्धी हमारा ज्ञान जितना बढता जायगा उसी अनुपात में हमें बोध होगा कि अशिव का एक कारण है और इसी में उसे सचमुच अशिव नहीं कहा जा सकता। इन दोनों को वह मूलभूत प्राकृतिक तथ्य जैसा निरूपित करता है। किसी भी प्रसंग में उसने इन दो तथ्यों का सामंजस्य दिखाने का प्रयत्न नहीं किया। यह कहना कठिन है कि शिव सिद्धान्त के समानान्तर प्लेटो अशिव सिद्धान्त की कल्पना करता है या नहीं करता। उसके लेखन में ईश्वरीय विवेक के उपकारमूलक कार्य का विचार ही अपेक्षाकृत अधिक प्रधान है।

(ख) दूसरा ईश्वर सत्ता का सिद्धान्त है। प्लेटो इसके दो अर्थ करता है प्रथम ईश्वर अव्यय है, द्वितीय ईश्वर छल नहीं कर सकता

(अ) व्यय अथवा विकार प्लेटो के अनुसार दो प्रकार का होता है बाहरी माध्यमों के फलस्वरूप विकार या परिवर्तन तथा विकारी व्यक्ति की कामना के कारण अन्तरस्थ परिवर्तन। तब पहले यह प्रश्न उठता है कि क्या बाह्य माध्यमों के प्रभाव से ईश्वर में विकास होने की कल्पना करना सम्भव है? ग्रीक दर्शन के एक लक्षणात्मक विचार का प्रयोग करके प्लेटो इस प्रश्न का उत्तर देता है जिसे यों कहेंगे कि बाह्य-परिस्थितियों से प्रतिफलित विकार या परिवर्तन अन्तर्जात अथवा स्वभावज दुर्गुण या अशक्ति का लक्षण है। जीव-जन्तु मानवात्मा, कलाकृतियाँ आदि के उदाहरण देकर इसी सिद्धान्त से वह उनकी जाँच करता है कि वस्तु मूलत जिस अनुपात में सत् अथवा शिव होगी, उसी मात्रा में बाह्य प्रभाव उसे विकृत कर सकते हैं। अत परमश्रेष्ठ वस्तु होने के कारण ईश्वर में विकास प्राय असम्भव है। सहजभाव से बाहरी प्रभाव के वशीभूत होना भी हमें अपनी हीनता का सूचक मानना चाहिये। मनुष्य जितना अधिक बलिष्ठ होगा, उस पर जलवायु भोजन और इसी तरह की अन्य वस्तुओं का उतना ही कम प्रभाव पड़ेगा। किसी जन्मजात नैतिक शक्ति का कोई प्रमाण नहीं है जिसके

आश्रय म रहकर मनुष्य बिना प्रभावित हुए अगणित परिवर्तना या विकारा को झेलन म समथ हो। इस धारणा म तितिक्षावान् या मूलतत्त्व बीज रूप मे मिलता है शक्ति अथवा सद्वृत्ति किसी प्रकार की कल्पनाय परिस्थितिया म भी अविकारी या अच्युत बने रहने की सामथ्य स स्वय प्रकट होती है। ईश्वर स्वय विकारी हो सकता है या नहा—इस प्रश्न का समाधान ईश्वरीय पूणता की कल्पना म निहित है। स्वेच्छानुसार आत्म विकार का एकमात्र प्रयोजन बुभुक्षा ही है जो ईश्वर के म दभ म निष्क्रिय है क्योकि वह आप्तपूण और निस्पृह है।

अतएव ईश्वर प्रकृति शाश्वत और नित्य है। इस नियम का प्रधान लक्ष्य ग्रीष देवताआ सम्बन्धी अनेकरूपता के विरुद्ध है। इसी का ध्यान रखकर प्लेटो बच्चा को आतकित करनेवाली भूत प्रेत कथाआ क ढग की कहानिया को वज्य मानता है। उसके मत म यह सब ईश्वर का अपमान है। आधुनिक यूराप के जनप्रिय घम और अधश्रद्धाआ की उपशाखाआ म आज भी बहुदववादी पुराण कथाआ का यही प्रकार प्रचलित है जिसकी चर्चा वह कर रहा है। प्लेटो अपने युग की साधारण बोली के अनुकूल नि सकोच ईश्वर क आकार तथा रूप का उल्लख करता है और ईश्वर एव देवताआ की बात अलिप्त होकर उठाता है। मूलत वह अद्वत सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है और ईश्वर के रूपधारण की कल्पना बहिष्कृत कर देता है क्योकि रूप क साथ निश्चय ही विकारशीलता जुडी हुई है। परन्तु जब वह शिक्षा की चर्चा करने लगता है तब जनता के घम की बोली का उपयोग करन म नही झिझकता और धार्मिक भावनाआ को बालका क चित्त पर सुबोध ढग से अकित करन की सिफारिश करता है। वह फेयाड्रस म इसी आशय स कहता है कि हम ईश्वर के देहधारी रूप का विचार भले ही करलें परन्तु यह कल्पना हमारे चिन्तन की अपूणता का फल है और ईश्वर के विषय म हमारी मनगढ त गल्पमात्र है।

अगला सवाल यह है कि क्या ईश्वर छल कर सकता है ? यद्यपि देवगण विकृत नही होते तथापि अभी जो चर्चा हुई है उसके सिलसिले मे यह आक्षेप तो किया ही जा सकता है कि वे हमे भ्रम म डाल सकते हैं और हम उकसाते हैं कि हम उन्हे भ्रम उत्पन्न करनेवाला मानें। किसी तरह के वास्तविक परिवत्तन या विकार के बिना भी वे हम नाना प्रकार के रूपा मे मूत होते दिखायी दे सकते हैं। इसी ढग के कारण हम छलना की

सामान्य प्रक्रिया पर विचार करना चाहेंगे। प्लेटो इस प्रसंग मे मिथ्या प्रभाव उत्पन्न करनेवाली सभी विधियों को शामिल करता है किन्तु सबसे पहले वह एक विचित्र अर्थ में मिथ्यात्व का वर्णन करता है जिसको समझ लेने के बाद कोई प्राणी देवता अथवा मनुष्य कभी चुपचाप स्वीकार नहीं कर सकता। छलना या छद्म का अभिप्राय भ्रम में डालने के इरादे से मिथ्या भाषण करना तो है ही साथ में यह मतलब भी हो जाता है कि वह स्वयं छलदशा में है अथवा भ्रांतिग्रस्त है। इसे प्लेटो आत्मगत छल कहता है जिसे हम चाहें तो आत्मवंचना कह लें। उसका कथन है कि इसे देवगण और मनुष्य समान भाव से घृणित मानते हैं। एकाएक देखते ही अविद्या या अज्ञान की चर्चा करने का यही ढंग बहुत जोरदार लगता है। इसको सबसे अच्छी तरह समझने के लिए इन 'सोफिस्ट' (Sophist) नामक रचना में अविद्या या अज्ञान विषयक परिच्छेद से इसकी तुलना करके देख लें। उसमें प्लेटो कहता है कि मानसिक अशुभ के दो रूप हैं दुराचार जिसकी तुलना दैहिक रोग से करता है तथा अविद्या जिसका मिलान उसने देहगत विरूपता से किया है। उसके अनुसार अविद्या का अभिप्राय यह है कि आत्मा की सहज-वृत्ति सत्य की ओर होते हुए भी वह लक्ष्यच्युत हो जाती है जैसे कोई मनुष्य अपने अवयवों का संचालन इच्छानुकूल नहीं कर पाता। इस अंग विरूपता को वह साम्याभाव या सन्तुलन अभाव नाम भी देता है। 'रिपब्लिक' के छठे अध्याय में इस अंग विरूपता की विपरीत दशा को प्लेटो आत्मा की साम्यावस्था कहता है। उसके विचार में आत्मा की अनुपातयुक्त अथवा अनुपातरहित होने की दशा के अनुसार ही वह सत्य की प्रतीति करने में दक्ष या अक्षम होती है जिस तरह हाथ वस्तु ग्रहणता का अनुकूल क्षमता रखता है या नहीं। हम अविद्या से सिर्फ सूचना का अभावमात्र समझते हैं लेकिन प्लेटो के आशय में सूचना अज्ञान का अल्पांश भर है। किन्तु इस आशय की अपेक्षा प्लेटो की दृष्टि में इसका उन्मूलनवाची अर्थ कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है समार की यथातथ्यता से समरस न होना ही अविद्या है। इस बात को प्लेटो जिस शैली और भाषा में व्यक्त करता है उसकी तुलना कारलाइल के ढंग से की जा सकती है जो वस्तु-तथ्य को पहचानने की असमर्थता का निरंतर उल्लेख करता है। थेसालोनियन्स को सम्बोधित द्वितीय एपिसल के वाक्यांश से भी इसका मिलान किया जा सकता है ईश्वर प्रवचनाएँ भेजकर उन्हें छलना में विश्वास करने को

बाध्य करेगा। मानव चरित्र के एक गुण के नाते सत्य से प्लेटो का अभिप्राय है—सत्य स्थिति, जो संसार की व्यवस्था अथवा उसके तथ्यों का उचित समाधान करे। उसके विपरीत अधिक गूढ़ अर्थ में अविद्या ऐसी वस्तु है जिससे प्रत्येक घृणा करता है। सीधी बात है कि अगर किसी से पूछें—क्या आप असत्य या छल में विश्वास करना चाहते हैं? तो वह चकित होकर उसे ठुकरा देगा। इसे विक्षिप्तता या पागलपन का एक प्रकार समझिये क्योंकि पागलपन भी असत्य या छल में विश्वास करने की उग्र तथा स्थायी मनोदशा है।

असत्य या छल के इस पहलू का उल्लेखमात्र करके उसे यहीं छोड़ देना है। हमारे मन में मोहजाल की सृष्टि करनेवाले ईश्वर की कल्पना असम्भव है क्योंकि तब वह स्वयं मोहग्रस्त हो जाता है। फिर क्या उसकी ऐसी कल्पना की जा सकती है कि वह असत्य भाषण कर अथवा भ्रमोत्पादक परिस्थिति हमारे समक्ष रखे? पहले हम यह समझ लें कि ऐसी कौन सी परिस्थितियाँ हैं जिनमें असत्य घृणास्पद नहीं है। कुछ मामले हैं जिनमें औषधि के समान असत्य या छल का लाभप्रद उपयोग हो सकता है जैसे पागलों से काम पड़ जाय तो? इससे मिलता-जुलता युद्ध का प्रसंग है जिस समय असत्य या छल को उचित मान लिया जाता है। वैसे प्रत्येक उपचार के समान अपने आप यह पाप या अशुभ है परन्तु इन मामलों में वह दोनों में से कम अशुभ है। कभी कभी अज्ञान के नाम पर भी इसे उचित मान लिया जाता है। जब हम समग्र सत्य से अनभिज्ञ रहते हैं तब यह जानते हुए भी कि हमारा वक्तव्य आंशिक रूप से मिथ्या है उसे यथाशक्ति सत्य के निकटवर्ती अर्थ में रखने का यत्न करते हैं। किन्तु इनमें से एक भी प्रयोजन हम ईश्वर में आरोपित नहीं कर सकते। ईश्वर अजातशत्रु होने के कारण अभय है विक्षिप्त मनुष्य से व्यवहार करने जैसी कोई संकटापन्न स्थिति का उसे अवसर ही नहीं और वह सर्वज्ञ है। निष्कर्ष यह हुआ कि ईश्वर वचन और कर्म से ऋजु तथा सत है वह सदा अविकारी है कभी छल नहीं करता। (वाचिक असत्य को इस प्रसंग में आत्मा के स्नेह का एक नकल कहा गया है, वह अगले जन्म की कल्पित छवि है।) इस कथन में यह ध्वनि जान पड़ती है कि जो मनुष्य झूठ या असत्य बोलता है उसकी आत्मा में असत्य पहले से ही है और वह स्वयं इस वचना की चपेट में है। लेकिन इससे केवल इतना ही अर्थ निकलता है कि वाचिक असत्य

पूर्वकाल में कल्पित मिथ्या विचार की अभिव्यक्ति है असत्य भाषी में उसका मिथ्यात्व अज्ञात नहीं है।

उक्त परिच्छेद पाठकों को कभी-कभी इसलिए झमेले में डाल देता है कि जान बूझकर असत्य भाषण को प्लेटो उतना बुरा नहीं समझता जितना अज्ञानी बने रहना। परन्तु इन दोनों के बीच तुलना में वह नैतिक अपराध का प्रश्न नहीं उठाता। प्लेटो सहज ढंग से कहता है कि स्वभावतः प्रत्येक व्यक्ति प्रवचना की स्थिति से घृणा करता है। उसके कथन का अभिप्राय यह है कि किसी महत्त्वपूर्ण सत्य के विषय में नितान्त प्रवचना ग्रस्त बने रहने की अपेक्षा बहुतेरे लोगों का वश चले तो वे असत्य बोलना शायद पसन्द करेंगे। मगर इन दोनों स्थितियों के नैतिक मूल्यांकन का प्रश्न वह अछूता छोड देता है। जो कुछ वह दूसरों को ठगने की नैतिकता के विषय में कहता है उसे प्रयोजन तथा प्राप्तव्य ध्येय का प्रश्न बताकर रह जाता है। तब असत्य क्षम्य मानना चाहिए जब उससे सुलभ होनेवाला इष्ट उसके द्वारा घटित हानि से अपेक्षाकृत बड़ा हो और अन्य किसी उपाय से वह प्राप्त नहीं किया जा सके। इस सिद्धान्त के अनुसार आगे चलकर प्लेटो जनता में ऐसे विश्वास को बनाये रखना उचित ठहराता है जिसे शासक असत्य मानते हैं। इसका समर्थन करते हुए वह कहता है कि ऐसा विश्वास अधिकांश जनों में देशप्रेम को दृढ़ करता है क्योंकि उसके यथार्थ कारण को समझने की बुद्धि उनमें नहीं होती। ऐसे परिच्छेदों में स्पष्ट हो जाता है कि कम से कम एक दिशा में जहाँ हम असत्य के कथनमात्र से बहुत बड़े खतरे का आभास होता है वहाँ प्लेटो को ऐसा कुछ नहीं लगता। तथापि जहाँ-जहाँ वह असत्य को उचित ठहराने लगता है वहाँ उसे एक समझौता, मानवी दुर्बलता के प्रति एक रियायत के रूप में देखता है। आशय है कि एक पाप या दुर्गुण है जिसे निपटाने में आप किसी दूसरे ढंग से बरतने की शक्ति नहीं रखते। इस विषय में लोगों का मतभेद सचमुच तब होता है जब यह सवाल उठता है कि जो सच नहीं है उसे व्यक्त करने की जरूरत किस प्रसंग में शुरू होती है? मनुष्य जितना महान् होगा उसे असत्यता की उतनी ही कम आवश्यकता मालूम पड़ती है। कठिन परिस्थितियों में सत्यभाषण की सम्भावना ही शक्तिशाली चरित्र की कठोरतम परीक्षा के दूसरे साधनों में से एक है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सत्यभाषण ग्रीक जाति का राष्ट्रीय सद्गुण नहीं था। अगले परिच्छेद में इस विषय में प्लेटो का कथन दृढ़ और कठोर हो गया है, तथापि यहाँ वह केवल सत्य की मानसिक दशा पर ही बल देता है सत्य

भाषण पर उसका आग्रह अपेक्षाकृत कम ही है। सत्य की कल्पना को मनोदशा के रूप में लेने तथा सत्यप्रियता के बीच सम्बन्ध सूत्र उस गुण विशेष में मिलता है जिसे अरस्तू 'सत्' या 'ऋजु' का नाम देता है। सच बोलने की परिपाटी से इसका सरोकार नहीं है। हम जो कुछ कहें वह हमारे अन्तःकरण की सत्यता का स्वर हो जो हम प्रकट रूप में दिखाना चाहते हैं वही भीतर भी हो और जो भीतर है वही प्रत्यक्ष भी दीखे। सत्य का यह स्वरूप ग्रीक जाति को बहुत भाया था और इसे वे सत्यप्रियता के व्यापार से अधिक महत्त्व देते थे। इस महत्त्व का आशय यह है कि सर्वतोमुखी प्रतिभा तथा व्यक्तित्व शून्यता घृणा का विषय रहा है जिसे रिपब्लिक में दृढ़तापूर्वक व्यक्त किया गया है। हमें मालूम है कि ग्रीक जाति के कुछ जन समूह एक प्रकार की लक्ष्यहीन सर्वतोमुखी प्रतिभा को काफी पसन्द करते थे। शायद यही वजह है कि प्लेटो इस विषय पर अपनी कठोर प्रतिक्रिया प्रकट करता है। इसी कारण से ईश्वरीय प्रकृति के बारे में प्राथमिक सिद्धान्तों में से उसने इस सिद्धान्त का अनुशीलन आवश्यक बताया है कि वह ऋजु या सरल है और अपने स्वरूप में नित्य स्थिर है।

तीसरे अध्याय के आरम्भ में हम स्वयं ईश्वर या देवगण के स्वरूप के विचार से आगे बढ़कर मानव स्वभाव में एकीकृत दिखायी देनेवाली दैवी प्रकृति की चर्चा में प्रवेश करते हैं। जिन वृत्तान्तों पुराण कथाओं पर आक्षेप किया गया है और उन्हें उपयोगी माना गया है वे देवगण से सम्बद्ध न होकर अर्थ देवताओं और शूरवीरों के विषय में हैं। शेष कथाएं ऐसी हैं जिनमें स्वर्गगण मनुष्य के हिताहित की दृष्टि से मानवी भावनाओं से प्रभावित दिखाये गये हैं। इस प्रकार हम देवगण और मनुष्यों के मिले जुले भूखण्ड में पहुंच जाते हैं। संयोगवशात् इससे प्लेटो को उत्कृष्ट नैतिक स्वभाव का निरूपण करने और इसके सम्बन्ध में प्रचलित धारणाओं पर चोट करने का भी अवसर मिल जाता है। साथ में उसका सुझाव है कि कविगण अनुचित के उदाहरण प्रस्तुत करनेवाली रचनाओं के द्वारा उचित की प्रतिष्ठा करना अपना कर्त्तव्य मानें। (शुरू से आखिर तक रिपब्लिक में यही दोहरी प्रक्रिया चलती है और बहुत बार इसका विवादात्मक रूप सर्वोपरि हो जाता है।) इसके साथ ही शिक्षा की जो आधार शिला ईश्वर, माता पिता और बन्धुत्वभाव के प्रति श्रद्धा द्वारा दृढ़ीभूत करना है उसकी चर्चा का तार साहस, सत्याचरण तथा आत्म नियन्त्रण के विशिष्ट सद्गुणों से जोड़ दिया जाता है। इन सद्गुणों के शौर्यशाली प्रतीक आत्मा के सम्मुख रखकर उसे अभ्यस्त करना होगा जिस प्रकार विगत परिच्छेद में नैतिकता, शिवत्व तथा नित्यता के मूलभूत सिद्धान्तों से दैवी प्रकृति

सम्बन्धी कथाओं के द्वारा आत्मा को सुपरिचित किया गया है। दूसरे अध्याय के अंतिम भाग में प्लेटो मुख्यतः बाल शिक्षा का प्रतिपादन करता है, जबकि तीसरे अध्याय के आरम्भ में वह बालकों में ईश्वर सम्बन्धी धारणा की शिक्षा पर ध्यान देता है। जरूरी है कि रिपब्लिक के इस भाग को सभी दृष्टियों से परखकर उसके सम्पूर्ण विचार-क्षेत्र को समझ लिया जाय। इस भाग में शिक्षा पद्धति, नैतिक सिद्धान्तों का निरूपण और गुण दोष विवेचन तीनों क्रमशः आधिक रूप से चर्चा के विषय हैं।

सबसे पहले साहस अथवा शौर्य पर विचार किया गया है। चूंकि 'रिपब्लिक' के विभिन्न भागों में सद्गुणों का विवरण पृथक् पृथक ढंग से हुआ है, इसलिए यदि हम किसी सद्गुण के सम्बन्ध में प्लेटो की धारणा का सही रूप जानना चाहते हैं तो हम सभी परिच्छेदों की छानबीन कर उसे स्थिर करना पड़ेगा। अतः शौर्य या साहस के बारे में कुछ देर बाद से विचार करेंगे। दूसरे मामलों के अनुकूल यहाँ भी हम साहस और शौर्य के सम्बन्ध में ग्रीक जनता की धारणा को लेते हैं जिसका अर्थ मृत्यु को भयहीनता है। अरस्तू के मतानुसार ग्रीक मानस मृत्यु को विशेष भीषण वस्तु समझता है और वही मनुष्य श्रेष्ठ शूर है जो मरने से नहीं डरता। कालान्तर में शौर्य की कल्पना विस्तृत हो गयी और उसमें इस प्रारम्भिक अर्थ के साथ किसी तरह की विकरालता और मनुष्य का सहज विचलित करने वाली भीषणता के सम्मुख अटल रहने का गुण भी जुड़ गया। शौर्य के प्राथमिक अर्थ से प्रेरित होकर प्लेटो मृत्यु-नरक और मरणोत्तर जीवन के विषय में भी कुछ बातें करता है। वह कहता है कि सच्चरित्र मनुष्य किसी भी दशा में मृत्यु को भीषण वस्तु नहीं मानता। इसका मतलब हुआ कि वह अपने सदाचारी मित्रों के लिए भी मृत्यु को भयावह नहीं समझता। इसी कारण वह अपने मित्रों का वियोग दूसरों की अपेक्षा अधिक धैर्यपूर्वक सह सकता है। ऐसी सहिष्णुता का दूसरा कारण यह भी है कि वह अन्य लोगों की तुलना में श्रेष्ठतम स्वतन्त्रमति होता है। नरक यातना के दारुण चित्र, कवि-दृष्टि से भले ही कल्पना और भावनाओं को उत्तेजित करें, वे सत्य नहीं हैं और उनमें कोई लाभ की आशा करना व्यर्थ है। ध्यान देने की बात है कि प्लेटो विश्वास की सच्चाई को कार्य-साधकता से किस तरह हमेशा जोड़ लिया करता है। इन दोनों बातों को वह एक ही और समान वस्तु नहीं मानता, फिर भी उसके मस्तिष्क में दोनों जुड़ी हुई हैं।

अभी हम शौर्य के अर्थ विस्तार में अपनी मृत्यु के प्रति निर्भयता के साथ अपने मित्रों के मरण से भयहीन रहने का समावेश देख चुके हैं। अब प्रायः

अनजाने ही इस शौय के निश्चष्ट पक्ष नितिक्षा यथवा सहिष्णुता का विचार करन चले हैं। यह प्रसग आते ही प्लटो शोकोद्गार की अनिशय अभिव्यक्तियां पर प्रहार करने लगना है जो होमर की रचनाआ म मिलती हैं, और जो मनुष्या और शूरवीरो तक के कण्ठ से प्रकट होन के कारण विशेष निन्दास्पद हो जाती हैं। क्या शूर पुरुष का शोकात होकर भूमि पर लुण्ठित हाना शाभा देता है ? शोक सयमन के अर्थ म जो सहिष्णुता कहलाती है उसी का विस्तार अनिशय भावावेग के सामान्य नियन्त्रण तक हो जाता है। इस प्रकार तितिक्षा या सहिष्णुता म शौय तथा आत्मनिग्रह का मल होता है। प्लेटो के चिन्तन का यह विशेष लक्षण है कि वह ऊपरी तौर पर *बिलकुल बेमेल दीखनवाली वस्तुओ म मल के सूत्र* लगातार दिखलाता चलता है जसा इस परिच्छेद म उसने किया है। ऐसा समझिए कि उसकी कल्पनाएँ उसके वश म नहीं रहता और सतत एक दूसरे म रूपान्तरित हुआ करती हैं। इन सदगुणा के सारे निरूपण म ग्रीक चरित्र का प्रमुख लक्षण अति सवत्र वजयेत स्पष्ट दीखता है चाह वह शोक हास्य क्षुधा वासना या कोई भावना हो। हम स्मरण रखना चाहिए कि ग्रीक चरित्र म प्रतिष्ठा के प्रति विशेष आग्रह नहा था। ग्रीक जाति या उसके कुछ वग प्रचण्ड चित्तक्षोभ के अधीन हुआ करत थ। यही कारण है कि ग्रीक दशनज्ञ मनावग के सयम पर निरन्तर आग्रह करत रहे हैं। ग्रीक जाति म आत्म सम्मान का निराला अभाव था और आत्मविस्मरण की महज वत्ति थी जिसे रामन जाति खासतौर मे अशोभनीय मानती थी। यदि इन बाता को हम ध्यान म न रखे तो इस परिच्छेद का शोकनिरूपण हमे कठोर और उदासीन लगेगा तथा हास्य का उल्लंघ ता मूखतासूचक जान पडेगा। प्लेटो की धारणा का आधार यह नहीं है कि भाव प्रवणता बुरी है बल्कि यह है कि भावातिरेक चरित्र को चोट पहुचाकर उस दुबल बना दता है।

शौय तथा आत्मनिग्रह के बीच सत्यप्रियता पर सक्षिप्त परिच्छेद मिलता है। यहाँ इसे आज्ञाकारिता का एक अग और सामान्यत प्रभुशक्ति की स्वाङ्गनि का लक्षण माना गया है। मान लिया गया है कि असत्य अपन आप म घृणित है जब तक परिस्थिति उसे उचित सिद्ध न कर दे और प्लटो की राय मे असत्य को जो परिस्थिति उचित सिद्ध करती है वह केवल प्रभुतापन्नासीन व्यक्तियां का लागू है। इसके समथन म वह कहता है कि रागी के हित की दृष्टि से डाक्टर उसे धोखा दे सकता है और जनता की भलाई के लिए शासक उसके साथ छल कर सकता है। शेष सभी लोगा के लिए सत्यप्रियता निरपवाद सिद्धान्त है।

यदि नागरिक शासक वर्ग से असत्य व्यवहार करता है तो वह डाक्टर से रोगी के झूठ बोलने के समान अहितकर है।

इसी के आगे आत्मनिग्रह अथवा मिताचार का विषय आता है जिसका सार प्रभुशक्ति के प्रति आज्ञाभाव है, चाहे वह शासक हो अथवा अपनी अन्तरात्मा। आत्मनिग्रह का निरूपण प्लेटो ने तीन अर्थों में किया है प्रथम प्राधिकृत पुरुषों के प्रति आज्ञाभाव, दूसरे क्षुधा संयम (विशेषत कामलिप्सा और लाभ-लालसा पर नियन्त्रण और शारीरिक बुभुक्षा से लोभ का अटूट नाता 'रिपब्लिक' में जोड़ा गया है।) तीसरे सम्पटता धृष्टता और अहंकार जिसे एकीलीज की कहानियों में चरितार्थ किया गया है। अहंकार उसके विपरीतार्थ के द्वारा निग्रह का अभिप्राय बहुत अच्छी तरह समझा जा सकता है। अहंकार वह सामान्य भावना है जिसके वशीभूत होकर मनुष्य अपने से ऊँचे व्यक्ति या वस्तु के विरुद्ध तत्पर हो जाता है। दैवी नियम अथवा वैध प्रभुशक्ति के प्रति अवहेलना करके अथवा विवेकसम्मत विधि के विरुद्ध बुभुक्षात्मक विद्रोह करके इस अहंकार का प्रदर्शन किया जाता है। इस प्रकार निग्रह में विनयशीलता का समावेश है। अक्सर कहा जाता है कि विनयशीलता का ग्रीस की नीति-संहिता में स्थान नहीं है परन्तु वास्तव में अनुसार जो मनुष्य देवगण के प्रति निग्रही है वह विनयशील होगा और इसके विपरीत आचरण का मनुष्य अहंकारी। दैवी और शौर्य वीर स्वभाव के जिन भ्रामक वर्णनों की प्रमाणपूर्ण आलोचना की गयी है, उन्हें ग्रीक परिपाटी की विचित्रता मानना होगा। इनकी तुलना और विभिन्नता हिब्रू पैगम्बरों द्वारा आलोचित ईश्वरी प्रकृति के भ्रामक विवरणों से की जा सकती है। यहूदियों ने ईश्वर में जिन मानवी दुर्बलताओं का आरोप किया है वे यहाँ बतायी गयी कमजोरियों से बिलकुल भिन्न हैं। उनमें सबसे अधिक ध्यान देने योग्य ईर्ष्या और क्रोध हैं जिनके कारण प्रतिशोध जैसे परिणाम होते हैं। ओल्ड टेस्टामेण्ट में दैवी प्रकृति का मूलवृत्ति न्याय या साधुभाव है परन्तु ईश्वर में जिस मानवी दुर्बलता का आरोप किया गया है वह अन्याय है।

देवताओं अर्द्धदेवों और मरणोत्तर संसार के यथार्थ स्वभाव-सम्बन्धी कतिपय सिद्धान्तों की दृढ़ भूमिका बन चुकने पर प्लेटो के अनुसार मानवी स्वभाव के उपयुक्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन शेष रहा है। इस प्रकार से नियमित स्वभाव को साहित्य में समुचित रीति से चित्रित करना होगा ताकि वह मिथ्या न हो जाय। जिस प्रकार दैवी प्रकृति-सम्बन्धी सिद्धान्तों का उल्लंघन करके लिखी गयी देवगण विषयक कहानियाँ गम्भीर रूप में मिथ्या हो जाती हैं उसी प्रकार

मानवी स्वभाव तथा मानवीय जीवन से सम्बद्ध कुछ सत्य सिद्धान्त हैं जिनकी जन साहित्य और लोकमत आमतौर पर अवहेलना किया करता है। हमे नित्य यही सुनाया जाता है कि अन्यायी सुखी है और न्यायनिष्ठ दुखी रहते है और यह प्रचार मनुष्य जीवन की मूल भूत आस्थाओ मे ममा जाता है। *क्या यह सत्य है?* इस प्रश्न का अभी कोई समाधान नही हो सका क्योकि रिपब्लिक की समूची रचना इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए है। यदि चर्चा के दौरान हमें विदित हो जाय कि मानव जीवन के सम्बन्ध मे यह दृष्टिकोण यथार्थ नही है अर्थात् न्याय वास्तव मे हानिकर नही है तथा अन्याय सचमुच लाभप्रद नही हो सकता, तो हम मुड़कर इस प्रश्न को फिर टटोलेंगे और तब हम यह कहने म समर्थ होगे कि मानव जीवन का प्रचलित चित्रण असल म भ्रामक वर्णन है। हमारा यह कथन फिलहाल आगे आनेवाली चर्चा का पूर्वानुमान है।

३ साहित्य कला

अभी तक प्लेटो ने साहित्य की सामग्री पर अथवा कथनीय वस्तु के प्रश्न पर विचार किया है। अगला प्रश्न है कथ्य किस ढग से व्यक्त हो अथवा साहित्य की विधा क्या है? जब हम इस सवाल के बदले हुए रूप पर ध्यान देना चाहते है तो असल म कला के सम्बन्ध म चिन्तन करना जरूरी हो जाता है। कारण यह है कि प्लेटो साहित्य रचना के निमित्त जिन सिद्धान्तो की प्रतिष्ठा करता है वही सौन्दर्य-कला के शेष सारे क्षेत्र के निरूपण म प्रयुक्त होते हैं। उसकी कार्य विधि को इस प्रकार समझना उचित ही होगा कि शिक्षा को आत्मा की विभिन्न अवस्थाओ के हेतु क्रमिक पोषण प्रक्रिया मानकर वह उस अवस्था की ओर ध्यान दिलाता है जिसमे कलात्मक भावना का विशिष्ट विकास किया जाना चाहिये। और इसीलिए कलाबुद्धि का शिक्षण उचित या अनुचित ढग से करना पडेगा। जब तक शिक्षा केवल बालको को पढ़ाने लिखाने के उद्देश्य तक सीमित है *अथवा उनमे निश्चित और सच्चे नैतिक गुणो के संस्कार भरती है* तब तक कलात्मक भावना की जरूरत नही पडती और इसी कारण सत्य को प्रस्तुत करने की शैली चाहे जैसी हो सकती है। किन्तु वह अवस्था आती है जब प्रस्तुतीकरण की विधा को महत्व देना चाहिये क्योकि उस समय शिक्षा का फल जिस आत्मा को मिलता है वह कलात्मक भावना या सौन्दर्यबोध के उपयुक्त ग्रहणशील हो जाती है। इस बिन्दु से आगे सौन्दर्यबोध की चर्चा आत्म विकास की इस अवस्था से जुड जाती है। शुरू से आखिर तक विधा के स्वरूप का प्रश्न ही प्रमुख विचारणीय वस्तु है चाहे उसका सम्बन्ध साहित्य से

संगीत से अथवा शिल्प कला से हो। यहाँ विद्या को ग्रहण करने की क्षमता ही पोषण क्रिया की मुख्य चिंता बन जाती है।

हम साहित्य में विद्या के निरूपण से आरम्भ करेंगे। पहले, साहित्य में अनुकरणवृत्ति के प्रयोग पर प्रकाश डाला गया है, अनन्तर साहित्य में शैक्षणिक आवश्यकताओं का स्पष्ट किया गया है जिनसे वांछित सच्चरित्र के निर्माण में योग मिले। फिर इस चरित्र की कसौटी पर साहित्य के शुभाशुभ फल का भेद विदित होता है। अन्त में काव्य के विषय में निर्णय दिया जाता है। इन सारी बातों से परे पहले यह हृदयगम करना होगा कि प्लेटो का अन्तरंग प्रश्न क्या है? शुरू में लगता है कि वह शुद्ध साहित्यक अथवा सौंदर्य विषयक प्रश्न पर चर्चा कर रहा है। इसलिए हम सहजभाव से यह मान लेते हैं कि वह काव्य विद्या का प्रतिपादन करनेवाला है जिसमें महाकाव्य गीति काव्य दृश्यकाव्य (नाटक) इत्यादि का समावेश है और जिन्हें वह शिक्षा का श्रेष्ठ साधन समझता है। किन्तु यह सब वह बिलकुल नहीं करता। सत्काव्य क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में वह साहित्यालोचन की दृष्टि त्यागकर नीतिशास्त्रीय अनुकूलता पर जोर देता है। साहित्य की विद्या का प्रश्न बदलकर यह रूप धारण कर लेता है जिन्हें हम अनुकरणशीलता का प्रशिक्षण दे रहे हैं वे जैसे बन रहे हैं क्या और यदि यह सच है तो वे किसका अनुकरण करते हैं?

अनुकरण के सम्बन्ध में प्लेटो की धारणा पर ही पहले विचार करना होगा। रिपब्लिक में अनुकरण शब्द सामान्य और विशिष्ट दोनों आशय में प्रयुक्त हुआ है। साहित्य में उसका प्रयोग बहुत सामान्य अर्थ में है। इसे हम देख ही चुके हैं। देवताओं के असुन्दर प्रतिबिम्ब बनाने का लाछन कवियों पर लगाया गया है। पुराण कथाओं के सदुपयोग का अभिप्राय यह था कि उनमें देवताओं तथा शूर वीरों का चित्रण यथासम्भव उनके चरित्रानुकूल होना चाहिए। अनुकरण के इस व्यापक अर्थ में काव्य किस तरह अनुकरण करे? इस प्रसंग में अपने दिमाग से यह बात हमें निकाल देनी चाहिए कि कवि स्वयं कलाकार प्रवृत्ति का अनुकरण करता है, या वह मौलिक रचनाकार है अथवा सर्जनकर्त्ता है। जब प्लेटो इस व्यापक अर्थ में कवि के अनुकरणत्व की बात करता है तब वह इतना भर मानता है कि कवि वस्तुओं के प्रतीकमात्र प्रस्तुत करता है चित्रकार के निकट जो उपयोग रंग का है शब्द का वही प्रयोजन कवि के लिए है, अर्थात् कवि के लिए शब्द एक माध्यम है जिसकी सहायता से वह वस्तु अथवा घटना को अंकित करता है। इस व्यापक अर्थ में अनुकरण के उपयोग से ग्रीक जाति सुपरिचित थी

और उसका महत्व भी इसी म था कि कवि-कतव्य अन्य कलाकारा क काम के समकक्ष बना रह। इस अथ म अनुकरण शब्द का समानार्थी चित्रण या प्रतिबिम्बन ह।

यहाँ फिर यह स्मरणीय है कि प्लेटो की दष्टि म मानवात्मा तत्वत अनुकरणपरक वस्तु है जो सहजभाव म मूलवत्ति के कारण अपने परिवश क अनुरूप स्वय बन जाती है। जब हम पुस्तक पढ़ते हैं नाटक देखते हैं या कहानी सुनते हैं तब जिन पात्रा म हमारा मन रम जाता है उनम ही हम अपना प्रतिबिम्ब देखने लगते हैं। अतएव जब प्लेटो अनुकरण की बात करता है तब हम श्रोता या दशक तथा नाटककार अथवा अभिनेता का समानभाव से विचार करना चाहिए। अभिनय प्रक्रिया म दशक प्रवेश कर लेता है और जिस हद तक वह एसा कर पाता है उतनी दूर तक वह अनुकरणकर्ता है। प्लेटो की दष्टि म यदि एसा न होता तो साहित्य को इतना विशाल महत्व वह नही देता। मनुष्य स्वभावत अनुकरणप्रिय ह और साहित्य दूसरे सारे साधना म से एक ह जो इस मानवी प्रवत्ति को घोषित करता ह। सम्पूण अनुकरण क्रिया यथाथता की ओर बढती ह। किसी वस्तु का स्वाग करते करते उसके यथाथ की झलक मिल जाती ह। जिसमे रुचि ह उसका हम स्वाग करते हैं और शन शन हम स्वाग वस्तु स्वय बन जात है। साहित्य के प्रभाव की इस कल्पना को ध्यान मे रखकर प्लेटो उस श्रेष्ठ साहित्य की जिज्ञासा करता है जो मनुष्य स्वभाव मे अन्तर्निहित श्रेष्ठत्व का प्रकट करने म सक्षम हो। इस सारी चर्चा म यही परिप्रश्न उसके सम्मुख है।

सबसे पहल साहित्य म महत्त्व की चर्चा उठती है जो विशिष्ठ अथ म अनुकरणात्मक है। यद्यपि समग्र साहित्य अनुकरणपरक है तथापि अनुकरण की मात्रा और पद्धति की दष्टि से एक साहित्य दूसर से भिन्न होता है। दूसरी तरह कहे तो यथाथ वातावरण के वणन द्वारा जिस परिमाण म हमारे समक्ष वस्तु स्थिति को साहित्य प्रकट कर सकता है अथवा साहित्य जितनी मात्रा म यथाथवादी है उसी अनुपात म वह अनुकरणपरक होगा। यहाँ अनुकरण जातिगत अथ म नहा रखा गया है बल्कि उस प्रकार क साहित्य पर बल देने के लिए आया है जो अधिक स अधिक अनुकरणयुक्त है अथवा जो परम यथाथवादी है। प्लेटो क अनुसार कवि केवल कथा कहता है अथवा अनुकरण करता है या दोनो का प्रयोग करता है। इस प्रसग म अनुकरण को छद्म-व्यक्तिता के अथ मे लेता है अर्थात् कवि यथासम्भव वणित व्यक्ति का वेश या चरित्र स्वय अपनाता है।

साहित्य की नाटक विधा में यह क्रिया आदि से अन्त तक चलती है। महाकाव्य में दोनों विधाओं का प्रयोग होता है कतिपय कोरस और गीतकाव्य में केवल कथात्मक शैली मिलती है।

चूंकि यह भेद साहित्य विधा के भेद से मेल खाता है इसीलिए हम यह न समझ बैठें कि प्लेटो साहित्यिक विधा के आधार पर अपने विचार रख रहा है। साहित्य के तीन प्रकारों को सूचित कर देने के बाद वह तुरन्त हमें सावधान करता है कि कम से कम इस प्रसंग में नाटक रचना से हमें कोई सरोकार नहीं है बल्कि उन मनुष्यों से हमारा प्रयोजन है जिन्हें राज्य के रक्षक के नाते अनुकरण शील होना चाहिये। यदि उसका प्रश्न साहित्य की विधाओं तक ही सीमित रहता है तो इसका अर्थ यह होता है कि वह उन मनुष्यों के अभिनेता बनने या न बनने के प्रश्न पर विचार करनेवाला है। किन्तु उसकी चर्चा का यथार्थ विषय यह नहीं है कि वे लोग अनुकरणशील हों, वरन् यह है कि वे किसका अनुकरण करें। उन्हें किस व्यक्तित्व का वेश ग्रहण करना चाहिये, दूसरे शब्दों में, उन्हें अपनी कल्पना के यथासम्भव सहयोग से किन पात्रों के सदृश बनने का प्रयास करना चाहिये। इस तरह असल सवाल नाटक या महाकाव्य या गीतकाव्य जैसी साहित्यिक विधा के औचित्य का नहीं है, भले, वह सतही तौर पर ऐसा दिखायी देता हो। (यह सर्वथा गौण विषय है और तर्क के अन्त में इसका कोई निष्कर्ष नहीं निकलता।) प्लेटो वास्तव में मानव स्वभाव के उस रूप का आग्रह करता है जिसकी प्रतिच्छवि साहित्य में व्यक्त होना चाहिये। इसका मतलब यह हुआ (हम यहाँ अनुकरण को सीमित अर्थ में प्रयुक्त कर रहे हैं) कि किस प्रकार के मानव स्वभाव को नितान्त यथार्थ शैली में प्रतिबिम्बित किया जाना चाहिये या उसे किस विशिष्ट ढंग का रूप देना चाहिये जो कल्पना को अत्यधिक उत्तेजना दे सके। वह पूछता है क्या कवि को अपनी प्रतिभा के समूचे बल द्वारा किसी भी और प्रत्येक वस्तु का यथार्थ चित्रण करने में तत्पर होना चाहिये ताकि वह उसको प्रभावशाली और उत्तेजक बना सके? अथवा राज्य के सेवक के नाते कवि को विषय वस्तु का चयन करके मानव स्वभाव के महत् और शुभ को चित्रित करने में अपनी समूची प्रतिभा उड़ेल देना चाहिये? प्लेटो के लिए इस सबका केवल एक उत्तर है—मनुष्य स्वभाव का जो अंश व्यक्ति के निजी चरित्र का अंग बनने योग्य है केवल वहीं इस यथार्थवादी अनुकरण का कलात्मक मूल्य हो सकता है। यदि श्रेष्ठ मनुष्य का उदाहरण ऐसा पुरुष समझा जाय जो विवेकशून्य होकर अपने आप अगणित परिस्थितियों अथवा पात्रों का रूप ग्रहण कर सकता है तो

श्रेष्ठ कवि भी इसी श्रेणी का मनुष्य होगा। किन्तु मनुष्य स्वभाव इस तरह तुच्छ खण्डों म बटा हुआ है कि प्लेटो के अनुसार एक व्यक्ति एक से अधिक प्रकार के जीवन का अनुकरण अथवा व्यवहार करन म समथ नहीं है। चूँकि मनुष्य अनुकरण करता है वही उसका दूसरा स्वभाव बन जाता है इसलिए अनुकरण करन म उसे विवेकवान् होना चाहिए। समय लेखक किसी दूसरे म अपने व्यक्तित्व को तिरोहित करने के लिए तभी तयार होगा जब दूसरा स्वय उसके समकक्ष हो। यही बात दशक अथवा पाठक के पक्ष म कही जा सकती है।

इस विवाद का मूल प्रश्न यही है। परन्तु प्लेटो साहित्य की श्रेष्ठ विधा का कोई समाधान नहीं देता। किस प्रकार महान कवि वह पूर्ति कर सकता है जिसकी उससे अपेक्षा की गयी है—इसे प्लेटो जहाँ का तहाँ छोड देता है। इतना भर वह कहता है कि कवि के मार्ग-दर्शन की रूपरेखा निश्चित करनामात्र उसका इष्ट है। पहले वह यह चाहता है कि कवि का जनमण्डल का सेवक होना चाहिये अन्यथा जनमण्डल म उन्हे स्थान नहीं मिलेगा। उनमे वह कहता है कि प्रतिभावन्त पुरुष होने के नाते आप जीवन का ऐसी ओजस्वी प्रतिच्छवि अकित करने म समथ हैं जो कल्पना को उदभासित कर सके। अपनी इस शक्ति को उन्ही वस्तुओ म प्रयुक्त करना ठीक है जो वास्तव म अनुकरणीय है। उसका विश्वास है कि साहित्य मनुष्य को अत्यन्त प्रभावित करता है और चरित्र परिवतन की उसम अचूक शक्ति होती है। उपदेशात्मक साहित्य सत्साहित्य नहीं है बल्कि जो साहित्य मानव-स्वभाव को इस तरह अकित करता है कि उसम मनुष्य के अन्तरस्थ श्रेष्ठ का सम्वधन हो वही सत्साहित्य कहला सकता है। उसके अनुसार कवि दो प्रकार के होते हैं वह कवि अभद्र है जो किसी भी प्रकार के पात्र में अपनी प्रतिभा का प्रयोग करके बच्चो और गुलामो के बीच अत्यन्त प्रिय हो जाता है। जो कवि उचित का सम्यक विवेक रखता है वह साधुवृत्ति के मनुष्यो के काय अथवा भाषण का रूप देते समय अपनी समूची प्रतिभा को उनम समाहित कर देता है और उनके चरित्र को नाटयात्मक बनाता है। जब किसी महान पात्र की दुबलताओ अपूणताओ और विफलताओ का उसे पता लगता है, तो वह उन्हें सक्षेप म ही निपटा देता है। इस तरह अवाछनीय पात्रो और वस्तुओ के सम्बन्ध म याने पागलपन या रोग अथवा मनुष्यता को पतित करनेवाली स्थिति म वह अपनी प्रतिभा को कम से कम खच करता है। विनोदात्मक प्रसग म इस प्रकार के दुगुण या दुजन स्थान पा सकते हैं लेकिन इस छूट के कारण बहुत कुछ अवाछनीय तत्त्व स्थान पा जाते है। सुखान्त नाटक को

इसी में प्रश्रय मिलता है। उसने यह संकेत दिया ही नहीं कि उपरोक्त आवश्यकताओं की उत्तम रीति से पूर्ति के लिए साहित्य की कौन सी विधा उपयुक्त होगी। यह काम कवियों को सौंप दिया गया है।

जान पड़ता है कि प्लेटो समकालीन तथ्यों और कवियों को लक्ष्य करके ही यह सब लिख रहा है यद्यपि जिनकी ओर संकेत है उनको जानने का कोई उपाय नहीं है। अनुकरणपरक साहित्य के दुरुपयोग के जितने उदाहरण उसने दिये हैं वे शायद उसके समय में प्रकट नवीनताओं से चुने गये हैं। त्रासदी या दुखान्त रचना की नवीन प्रवृत्तियों का वर्णन उसने किया है। कदाचित् यौमिया नाट्यकार यौरीपाइडीज की शिक्षा का अनुसरण करके त्रासदी या दुखान्त रचना में परिवर्तन करने लगे थे यद्यपि उसकी आत्मस्थिता की वे नहीं पा सके। जहाँ तक दुखान्त नाटक का विषय है मंच पर अश्वक्रीडा और कुछ नये-नये प्रभावों लाने के तरीकों के उपयोग से उस चरम पहुँचा थी जिस प्रकार आधुनिक समीक्षक को रंगमंच पर बग्घी और घोड़ों के प्रदर्शन से विस्मयपूर्ण दुःख होगा। घोड़ों की हिनहिनाहट बैलों का डकारना और ऐसी तरह के अन्य दृश्यों के परिच्छेद यूनानी मद्यदेव के उपासकों के गीत जैसी कविता का समावेश है जो आधुनिक मंच अभिनय के शायद बहुत कुछ निकट है। इन परिच्छेदों से दशम अध्याय में और 'लाज' (Laws) के शेष ही और परिच्छेदों से स्पष्ट है कि प्लेटो ग्रीक साहित्य तथा संगीत के अधःपतन की दृढ़ धारणा बना चुका था। वह सोचने लगा था कि साहित्य प्रायः विकृत कल्पना को आन्दोलित करने का एक प्रबल साधन बनता जा रहा था। समकालीन कला में उसने जिस उद्देश्यहीन विविधता तथा उच्छृंखलता को पनपते देखा था उसको प्लेटो प्रजातन्त्रात्मक मानव के चरित्र सरीखे गम्भीर विषयों का शोचनीय प्रतिकृति मानता था।

अधिकांश व्यक्ति साहित्य में ऐसे उग्र सिद्धान्त का प्रयोग वाञ्छनीय नहीं समझेंगे जो प्लेटो प्रस्तुत करता है, उसकी मनोवृत्ति केवल इसीलिए कठोर और निरंकुश नहीं जान पड़ती कि उसकी दृष्टि में कुछ संकीर्णताएँ बाधक हैं बल्कि इसका कारण यह है कि वह इस विषय को दूसरों की अपेक्षा अधिक गम्भीरतापूर्वक विचारणीय समझता है। यदि प्लेटो के समान मनोदशा हमारी भी हो जाय तो हम सिर्फ नाटक रोमांस का विचार नहीं करेंगे प्रत्युत धार्मिक साहित्य बाइबिल और उससे उद्भूत समूचे वाङ्मय को इसी तरह देखना चाहेंगे। तब इस साहित्य के सम्बन्ध में चर्चागत प्रश्न ग्राह्य जान पड़ेगा। अगर हम साहित्य को ऐसे गम्भीर ढंग से सचमुच चिन्तनीय मानते हैं और उस समाज की शिक्षा

को शक्तिमान साधन समझते हैं तब उसे किस प्रकार इस ध्येय के लिए प्रयुक्त किया जाय—यह प्रश्न उठे बिना नहीं रहता। इसी पर समाज के मूलभूत उत्कर्ष का लक्ष्य निर्भर है। प्लेटो की साहित्य-सम्बन्धी गहन चिन्ता और तद्विषयक अनेक बातों की ओर उसका आग्रह ठीक ठीक समझ में तभी आयगा जब हम यह याद रखें कि ग्रीक जाति का एक बड़ा समुदाय छद्म व्यक्तित्व के मोह में फँस गया था जो वह नहीं है उसका प्रदर्शन करने की प्रवृत्ति बन रही थी स्वयं मदाचारी होने का यत्न स्वाग बन गया था।

साहित्य-सम्बन्धी प्लेटो के सिद्धान्त का सहजरूप में ग्रहण करने पर स्पष्ट होता है कि वह किसी भी महान् साहित्य या कला के विपक्ष में नहीं है (यद्यपि साधारणतः साहित्य और कला के परीक्षण हेतु किसी कठोर और गहन सिद्धान्त को उसका शत्रु ही समझना चाहिये।) इसी तरह साहित्य और कला के प्लेटो सम्मत गुण महान् कवि की प्रतिभा को सीमित नहीं करते। यह अलग सवाल है कि साहित्य को इस प्रकार के सिद्धान्त का अनुचर कैसे बनाया जा सकता है? इतनी कठिन समस्या है यह कि कुछ धार्मिक संस्थाओं को छोड़कर कोई राज्य अथवा समाज इसे व्यावहारिक ढंग से सुलझाने का प्रयास तक नहीं कर पाया। किन्तु संसार के महान कवियों ने सुखान्त नाटक का छाड़कर मानव स्वभाव के श्रेष्ठतत्त्व का ही निरूपण प्रधानतः किया है। फर्क इतना ही है कि ये महाकवि मानव स्वभाव के निहित श्रेयस तथा यथार्थ सुन्दर की भिन्न भिन्न धारणाएं रखते थे। वैसे यह कभी सम्भव नहीं है कि इस सिद्धान्त के प्रयोग करने का कोई एक सुनिश्चित और अन्तिम उपाय मिल जाय। एक प्रकार से आज अधिकांश विचारक उस भावना से असहमत ही होंगे जिसके अनुसार प्लेटो अपने सिद्धान्त का प्रयोग करता हुआ दिखायी देता है। आधुनिक चिन्तन कला के सर्वोच्च मूल्यांकन में ग्रीक मस्तिष्क से एक दृष्टि से बिलकुल भिन्न है और वह यह है कि आधुनिक चिन्तन श्रेयस तथा सुन्दर की खोज बहुत बड़े पैमाने पर करने में अनुरक्त है। किन्तु थोड़े बहुत जरूरी हेरफेर के साथ आज के युग में भी वही समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है कि कला में श्रेष्ठ और निकृष्ट सुन्दर तथा असुन्दर की सीमाएँ कैसे बांधी जायें? कला में कहां श्रेष्ठ शुरू होता है, कहां पहुंचकर वह निकृष्ट बन जाता है कहाँ सुन्दर का अन्त है जिससे लगकर असुन्दर का आरम्भ होता है—ऐसे विवेक का व्यवहार क्या सम्भव है? निरी मूर्खता होगी कि हम राज्य से विशेषतः ब्रिटिश पार्लियामेण्ट से कला-सम्बन्धी कुछ मानदण्ड निश्चित करने की आशा करें परन्तु हम ऐसे मूल निर्धारण में

कोई बाधा नहीं माननी चाहिए। संसार के महान् कलाकार हम अपने मतवाद की सूचना दिये बिना अथवा अपने मत की स्थूल रूपरेखा के बिना ऐसे मानदण्ड मान्य समझते आये हैं। हम पता लगा सकते हैं कि साहित्य या कला के इन मानदण्डों में संसार के सभी कलाकार तत्त्वतः सहमत हैं। एक बात में (और बड़ी बात यही है) सभी कलाकार प्लेटो के सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं। समस्त महान कलाकार और कवि आदर्शवादी हैं। मानवजीवन के सतही रूप से परे किसी ऊँचेपन में उनकी रुचि रमती है। इसके विपरीत प्लेटो की आशा के अनुकूल एक मामले में कोई कवि सफल नहीं हुआ क्योंकि आज तक किसी कवि ने अपने समाज का शिक्षादाता बनने के लिए जानबूझ कर रचना नहीं की। फिर भी दाते जैसे महान् कवि हुए जिन्होंने निश्चित प्रभाव उत्पन्न करने की इच्छा से रचना नहीं की थी किन्तु इसमें रत्तीभर सन्देह नहीं कि उनके बाद पीढ़ियों के मस्तिष्क को ढालने में उसकी रचना प्रभावशाली सिद्ध हुई है।

४ संगीत तथा अन्य सामान्य कलाएँ

साहित्य निरूपण के अन्तिम चरण में प्लेटो बतलाता है कि उन्नत राज्य में महान प्रतिभाशाली नाट्यकार को कोई स्थान नहीं दिया जा सकता, यद्यपि यह काफी ठीक है कि उसमें प्रत्येक वस्तु को नाटयात्मक करने की सामर्थ्य है। वह संगीत का निरूपण भी उसी सिद्धान्त के आधार पर करता है जिसका प्रयोग साहित्य के लिए किया गया है, अर्थात चरित्र पर शुभाशुभ प्रभाव डालने में संगीत कुशल है या नहीं—इसी मानदण्ड पर उसका गुणदोष विवेचन होना चाहिए और तदनुसार उसका अनुमोदन अथवा उसकी निन्दा करना चाहिए।

इस सिद्धान्त का आधार क्या है? अभी तक हम मानव-कर्म और चरित्र की सीधी अभिव्यंजना पर विचार कर रहे थे। किन्तु संगीत तो इससे भिन्न कला है। संगीत तथा कोई दूसरी कला उस मनुष्य की आत्मा के स्वरूप को व्यक्त करती है जो उसे जन्म देता है और जो उसके मर्म का पारखी है। प्रत्येक कला का साधन या निमित्त अलग अलग होता है किन्तु सब का शुभ और अशुभ लक्षणयुक्त स्वरूप हुआ करता है। अतएव शिक्षात्मक होना प्रत्येक कला का धर्म है। चरित्र की अभिव्यक्ति के गुण के कारण वह चरित्र का परिष्कार करती है इस सामान्य नियम को स्वीकार करने पर भी यह कहना कठिन है कि संगीत अथवा कोई अन्य कला चरित्रमार्जन में किस प्रकार सक्षम है। संगीत या चित्र शब्दों में व्यक्त नहीं हो सकता। इस तरह का यत्न अहितकारी हुआ है। प्रत्येक

कला अपने निजी माध्यम म प्रकट होती है उसके निजी नियम हैं। हम इतना ही कह सकते हैं कि *कला की सभी विधाओं म आत्मा से आत्मा सलाप करती* है। प्रत्येक कला के अभिप्राय की निजी विधा होती है और इसी के द्वारा आत्मा का आत्मा से सम्पर्क हुआ करता है।

प्लेटो जिस तरह संगीत का निरूपण करता है उसके फलस्वरूप समकालीन विचारकों को भी वह साहित्य निरूपण की अपेक्षा अधिक अनुदार तथा कट्टर लगा होगा। उसके मन म सगीतज्ञ को यह समझना चाहिये कि राज्य म उस निश्चित कत्तव्य का निर्वाह करना होगा। वह यूनानी संगीत के उस राग अथवा उन स्वर-सगतियों का उपयोग निश्चित करता है जिन्ह वह राज्य हितावह माने। (यथा प्राचीन यूनान के डोरिस नामक जिले म मान्य सहज तथा उदात्त राग और एशिया माइनर के प्राचीन देश फ़िजिया का युद्धात्मक राग) शेष दूसरे राग वर्जित होना चाहिये। वाद्य यन्त्रों म म वह केवल विपची तथा सितार (प्राचीन यूनान म प्रचलित) का उपयोग उचित समझता है चरवाहों के लिए सिर्फ अलगोजा जैसा फूंककर बजाने का बाजा निश्चित करता है। इनको छोड कर सभी दूसरे वाद्य यन्त्र और बासुरी के उपयोग को निषिद्ध मानता है क्योकि इनसे उत्थित राग के प्रभाव जटिल हो सकते हैं। वह तान, लय को कुछ सरल गलियों म सीमित करने के पक्ष म है परन्तु इसे वह ठीक तरह से निश्चित नहीं करता। मोटे तौर पर वह व्यवस्थाप्रिय तथा वीर पुरुष के योग्य ताल लय का समर्थक है। अन्त म उसका जोर इस बात पर है कि संगीत को शब्दों की ध्वनि का अनुगामी होना चाहिये तान और स्वरसगति को शब्द ध्वनि के अनुरूप होना जरूरी है शब्दों को राग का नहीं। उसके कथनानुसार अब हम भोग-परायण नगर के पापमोचन का आरम्भ कर रहे हैं ताकि सभ्यता के उन तत्त्वों का निरसन किया जा सके जो वास्तव म मूल्यवान नहीं वरन् केवल विषय सुख की वस्तुएँ हैं। अपने युग के संगीत कलाकृतियों और साहित्यिक रचनाओं के समस्त गुणदोष विवेचन के भीतर प्लेटो का जो प्रमुख आशय है उसे समझना कठिन नहीं है। वह जटिलता के विपरीत ऋजुता का आशय है। कला सरल होनी चाहिये—किन्तु इस विषय मे उचित और अनुचित दोनो अर्थों म इस सरलता को समझा जा सकता है। मनुष्य जीवन के अविवेकी अनुकरण पर प्लेटो के आक्षेप इस भावना म जन्म लेते हैं कि मनुष्य जीवन म निहित शुभाशुभ के सिद्धान्त को पहचाना नहीं गया है और इसीलिए इस विवेक शून्यता का मौका मिलता है। उसका यह कथन कि मनुष्य को सहज सरल होना

चाहिए बहुरूपी नहीं उसके इस आग्रह की अभिव्यक्तिमात्र है कि किसी एक सिद्धान्त को मानकर चलना आवश्यक है। यही कारण है कि संगीत की चर्चा करते समय ताल आरोहण और अन्य इसी तरह की क्रिया के हर प्रकार को लेकर चलनेवाले संगीत पर वह आक्षेप करता है। उसे लगता है कि किसी भी मन बहलानेवाली वस्तु का विवेकशून्य अनुकरण जिस दोष में साहित्य में उत्पन्न होता है वही उसको संगीत में भी दिखायी देता है। लगता है कि प्लेटो सरलता के दो आशयों को लेकर उलझा रहा है। एक दृष्टि से प्रत्येक महान कृति सुबोध होती है। वह कुछ सरल और महान आशयों का विस्तार देकर प्रस्तुत करने का परिणाम हुआ करती है चाहे उसकी शैली जटिल हो परन्तु कला एक दूसरे अर्थ में भी सरल हो सकती है और इस अर्थ में हम प्राचीन कला को सरलता का ठीक उदाहरण मानते हैं। सरलता का यहाँ यह अर्थ होता है कि उसका अभिप्राय उसकी सतह पर ही बोलता है। जिस आशय को कलाकार व्यक्त करता है उसे हम आसानी से ग्रहण कर लेते हैं। प्राचीन चित्र में तुलनात्मक दृष्टि से बहुत ही कम चित्रता रहती थी। उसमें जो भंगिमाएं और भाव चित्रित होते थे वे स्पष्टग्राह्य हुआ करते थे। यही हाल सीधो-सादी तान का होता है, क्योंकि जिस नियम से उसके स्वरों की संगति बँधी रहती है वह एकदम पकड़ में आ जाती है। प्राचीन काव्य भी सरल है, उसका परिवेश हमारे ध्यान में सहज आता है। इसी ढंग से हम पात्रों के चरित्रचित्रण सरल पाते हैं। मतलब यह है कि उनके काम एकदम आसानी से समझ में आते हैं उनकी भावनाएं और नियम साफ दिखते हैं। इसके विपरीत हम कहा करते हैं कि सभ्यता हम जितनी अधिक प्रभावित करती है मनुष्य जीवन उसी अनुपात में जटिल और अव्यवस्थित होता जाता है। प्राचीन कलाकार को हमारी कला अटपटी लग सकती है किन्तु परवर्ती महान कलाकारों की कृतियाँ सचमुच अव्यवस्थित नहीं हैं। प्राचीन कलाकार के समान उसका भी एक निराला और प्रबल प्रयोजन होता है। इतना ही है कि उसकी व्यंजना और व्याख्या अपेक्षाकृत कठिन हुआ करती है। चरित्रचित्रण की बात लीजिए। समय बीतने के साथ सरलता के महत्त्वपूर्ण गुण का जीवन से लोप नहीं हुआ करता। महान पात्रों के अभीष्ट की सारता और एकता उनमें सदैव सुरक्षित रहा करती है लेकिन उनकी व्याख्या अधिक कष्टसाध्य हो जाती है। आगे चलकर प्रत्येक महान कलाकृति गूढ़ होती जाती है और हम उसके भाव सूत्र की खोज करनी पड़ती है। किसी स्वरसंगति के सृजन में प्रयुक्त बहुसंख्यक तत्वों का नाम और उनमें

उत्पन्न जटिलता हो सकती है उसका विश्लेषण भी कठिन हो सकता है। परन्तु वह जटिलता बिल्कुल भिन्न है जो नियम के अभाव तथा अव्यवस्था की द्योतक होती है। कलाकृति के विषय में बड़ी समस्या यह है कि उसका कोई बोध सूत्र है या नहीं, उसमें एकता प्रकट करने वाली वस्तु है अथवा नहीं।

स्पष्टतः प्लेटो समझता था कि एथेन्सवासी अपनी ऋजुता अथवा सरलता को जीवन की हर दिशा में गवा रहे थे। वह उन्हें आदिम युग की सरलता फिर से अपनाने के लिए नहीं कहता था। वह चाहता था कि वे यथार्थता को ग्रहण करें। उसे लग रहा था कि वे राष्ट्रभाव के अनुकूल न बनकर अभिनेताओं का समूह बनते जा रहे थे जबकि उन्हें शुद्ध चरित्र धारण करना चाहिये था। उसके वर्णन में ऐसा भास होता है कि एथेन्स नगर एक थियेटर या नाट्यशाला बनता जा रहा था। इसी रोग से कलाएँ भी पीड़ित थीं और इस दोष का पोषण भी करती थीं। उनकी जटिलता का अर्थ था अव्यवस्था। उनमें नियम का अभाव था और हर चीज को उसके गुणदोष का विवेक रखे बिना कलावस्तु के रूप में ग्रहण कर रही थी। इस सबके मूल में जो आशय है वह बहुत कुछ उचित है। चरित्र के समान महान् कला निःसन्देह ऋजु या सरल होता है क्योंकि वह सामञ्जस्यधर्मी हुआ करती है। किन्तु हमारी धारणा है कि जब प्लेटो अपने आशय का विस्तृत विवेचन करता है तब वह उन चीजों की वकालत करने लगता है जो सचमुच विपरीतगामी हैं। वे ऐसी वस्तुएँ हैं जो सामान्यतः कला और सभ्यता के विकास में बाधक होकर रहेंगी। कभी कभी ऐसा प्रतीत होता कि वह कला के प्रयोजन को बिलकुल समाप्त करना चाहता है। ऐसा इसलिए है कि वह अपने सिद्धान्तों के प्रति सच्चा नहीं रहा। उसका ध्यान कुछ निश्चित तथ्यों पर एकाग्र हो गया था जिन्हें उसने देखा था, अथवा उसे लगा था कि वे उसके समीप हैं। इस तरह से उसकी कला सम्बन्धी धारणा संकीर्ण हो गयी। यही दशा आगे चलकर सम्पत्ति तथा परिवार के विवेचन की हुई। अतः उसके नियमों में कला की प्रतिष्ठा के विरुद्ध कुछ नहीं है अथवा उसके क्षेत्र को सीमित करने का कोई उद्देश्य नहीं है किन्तु जिस विशेष प्रकार से वह इन नियमों का कला के निमित्त प्रयोग करना चाहता है उससे कला प्रतिबन्धित हुए बिना नहीं रहती। उसके नियमों में हमारी दिलचस्पी पहली चीज है लेकिन हमसे वह कहता है समग्र कला को वस्तु की व्यंजना में स्वच्छन्द रहने दो और वह वस्तु व्यंजना के योग्य हो निरर्थक न बनने दो कला को, अथवा जनता के विकृत मन की सनक और जोश की तबीयत को खुराक देने में मत लगाओ उसे। परन्तु

इसके विपरीत उसके समकालीन विचारकों की दृष्टि में प्लेटो अपने युग की अत्यन्त मूल्यवान कृतियों के बहुतेरे भाग को ठुकराता हुआ दिखायी दिया। रस्किन के विचारों में भी इसी से मिलता जुलता मिश्रण दीखता है।

प्लेटो एक संक्षिप्त परिच्छेद में कला की प्रभावशाली प्रभाव-सम्बन्धी अपनी कल्पना को कला के समूचे क्षेत्र में फैलाने लगता है। इस स्थान में वह कलाओं के अनेक भेद गिनाता है परन्तु उनके गुणदोष की समीक्षा बिलकुल नहीं करता। अतः उसके विवादात्मक लेखन को यहाँ छोड़कर हम कला के नैतिक प्रभाव सम्बन्धी उसके भावात्मक मत का अब विचार करने जा रहे हैं। यह प्रतिपादन सर्वथा उदार और अपने उद्देश्य के अनुकूल इतना ऊँचे दर्जे का है जितना इस विषय में सम्भव है। इसीलिए कला-क्रम को यहाँ वह न्यूनतम ध्येय से नहीं बाँधता। यथार्थतः इसमें कला विषयक सारी चर्चा का सार भरा है।

शुरू में वह बतलाता है कि चित्रकला, शिल्पकला, बुनाई कढ़ाई फर्नीचर और मृत्भाण्ड वास्तुशिल्प और इनसे परे समग्र जीव प्रकृति में और सचमुच सर्वत्र जहाँ सायक रूप है, सब में सौन्दर्य तथा कुरूपता की सामर्थ्य का वास है। इससे लगा हुआ यह तथ्य है कि रूप और शब्द की सुन्दरता अथवा कुरूपता चरित्र में निहित सुन्दर और असुन्दर से सम्बद्ध है। इसी सिलसिले को जारी रखकर वह उस प्रभाव का वर्णन करता है जो सुन्दरता के वातावरण में रहने के कारण विकासोन्मुख आत्मा पर पड़ सकता है। हम यह न मान बैठें कि प्लेटो केवल कला द्वारा समाज का परिष्कार करने की बात सोचता है परन्तु मनुष्य जीवन के अन्य उपकरणों में से कला के इस वक्तव्य का वह दूसरे किसी दर्शनज्ञ की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है।

उसके विचार से कला में कौन-सी सामर्थ्य है? 'कला का नैतिक प्रभाव' सरीखे वाक्यांश हमें कला के उस उपयोग का ध्यान दिलाते हैं जिससे नैतिक सिद्धान्त उपदेशात्मक काव्य या चित्रों को वह ग्राह्य बनाती है। लेकिन यह प्रसंग इस आशय के हेतु नहीं है। शिक्षा निरूपण के समूचे प्रयास में यहाँ और आगे यही सामान्य अभिप्राय है कि आत्मा में कतिपय निहित सम्भावनाएँ हैं प्रवृत्तियाँ हैं जिनका परिवेश की सहायता से सृजन नहीं आविर्भाव किया जा सकता है। दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माध्यम हैं जो इन प्रवृत्तियों को प्रकाश में लाने के लिए उपयोगी हैं अर्थात् देखना और सुनना (अथवा रूप और शब्द) जिनके द्वारा आत्मा दृश्य जगत का सम्पर्क पाती है। प्रथमतः आत्मा का इनके ही द्वारा

ज्ञान मिलता है अथवा दूसरी तरह कह ता इन्हीं के माध्यम स आत्मा बहिजगत् के सत्य क अनुरूप बनती है। इस सत्य क दूसरे पक्ष म स विश्व सौन्दर्य का सस्पश आत्मा को आँख और कान क माध्यम से मिला करता है। प्लेटो के मत मे ससार की समग्रता सौन्दर्यमयी है। विश्व विवेक पर टिका है जो उस सार्थकता प्रदान करता है और यही विश्वगत विवेक स्वय सौन्दय की छवि म समाया है। टिमेइयस म प्लेटो यही बात रखता है कि आत्मा दृष्टि और श्रवण द्वारा ससार के दृश्य श्राव्य ताल तथा लय का बोध प्राप्त कर सकती है और यही इन इन्द्रियों की महती शक्ति है। नक्षत्रपुज की गति ताल तथा लय का भव्य उदाहरण है। इनम ग्रीक जाति विवेक क सामजस्य की गति का दर्शन करती थी। अतएव कलाकार का कर्तव्य है कि हम विश्व के सौन्दय का बोध कराये। प्लेटो कहता है कि हम ऐसे निपुण कलाकार खोजना चाहिए जिनकी प्रतिभा यत्र तत्र-सवत्र बिखरे सौन्दय तथा करुणा को पहचानकर उसे हमारे लिए सुगम कर द। यह उनके लिए सुलभ कराना होगा जिनके नेत्र इस जगत म स्वत नहीं देख सकते जिनके कान इस ससार म स्वत नहीं सुन सकते। वह स्वरसगति या ताल का युक्तिमूलक व्यापार मानता है जिसकी व्यवस्था किसी नियम पर आधारित है। इसी तरह सुन्दरता का रूप किसी एक नियम म आबद्ध है। कला की प्रक्रियाजनित वस्तुओ म ताल स्वरसगति और रूप की शिवता अथवा अशिवता समाहित है। और उचित ताल या उचित रूप एक ओर समग्र विश्व मे अन्तर्हित विवेक ताल तथा स्वरसगति के सजातीय भाव का बोध देता है तो दूसरी ओर वह मानवचरित्र के अ तरस्थ शुभ तथा युक्तिमूलक तत्त्व का सगोत्री है। कला और चरित्र अथवा सदाचार म यही वास्तविक सम्ब ध है।

अब प्रश्न यह है कि चरित्र किस निश्चित ढग से कलात्मक परिवेश द्वारा अभिभूत होता है? प्लेटो आत्मा को प्रभावित करनेवाले ढग के दो वणन प्रस्तुत करता है पहले को हम कला का नतिक और दूसरे को बौद्धिक प्रभाव कह सकते हैं। किन्तु उसकी दृष्टि इनम कोई भेद नहीं मानती। वह बताता है कि ताल स्वरसगति और सुरूप क लक्षणो को आत्मा स्वत अपना लेती है। नि सन्देह वह कहना चाहेगा कि इसका प्रमाण शरीर सचालन मे वाणी भाव भगी आचरण म मिलता है क्योंकि देह-चेष्टा की कतिपय ऐसी वृत्तियाँ हैं जिनसे नतिक तथा आध्यात्मिक गुणो की अभिव्यजना होती है। इन्हें इस प्रकार अभिव्यजक मानते ही यह स्पष्ट होता है कि ताल तथा रूप के ज्ञान और चरित्रगत औचित्यगुण क बोध म कोई सम्बन्धसूत्र है। परन्तु कला क प्रभाव स सम्बन्धित

उसकी धारणा का उत्तम सारांश इस रूपक में है कि संसार को पढ़ने का अभ्यास करना चाहिये। उसका कथन है कि शुभ का स्वरूप समझने के लिए हम अपने चतुर्दिक संसार का पढ़ने की आदत डालनी ही पड़ेगी। संसार का जो स्वरूप हमारे अवलोकन में एकत्र झलकता है उसमें यथार्थ वस्तुएँ जैसे सजीव स्त्री पुरुष, शब्द संगीत, रंग तथा कला के शेष अन्य माध्यमों से उद्भूत प्रतिच्छाया अथवा छवियाँ सब कुछ है। इस संसार को पढ़ना किस तरह सीखा जाय—यही एक समस्या है। अगर हम वास्तविक संसार के पढ़ने में कुशल हैं तो उसके प्रतिबिम्बों के पाठ में भी हम निपुण होना चाहिये। सौन्दर्य की पहचान करने वाली दृष्टि प्राप्त करने पर वस्तुजगत और कला के प्रतिबिम्बित संसार दोनों के अवग्रहण की योग्यता आ जाती है। इसी के साथ आत्मसंयम पौरुष और औदार्य तथा अन्य सभी सद्गुण और दुर्गुण को परखने की विवेकदृष्टि भी मिल जाती है। तब तुच्छ और महान् कही जानेवाली वस्तुओं से भी ज्ञान संकलित करने का कौशल प्राप्त हो जाता है और जब हम कला में सद्गुणों के प्रतिबिम्ब देखने और परखने में निपुण होते हैं तो यथार्थ जीवन में इन्हीं को अधिक महत्त्वपूर्ण अभिव्यंजना को पहचानना तथा मूल्यवान मानना अवश्यम्भावी है।

इसके आगे बढ़कर हम देखना चाहिये कि प्रत्यक्ष संसार अथवा सहज अनुभवगम्य जगत को इस ढंग से पढ़ने का अभ्यास उस दूसरे प्रकार से भी समझने की मानसिक तैयारी है। जो मनुष्य इस ढंग से शिक्षित होगा, उसमें सुन्दर तथा असुन्दर का भेद पहचानने की सहजवृत्ति का उदय होता है। तदनुकूल सुन्दर के प्रति प्रीति और असुन्दर की ओर घृणा होने लगती है यद्यपि उस प्रकार के भाव का स्पष्ट कारण कुछ देर बाद ही वह निश्चित करता है। किन्तु जिस मनुष्य के ऐसे संस्कार बन जाते हैं वह विवेक को सहज ग्रहण करता है क्योंकि उसके प्रति एक सजातीय भाव पहले ही बन चुकता है अथवा यों कहें कि विवेक से उसकी भावनाओं का सामंजस्य पहले ही हो गया था। प्लेटो की धारणा थी कि कला विषयक शिक्षा तथा विज्ञान और दर्शन की शिक्षा में वास्तविक एकरूपता है जिसकी देखभाल दर्शन काल में भी करते रहना चाहिये। मनुष्य की आत्मा शैशवकाल में नितान्त इन्द्रियबद्ध रहती है उसकी ग्रहणशक्ति बिलकुल अस्त व्यस्त रहा करती है। धीरे धीरे वह इन्द्रियों के तुमुल प्रभावों से आप ही स्वतन्त्र होता जाता है तथा जो कुछ ग्रहण करता है और जो कुछ सोचता है उसमें एक प्रकार की व्यवस्था तथा सूत्रता को प्रतिष्ठित किया करता है। इस प्रक्रिया को गति

देने मे पहले सौन्दर्यबोध, दूसरे विज्ञान और दर्शन की शिक्षा बहुत योग देती है। प्लेटो के मत से इन दोनो का मूल सौन्दर्यविवेक है जो आरम्भिक प्रत्यक्ष दशा मे ताल स्वरसंगति तथा सुरुचि बनकर प्रकट होता है। तत्पश्चात् नियमादि अथवा विधि या कानून जिन्हें बुद्धि द्वारा ग्राह्य माना जाता है उनका बोध होता है। उन्हें देखा सुना या अनुभूत नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार सौन्दर्यदर्शन की शिक्षा सचमुच आँख और कान की व्यापक शिक्षा है। इसका उपलब्धि आँख और कान का सहृतियाँ सुलभ कराने से होती है जो आत्मा को विश्वसौन्दर्य की व्याख्या से अवगत कराती है और उस सुन्दरता को स्वत सृजन मे समर्थ बनाती है। कलाकार आत्मा के निमित्त सुन्दरता के वातावरण का सृजन करके उसे सहजग्राह्य बनाता है और इस तरह आत्मा मे उस बोधशक्ति का प्रादुर्भाव होता है जिससे व्याप्त वैविध्य मे वह सौन्दर्य की प्रतीति करती है तथा उसमे ही वह सौन्दर्य का आत्मसात् कर लेती है।

विचित्र बात है कि प्लेटो शिल्पकला की अपेक्षा संगीतशास्त्र को जरूरत से ज्यादा नैतिक प्रभाव मे समर्थ समझता है। हम ग्रीक जाति को शिल्पियो का राष्ट्र मानते आये हैं, संगीतशास्त्रियो अथवा गायकों का राष्ट्र उसे हमने नहीं समझा। इसलिए हम आशा थी वह जिस तरह शब्दपूजा पर प्रहार करता है उसी प्रकार वह रूपपूजा पर भी आक्षेप करेगा परन्तु अनेक कलाओ की सूची मे शिल्पकला का केवल संकेत है नामोल्लेख तक नहीं है। यह निष्कर्ष उचित ही है कि ग्रीस की श्रेष्ठ शिल्पविद्या नैतिक प्रभाव की दृष्टि से इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं थी जितना हम उसे मानते हैं। इसके विपरीत ग्रीकजन मे शब्द की तालानुभूति का गुण था और कदाचित् इसीलिए तालबद्ध शब्दपुंज की विशेष ग्रहणशीलता उनमे होनी चाहिये। यही कारण है कि प्लेटो संगीत का (ताल और स्वरसंगति को) शब्दों की सहध्वनि जैसा लगातार प्रतिपादित करता आया है जिसका आत्मा पर अत्यन्त मर्मभेदी प्रभाव पडता है। 'पालिटिक्स' (Politics) मे अरस्तू भी इस ढंग से संगीत की चर्चा करता है और बताता है कि शिल्पकलाएं अपेक्षाकृत कम प्रभावी होती है।

मनुष्यदेह के लावण्य पर विचार करने के साथ ही सौन्दर्यबोध की चर्चा समाप्त हो जाता है। इस शिक्षा का वांछित प्रभाव जिस मनुष्य पर होगा, वही सचमुच बौद्धिक अथवा नैतिक रूप से महान है। इसी कारण सर्वत्र सौन्दर्य की विचक्षण ग्राहकता भी उसी मे है। फलत देह का अपेक्षा आत्मा-सौन्दर्य को वह

कहीं अधिक मूल्यवान समझेगा जो देहगत लावण्य प्रीतिकर आत्मा की व्यंजना नहीं है, उसके प्रति उस आकर्षण नहीं होगा। इस आशय के सौंदर्य में और पाशविक वासना के उन्माद में प्लेटो के कथनानुसार किसी तरह की संगति सम्भव नहीं है। अतिशय पीड़ा के समान अनियन्त्रित वासना भी मनुष्य को आपे से बाहर कर देती है। उसका मत है कि पागलपन और क्षणिक वासनाग्रस्त मनोदशा में यथार्थ सादृश्य है। ऐसे प्रबल वासनाजन्य प्रभाव के फलस्वरूप अनुभूति क्षमता प्रायः कुण्ठित हो जाती है। जो व्यक्ति किसी शोषक ईर्ष्या या भय अथवा अन्य उद्वेग की लपेट में रहता है उसके निर्णयबल का किसी को विश्वास नहीं होता। इसीलिए प्लेटो कहता है कि अतिशय वासनोद्वेग की दशा में सौंदर्यबोध असम्बद्ध हो जाता है। यह अनुभवसिद्ध सत्य है। कवियों के विषय में यह ज्ञातव्य है कि उन्होंने रचना प्रचण्ड भावावेश के प्रभावक्षण में न करके साधारणतः उसके पश्चात् ही की है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि जितनी गहरी सौन्दर्यानुभूति होगी, पशुसुलभ विषयासक्ति से वह उतनी ही कम सम्बद्ध रहेगी और इसका विपर्यय भी इतना ही यथार्थ है।

हम देखते हैं कि इस परिच्छेद में सौंदर्योपासक शब्द के अभिप्राय में विस्तार और उच्चतर भाव आ गया है। उसमें यह ध्वनि निकलती है कि वह ऐसा मनुष्य है जिसका सम्पूर्ण जीवन उत्कृष्ट कला का प्रतीक बन चुका है। कुछ आगे बढ़कर हमें पता चलता है कि सच्चा सौंदर्योपासक वह मनुष्य है जो स्वतः अपने जीवन को समरस कर ले, सौन्दर्यानुभूति भी उसके जीवन में उचित स्थान पाती है और व्यायाम तथा जीवन के अन्य तत्वों से उसके सम्बन्ध विवेकसंगत रहते हैं। कला से व्युत्पन्न ये और इसी के समान दूसरे वाक्यांश नीतिशास्त्र का जो वर्णन करते हैं उनसे ग्रीक नीतिशास्त्र को सौन्दर्यमूलक नीतिशास्त्र मानने की इच्छा हो सकती है। किन्तु सचाई यह है कि प्लेटो केवल सौंदर्यजनित विशिष्टताओं को ही नैतिक विशिष्टताओं के रूप में नहीं स्वीकार करता बल्कि सौंदर्य, स्वर संगति, ताल तथा ऐसे ही समानार्थी शब्दों को हमारी अपेक्षा व्यापक अर्थ प्रदान करता है।

५ विधि (कानून) तथा चिकित्सा सम्बन्धी उत्क्रम

अब व्यायामविद्या का विचार शेष रह गया जो शरीर की मांसपेशियों को विकसित करने का अभ्यास है। परन्तु प्लेटो इसकी चर्चा को बहुत विभिन्न विषयों में परिणत कर देता है। उसके चिन्तन की पद्धति संक्षेप में इस प्रकार है (क)

शरीर के प्रशिक्षण तथा नियमन के लिए प्लेटो वही सिद्धान्त प्रस्तुत करता है जिसका प्रयोग उसने कलाओं के लिए किया है—सरलता अथवा ऋजुता। जीवन की सरलता जहाँ एक ओर शरीर स्वास्थ्य के लिए हितावह है, वहाँ दूसरी ओर वह मानसिक संयम आत्मनिग्रह अथवा मिताचार में सहायक है। पहले से जो लाभ देह को है, दूसरे से वही आत्मा को है और दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं। (ख) इसी के आगे सिलसिले में एथेन्सवासियों के जीवन के दो समानान्तर प्रत्यक्ष विषय विचारणीय हो जाते हैं कानूनी कार्यवाही और चिकित्सा। इनमें से प्रथम विषय सदैव प्रधान समझा गया है और दूसरा विकास की नवीन दिशा में अग्रसर होता स्पष्ट दिखायी देता है। कानून तथा चिकित्सा का निरन्तर आश्रय सभ्यता के जाने माने दोष का प्रमाण है। प्लेटो दोनों के निमित्त शुद्ध सिद्धान्त निर्धारित करता है जिससे आधुनिक रोगग्रस्तता की आदत और पुरातन सरल जीवन का भेद उभर आता है। (ग) इसके साथ वह एक निपुण चिकित्सक तथा सजग न्यायाधीश के हेतु प्रशिक्षण की व्यवस्था में आवश्यक भिन्नता पर प्रकाश डालता है जो आत्मा तथा देह के भेद पर आधारित है। (घ) देह और आत्मा की साथ-साथ चर्चा उसे अन्तत इस विचार का ध्यान दिलाती है कि सौन्दर्य दर्शन तथा व्यायामविद्या यथार्थत आत्मा को प्रभावित करने के दो अलग-अलग दीखनेवाले पहलू हैं। उसके कथनानुसार शिक्षा का आदर्श इन दोनों में सामंजस्य लाने की क्रिया है ताकि समन्वित चरित्र का उदय हो और इसीलिए एकांगी शिक्षा के अशुभ परिणामों की ओर वह संकेत करता है।

(अ) पहले प्लेटो शारीरिक प्रशिक्षण की उपयुक्त पद्धति पर विचार करता है जो सुशील नागरिक योद्धा के निर्माण में सहायक हो। व्यवसायी मल्ल की योग्यता देनेवाली एक प्रशिक्षण व्यवस्था उस समय प्रचलित थी जिसे देखकर प्लेटो को लगता था कि आधुनिक जीवन की सामान्य जटिलता का वह एक अंग है। वह इसलिए उसको सदोष मानता है क्योंकि उससे सैनिक वृत्ति के अनुकूल शरीर को अभ्यास नहीं मिलता। प्रथमत यह प्रशिक्षण निद्रा की आदत बनाता है जो बीच बीच में थोड़े समय के लिए गम्भीर और असाधारण घटना से भंग हो जाती है। द्वितीय उसमें ऐसी शारीरिक वृत्ति बनती है जो भोजन और जल वायु तथा इसी प्रकार के दूसरे परिवर्तनों का सहन नहीं कर सकती। यह गुणागुण निरूपण अरस्तू के दृष्टिकोण से तत्त्वत मेल खाता है। शरीर के प्रशिक्षण में भोजन की शुद्धता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब यूनान राज्य अपनी प्रारम्भिक विकासावस्था से ऊँचा उठा तो वहाँ साइराक्यूज के पकवान सिसली की स्वाद

गन्ध सूक्ष्मता, एथेंस के मिष्ठान्न और भोगविलास की वस्तुओं का प्रसार होने लगा था। प्लेटो इन सबकी निन्दा करता है, इन्हें त्याज्य मानता है। इस प्रसंग में वह देह के आरोग्य तथा आत्मा के विग्रह में गहन सम्बन्ध का उल्लेख करता है और वह उस सम्बन्ध में अधिक महत्त्व का आशय रखता है जो मद्यपान जैसे उग्र दुर्व्यसन और उससे उत्पन्न रोग में हुआ करता है। हम समझते हैं कि सन्दूक में रखी वस्तु के समान आत्मा भी देह में बन्द कोई वस्तु है। प्लेटो की दृष्टि में आत्मा देह में एकता तथा गति का सनातन नियम है जिससे शरीर अन्तवर्ती और जीवन्त समष्टि बना रहता है।

(आ) जब देह में रोग और आत्मा में विषयासक्ति का बाहुल्य होता है तब कानून और औषधि उद्दण्ड हो जाते हैं। इनके वर्तमान फैलाव पर प्लेटो उसी तरह आक्षेप करता है जैसा उसने कला पर किया है। वह कहता है कि निरन्तर कानून की शरण लेना शिक्षा के अभाव का चिह्न है। चिकित्सक के बिना अपने आपको निरोग रखने की असमर्थता भी ऐसी ही है। स्पष्ट है कि प्लेटो की शिक्षा सम्बन्धी कल्पना कितना व्यापक अर्थ रखती है। उसी मनुष्य को शिक्षित कहना चाहिये जो अपना जीवन शारीरिक तथा नैतिक दृष्टि से नियमित रखने की युक्ति जानता है। अत्यन्त विद्वेषपूर्वक वह चिकित्साशास्त्र की उन्नति के विषय में लिखता है और उसे धनिक वर्ग का विलास समझता है जिन्हें स्वास्थ्य की परिचर्या के लिए कामकाज छोड़ने की गुंजाइश है। अगर कोई मनुष्य असाध्य रोग से ग्रस्त है और जीवन-व्यापार के अयोग्य हो गया है तो ऐसे जीने से उसका मरना अच्छा है जिस तरह ऐसी दशा में निर्धन मनुष्य को मरना ही पड़ता है। ऐसे निष्प्रयोजन लोगों को श्मशान से बचाकर रखने में चिकित्सकों की विद्या का दुरुपयोग नहीं कराना चाहिये। इस परिच्छेद का साधारण मन्तव्य यही है कि दुर्घटना और उसके समान विरले मामलों को छोड़कर प्रत्येक मनुष्य को अपने आप चिकित्सक की सहायता के बिना निरोग रहना चाहिये। यहाँ तक तो यह धारणा युक्तिसंगत है परन्तु चिकित्सा विषयक प्लेटो के विचार सरासर अतिशयोक्ति हैं। जीवन में सारल्य की तृष्णा ने प्लेटो को अत्यधिक निष्ठुर बना दिया है जिस प्रकार मितोपयोग की कट्टरता के कारण उसकी कला-सम्बन्धी धारणा बनी है। बहुतेरे समकालीन विचारक उसके चिकित्सा विषयक निरूपण को सर्वथा विपरीत गामी मानते होंगे और समझते होंगे कि वह सभ्यता की प्रगति के लाभ से स्वतः वंचित रहने का जानबूझकर हठ करता था। अनेक मामलों में से यह एक है जब सुधारवादी भावना से सम्पन्न, प्लेटो जैसा विलक्षण दार्शनिक मानसिक अवस्था के

साथ सामजस्य नहीं कर पाया। जिसे वह दुराचार समझता था, उसके प्रति अभय ने उसकी कल्पना भ्रष्ट कर दी। जो मनुष्य उपयोगी नहीं है, उसे मर जाने देने का नियम (जैसे सुधार से परे अपराधी को मार डालना चाहिये) यदि अपनाया जाये तो नितान्त भयकर परिणाम होगे। इस नियम को प्रकृति के अनुकूल उसे अमल में लाने की आज तक कोई विवेकसगत विधि नहीं मिली है। इतना ही नहीं हमें यह बिलकुल उचित लगता है कि जब लोग अपने जीवन की सार्थकता समाप्तप्राय मान लें तब अपने ही विवेक से यह निर्णय वे स्वत करें कि उन्हें जीवित रहना चाहिये अथवा नहीं। हमें यह बात भी समुचित जान पड़ती है कि अस्वस्थ और असाध्य रोगीजनों के रहने से अधिकांश सद्गुणों को प्रकट होने का अवसर मिलता है अन्यथा वे प्रच्छन्न ही बने रहते।

(३) प्रसगवशात् प्लेटो प्रश्न करता है कि क्या शरीरगत रोग और आत्मगत पाप तथा अपराध के तीव्र अनुभव समर्थ चिकित्सक और विवेकी न्यायाधीश के विकास हेतु आवश्यक नहीं हैं? उसका उत्तर है कि दोनों प्रकरण पृथक पृथक हैं। कुशल चिकित्सक को केवल रोग का वैज्ञानिक बोध ही नहीं बल्कि उसका विशद अनुभव भी होना चाहिये। उत्तम उपाय तो यही है कि अपने शरीर में ही वह अस्वस्थता का अनुभव करे क्योंकि उसकी दैहिक निर्बलता का आत्मा पर विपरीत प्रभाव नहीं पड़ेगा, और यह आत्मा ही दूसरों का उपचार करने के लिए उसका साधन है। परन्तु न्यायाधीश की बात निराली है यदि वह दुष्कर्म या पाप के मानसिक रोग का अनुभव अपने शरीर में करने लगे तो जिस आत्मा के द्वारा वह दूसरों की परख करनेवाला है वह स्वयं दूषित हो जायगी। इसी सिलसिले में वह कहता है कि जो मनुष्य दुष्कर्म या पाप की क्रिया से सुपरिचित है और फलत ऊपरी तौर पर वह चतुर दिखायी पड़ता है उसकी न्यायबुद्धि केवल उन्हीं प्रकरणों तक सीमित रहेगी जो उसके निजी अनुभव और चरित्र से मिलते जुलते हैं। अपने अनुभव-परिधि में आनेवाले नमूनों पर ही उसका न्यायक्रम टिका रहेगा और जहाँ भिन्न प्रकार के मनुष्यों का आचरण तथा उनके मनोगत भावों का गुणदोष विवेक करना पड़ेगा वहीं उसका न्यायबोध पगु हो जायगा। दृश्यमान जगत के ज्ञान की सीमा कतिपय अनुभवों तक ही जाती है और इसी कारण वह सिद्धान्तनिष्ठ अनुभव से बिलकुल अलग पहचाना जा सकता है। इस तथ्य का प्रयोग करें तो आत्मा को प्रारम्भ से ही स्वस्थ रखना चाहिये ताकि मानव स्वभाव के शुभाशुभ का वास्तविक ज्ञान उसे सुलभ हो। जो मनुष्य स्वस्थ परिवेश में बड़ा हुआ है जिसका मानस निरामय है, उसे दूसरों के अशुभ की

परख में भले कुछ देर लगे किन्तु अशुभ के स्वानुभव से आरम्भ करनेवाले व्यक्ति की अपेक्षा उसे अन्य लोगों के पापाचार का बोध कहीं अधिक अच्छी तरह होगा। प्लेटो के आशय का यह संकेत नहीं समझ लेना चाहिए कि दुनियाँ की मार खाये मनुष्य की अपेक्षा निर्दोष व्यक्ति मात्र चरित्र का बेहतर पारखी होगा। वह इस विवाद बिन्दु को रखता है मान लो कि मनुष्य-मात्र समान योग्यता रखते हैं तो क्या इस अभीष्ट के लिए यह हितकारी है कि उन्हें पाप या दुष्कर्म का विपुल अनुभव प्राप्त करना चाहिए अथवा उन्हें अपनी आत्मा को पाप से मुक्त रखना चाहिए और चरित्र परिपक्व होने के बाद जीवन के उत्तरार्द्ध में उन्हें पाप का अध्ययन करना चाहिये? इस विवाद को प्लेटो यों निपटाता है यदि मनुष्यों को प्रशिक्षण देकर न्यायाधीश पद के योग्य बनाना हमारा लक्ष्य है तो उत्तम नीति यही है कि जो शिवत्व उनमें नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से निहित है उसके श्रेष्ठतम विकास के ध्येय की पूर्ति में प्रशिक्षण सहायता देवे और फिर उनकी अन्तर्दृष्टि पर पूर्ण विश्वास रखा जाये। इसका अभिप्राय यह हुआ कि बौद्धिक और नैतिक स्वभाव का निश्चित दो भागों में बाँटना सम्भव नहीं है। जिसे ज्ञान कहते हैं वह मस्तिष्क का कोई ऐसा पृथक अंश नहीं है जो दूसरे भागों से सर्वथा अप्रभावित बना रह सके। यह भी सम्भव नहीं है कि आत्मा के एक भाग पर दुराचार का प्रभाव पड़े और दूसरे हिस्से की बौद्धिक अन्तर्दृष्टि उससे अछूती बनी रहे। कभी कभी हम इस तरह का ख्याल कर लेते हैं कि मनुष्य अपने व्यक्तिगत चरित्र से बौद्धिक निर्णय को अलहदा रख सकता है। प्लेटो इसका बलपूर्वक खण्डन करता है। चरित्र प्रभावित हुआ तो विवेकशक्ति भी बराबर प्रभावित होगी क्योंकि आत्मा एक और सतत है। प्लेटो ने छठवें और सातवें अध्यायों में दर्शन तथा दार्शनिक शिक्षा की समग्र कल्पना का प्रतिपादन आत्मा की बौद्धिक तथा नैतिक शक्तियों के निकट सम्बन्ध पर आधारित किया है।

यह प्रश्न हो सकता है कि मानव स्वभाव में निहित बातों के बोध की सम्भावना विषयक प्लेटो का मतवाद कहाँ तक अनुभव से प्रमाणित होता है जबकि इस सम्बन्ध में स्वयं हमारा अनुभव स्वल्प है। इसे सही बताना साधारण लोगों के बस की बात नहीं है परन्तु यह सत्य सिद्ध हो जाता है यदि हम केवल महापुरुषों और मानव स्वभाव के विशारद ज्ञाताओं और अन्तर्द्रष्टाओं के उदाहरण लें। प्रतिभावान पुरुष किस प्रकार विश्वबोध प्राप्त कर लेते हैं यह कोई नहीं जानता। शेक्सपियर का उदाहरण लीजिए उसके लेखन में व्यक्त मानव-स्वभाव के ज्ञान का स्वल्पांश भी उसके निजी अनुभव की उपलब्धि नहीं हो सकती। सच तो यह

है कि प्रतिभाशक्ति वह शक्ति है जो न्यूनतम सम्भव अनुभव से ज्ञान सचय कर लेती है। मनुष्य, मनुष्य क बीच सबस बडा एक अ तर अनुभव की मात्रा म है जो वस्तु के यथाथ बोध क लिए आवश्यक होता है। कुछ लोग हैं खास तौर पर नारियाँ, जो सहजभाव से दूसरा क चरित्र को समझन म कुशल दिखायी देती है। ईसा इसका सवश्रेष्ठ उदाहरण है जिसके बार म कहा जाता है कि साधारण अथ म पाप का निजी अनुभव न होने पर भी वह मनुष्य के समूचे स्वभाव का ज्ञान रखता था। किन्तु इस परिच्छेद म मुख्य मनोवैज्ञानिक प्रश्न यह है कि मानव प्रकृति का एक भाग दूसरे भागा स निस्सग रहकर कस सक्रिय हो सकता है, आचरण स बिलकुल विलग रहकर बौद्धिक निणय कस कायरत हो सकता है ? इस प्रसग म लोगा की धारणाएँ एक दूसरे स बहुत अधिक भिन्न हैं कुछ लोग मस्तिष्क क अवयवो को दूसर व्यक्तिया की अपेक्षा अधिक विच्छिन्न करने म सक्षम दीखत हैं।

(ई) *फिर सौन्दयदशन का सिंहावलोकन करक प्लटो व्यायाम विद्या क साथ* उसक सम्बन्ध सूत्र पर अपना अन्तिम वक्तव्य देता है। एक का विषय है आत्मा और दूसरे का शरीर परन्तु सचमुच दोनो ही आत्मा स सम्बद्ध है। कारण यह है कि व्यायाम विद्या म असावधानी अथवा उसके दिशाभ्रष्ट होने का सीधा प्रभाव आचरण पर पडता है जो सस्कृति क विषय म असावधानी अथवा दिग्भ्रम स किसी तरह कम नही समझना चाहिये। आत्मा म दोनो क सहकार स ही उन तत्त्वा का विकास होगा जो कुशल रक्षक के निर्माण म जरूरी है। व्यायाम के प्रशिक्षण की प्रतिक्रिया मनोभाव पर होती है। उचित प्रशिक्षण के फलस्वरूप वही मनोभाव पराक्रम और पौरुष का रूप धारण कर लता है, देह के अतिरिक्त शेष आत्मा की उपेक्षा करके प्रशिक्षण हुआ तो वह परुषता तथा अमानुषिकता म परिणत हो जाता है। साहित्य तथा कलाओ का प्रशिक्षण दशनतत्त्व को प्रभावित करता है यह मनुष्य के अभ्यन्तर का सुकोमल तत्त्व है जो आकषण को ग्रहण करने में निपुण है। यदि इसे सम्यक रूप स विकसित किया जाय तो मनुष्य नियतमानस या मिताचारी बन जाता है इसके अत्यधिक विकास से मनुष्य शिथिल पुसत्त्वहीन अस्वस्थरूप से ग्रहणशील अस्थिर तथा चरित्र बलहीन हो जाता है। शिक्षा की समस्या यहा है कि वह चरित्र के इन दोनो पक्षा म सामजस्य का आविर्भाव करे और वही सगीतज्ञ की उपाधि का सुपात्र है जो इस प्रकार मानव *स्वभाव को झकृत कर सके।*

□ □

आदर्श राज्य में प्रशासन के सिद्धान्त

प्लेटो शिक्षा की रूपरेखा को यहीं समाप्त कर देता है। उसने शासकों की बीस वर्ष तक की शिक्षा का स्वरूप निश्चित करने का प्रयत्न किया है क्योंकि इस आयु में पहुँचकर मनुष्य सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करता है। रिपब्लिक समाज में आत्मा के क्रमिक विकास का निरूपण है। आगे जो विषय इस खण्ड में प्रस्तुत होगा और जिसमें आदर्श राज्य की संस्थाओं की रूपरेखा अंकित है वह आत्मा के उत्थान की ऐसी अवस्था है जब तरुण नागरिक पहली बार जन मण्डल के प्रति अपने कर्तव्य और उसमें अपनी सही हैसियत को महसूस करता है। विषय प्रवेश के नाते उसका प्रश्न है जो सार्वजनिक सत्ताधिकार का पद सँभालनेवाले हैं और जिनके आदेश का पालन दूसरों को करना होगा उनका चयन किस सिद्धान्त के अनुसार उन लोगों में से किया जाना चाहिए जिनके प्रशिक्षण का विवरण इसके पहले दिया जा चुका है।

यह प्रश्न आत्मा के विकास की इस नयी अवस्था के प्रमुख तथ्य की ओर तुरन्त संकेत करता है। ज्योंही वह पहली बार व्यावहारिक जीवन में प्रवेश करती है त्योंही उसे सत्ताधिकारी की अधीनता स्वीकार करनी पड़ेगी और सत्ताधिकारी द्वारा अनुमोदित सिद्धान्तों को मानकर उनके अनुकूल अपना आचरण ढालना पड़ेगा। यह प्रश्न राज्य के विषय में भी मौलिक तथ्य को प्रकट करता है जिस पर चर्चा के समय हमें ध्यानपूर्वक विचार करना होगा। अर्थात जनमण्डल में ऐसे सत्ताधिकारी वर्ग की जरूरत है जो अधीनस्थ व्यक्तियों को कतिपय आस्थाओं अथवा सिद्धान्तों से लाभ उठाने के लिए बाध्य करे।

जिन लोगों को राज्य व्यवस्था का सचालन करना है उनके मनोभाव के स्वरूप पर ही यह प्रश्न निर्भर है कि शासकवर्ग का गठन किस प्रकार किया

जाना चाहिए। उन्हें राज्य के अभिभावक अथवा रक्षक की हैसियत से कर्तव्य निभाना है। और वही मनुष्य राज्य की रक्षा उत्तम रीति से कर सकेगा जिसकी निश्छल आस्था यह है कि राज्य के हित और उसके निजी हित अभिन्न हैं। यही निकष है जिससे यह ज्ञात हो सकता है कि जिन्हें हम प्रशिक्षित कर रहे हैं वे राज्य सचालन के योग्य हैं या नहीं। हमें ध्यानपूर्वक देखना चाहिए कि सभी परिस्थितियों में इन व्यक्तियों की यह आस्था अडिग बनी है या नहीं कि जनमण्डल का श्रेष्ठहित जिस कार्य से होता है वही उनका उत्तम कर्तव्य है। यही उनका धर्म है अर्थात् इस तरह की निष्ठा का व्यक्ति उसके आधारभूत कारणों को अविचारणीय मानता है। कारण स्पष्ट है कि जो मनुष्य सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करता है उसे दूसरों के हितार्थ कुछ सिद्धान्त स्वीकार करने का चाव होना चाहिए। हमें यह निश्चित रूप से विदित करना होगा कि ये लोग जनहित धर्म के विश्वस्त पालक हैं अथवा नहीं। इसका आशय यह है कि इन लोगों में उन प्रभावों को ठुकराने की क्षमता है अथवा नहीं जो इन्हें अपनी इस आस्था को त्यागने के लिए बाध्य करते हैं। ऐसी आस्था का अपहरण हो सकता है अर्थात् बौद्धिक प्रमादवश कालान्तर में आस्था विसर्जन हो जाय अथवा किसी के सुझाव से उसका ध्यान छोड़ दिया जाये। यह भी सम्भव है कि दुखभोग अथवा श्रमजन्य यन्त्रणा के कारण विवश होकर उसे त्यागना पड़े। हो सकता है कि सुख या भय के धोखे में पड़कर हम अपनी आस्था खो बैठें क्योंकि सुख अथवा भय भ्रम में डालकर या वस्तुओं की तरफ गलत निगाह बनाकर हमें ठग लेते हैं। अतएव जिन्हें हम शिक्षित कर रहे हैं उनके चरित्रगठन के सभी स्तरों पर इन प्रभावों से उन्हें परखते जाना पड़ेगा। यह जाँच बतायेगी कि वे स्वय रक्षा में समर्थ हुए हैं अथवा नहीं और जिस संगीत (जीवन संगीत) का अभ्यास उन्होंने किया है उसका ताल स्वर धर्म के समान उनकी निष्ठा का अंग बन पाया या नहीं। जो इस परीक्षा में उत्तीर्ण हों केवल उन्हें ही राज्य सचालन का भार सौंपा जाय। संक्षेप में यही सिद्धान्त है जिसके आधार पर सत्ताधिकार के योग्य व्यक्तियों का चयन किया जाय—इस सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा आगे होगी। यही लोग अन्त तक इस परीक्षा में टिके रहने से आयु बढ़ने पर सच्चे अभिभावक बनेंगे जो युवावस्था में होंगे वे अभिभावकों के सहकारी रहेंगे और उनके निर्देश का अनुसरण करेंगे।

इस परिच्छेद में दो सरल सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं जिनके कार्यान्वय हेतु विशिष्ट तन्त्र बनाने का प्रस्ताव भी है परन्तु वह तन्त्र कुछ विचित्र सा

लगता है। पहला सिद्धान्त है कि मनुष्य अपनी सामर्थ्य के अनुकूल जनमण्डल की सेवा म तत्पर होगा और अपने हित उसे समर्पित करेगा। दूसरा यह है कि जनसेवा म निर्गत व्यक्तियो की पदवृद्धि उसी अनुपात मे होनी चाहिये जिसमे व अपने दायित्ववहन का प्रमाण देते है। इनके अलावा एक पद्धति की कल्पना भी मिलती है जिसके अनुसार बाल्यकाल की शिक्षा का सिलसिला बराबर आयु वद्धि के साथ जारी रखा जाय और हर अवस्था म प्रगति की जाच होती रहे। यह कल्पना सामान्यत आधुनिक धारणाओ के प्रतिकूल है और शायद आग्ल मस्तिष्क को विशेष रूप से अटपटी लगेगी। इससे मिलती जुलती पद्धति जेज्विट सम्प्रदाय म मौजूद है।

अब इस प्रकार उच्चवग के तरुण नागरिको को सत्ताधिकारयुक्त उचित पद द दिया गया है। तदनन्तर यह समस्या है कि समूचे जनमण्डल मे उसके लिए ग्राह्य सत्ताधिकार का कैसे प्रतिष्ठित किया जाये? इस निमित्त दो सार भूत बातो का निर्वाह आवश्यक है—पहली, समग्र समाज की एकता तथा दूसरी सामाजिक कत्तव्य हेतु उसके अन्तगत वगभेद। किस आधारभूमि पर देश भक्ति (एक जनमण्डल क अगीभाव के अथ म) तथा सत्ताधिकार क प्रति समपण भावना जनमण्डल के शेष सम्पूण समुदाय के मन म स्थित होगी? प्लेटो के उत्तर को तकबद्ध करें तो यह आशय होता है कि जनता का बहुत बडा समुदाय इन सिद्धान्तो क मूल तक को ग्रहण करने म असमथ है, इसलिए उन्हें पुरातन घटनाओ की कथा म अनुरक्त करके इन सिद्धान्तो का उत्तम निर्वाह कराया जा सकता है। उन्हे पुराणकथा मे विश्वास करना सिखाया जाये जिसके फलस्वरूप वे अपने देश को माता समझें और अपने देश के अन्य नागरिको को अपना भाई मानें। इसके साथ ही उनकी यह आस्था भी बने कि वगभेद सहित समाज व्यवस्था दवी सस्था है। प्लेटो बतलाता है कि समाज म ऐसे व्यक्ति सदा रहग जो इस पुराणकथा को सत्य नही मानेंगे। उनकी यह मान्यता भी होगी कि देशभक्ति तथा राज्याधीनता किसी ऐतिहासिक परम्परा मे सम्भृत नही है वरन् मानव स्वभाव की रचना म यह मान्यता अन्तभुक्त है। किन्तु इन प्रबुद्ध जनो को छोडकर शेष जनता का समाज व्यवस्था म दृढ विश्वास बनाये रखने के लिए पुराणकथा का प्रसार करना होगा और यह विश्वास राजा के दवी अधिकार के प्रति निष्ठा के समान सुग्राह्य करना होगा।

प्लेटो जिस समाज-व्यवस्था म दवी गुण का समावेश करना चाहता है उसकी तुलना वण-व्यवस्था स की जा सकती है। किन्तु वण-व्यवस्था म जन्म

ही जाति का नियामक है जबकि प्लटो की व्यवस्था जन्म पर नही योग्यता तथा उपलब्धि पर आधारित है। वह अच्छी तरह जानता है कि सन्तान का चरित्र तथा योग्यता सदव माता पिता के अनुरूप नही हुआ करती, यद्यपि उनकी सामान्य प्रवत्ति इसी अनुसरण की ओर होती है। वह इसी बात पर जोर देता है कि प्रत्येक मनुष्य को विशिष्ट पदभार सौपना चाहिये तथा उसे अपनी योग्यता और चरित्र के अनुकूल कर्तव्य निभाना चाहिये चाहे उसक माता पिता की भूमिका भिन्न हो। इसीलिए वह ऐसा प्रबन्ध चाहता ह जिसके द्वारा बच्चे सामाजिक कर्त्तव्यो को निभाने म समर्थ बनें चाहे य कर्तव्य उनके माता पिता के कार्यों से बडे हो या छोट। अरस्तू और प्लटो वशजता क सिद्धान्त को सामान्य नियम समझते थे किन्तु प्लेटो चाहता है कि इस नियम के विपरीत परिणाम की सम्भावना का ध्यान रखकर अवसर के अनुरूप व्यवस्था भी रखनी चाहिये।

पुराणवत्त के उपयोग का जो प्रस्ताव प्लेटो रखता है, निसन्देह उसके अनुसरण स भयावह दुष्परिणाम हो सकते हैं। ऐतिहासिक सत्य की उपेक्षा करके कल्पनाजनित सत्य को सिद्धान्त मानना काफी खतरनाक है। परन्तु प्लटो क प्रस्ताव को प्रेरित करनेवाले मूलतथ्य को हम भुलाना नही चाहिय। इसे अस्वीकार नही किया जा सकता कि जितने लोग हैं सत्य उतने ही प्रकार का माना जाता है। अनपढ या अविकसित और विद्वान या विकसित मस्तिष्क धार्मिक राजनीतिक सामाजिक और वज्ञानिक सत्यरूपो की बिलकुल अलग अलग धारणाए रखते हैं। प्लेटो ने इस तथ्य को पहचाना है। उसकी आलोचना म हम भले यह कहते जायें कि समाज इस अवश्यम्भावी तथ्य की समथन के बाद भी प्रयत्न करता रहे कि उसके अन्तगत पिछडे वग का बौद्धिक स्तर ऊचा उठे और इस मौलिक तथ्य का प्रभाव मिट जाय। नियम रूप से इस कर्तव्य को आज मान लिया गया है। लेकिन यह मूल तथ्य जैसा का तसा बना हुआ है यद्यपि उसे समाप्त करन की दिशा म क्या नही किया गया? और सचमुच कोई मतभेद इस बात म दिखायी नही पडता कि जनता को ऐसे विश्वास रखने की छूट देनी चाहिये जिनम सत्य का साराश तो है चाह उसके प्रकट रूप म शुद्ध सत्य दिखायी न द। असल म सत्य क व्यक्तिगत स्वरूप की भिन्नताओ को हमे स्वीकार कर लेना चाहिय। साथ ही, हम यह यत्न भी करना चाहिये कि उसका स्वरूप यथासम्भव पर्याप्त हो ताकि सत्य की अधिकतम सचाई प्रत्येक व्यक्ति के लिए सही जान पडे। शिक्षा का वास्तविक अभीष्ट यही है।

हम देख चुके हैं कि समूचे सार्वजनिक जीवन में राज्य के अभिभावक या रक्षक तथा उनके सहकारी जनों पर चौकसी रखनी होगी और उन्हें परखते रहना पड़ेगा। देखना यह है कि वे कहाँ तक उन नियमों का अवलम्बन करते हैं जिनका ज्ञान उन्हें शिक्षा से प्राप्त हुआ है। उनकी पदोन्नति इसी के परिणामों पर निर्भर होगी। उनके विकास में दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह है कि उनके जीवन की बाहरी व्यवस्था उनके शिक्षा सम्बन्धी सिद्धान्तों के लिए हितकारी हो। इसके बाद जीवन प्रणाली का वर्णन किया गया है जो शिक्षा-पद्धति का पूरक है। अन्तिम लक्ष्य तो एक ही है, मनुष्य को यह प्रतीति कराने का उचित अवसर मिलना चाहिए कि वह सबसे पहले और सबसे आगे जनमण्डल का सेवक है। इसी ढंग से प्लेटो अपनी कल्पना के साम्यवाद का प्रथमतः प्रस्तुत करता है जिसे पाँचवें अध्याय में विस्तार दिया गया है और आगे चलकर हम इसकी पूरी चर्चा करेंगे। वह अपने सिद्धान्त को इस प्रकार व्यक्त करता है : अपनी शक्ति भर अपना निश्चित कार्य करने से ही मनुष्य को सुख मिलता है। आशय यह हुआ कि ऐसी कठोर व्यवस्था करना चाहिये ताकि मनुष्य इसके विपरीत कार्य कर ही न सके। अतएव सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करने पर युवक नागरिक किसी भी प्रलोभन में पड़कर जनहित की उपेक्षा न करने पाये। निवासगृह, भूमि अथवा निजी धन आदि का कोई अधिकार उन्हें नहीं मिलना चाहिये बल्कि एक प्रकार के सन्य-संन्यासतन्त्र के अन्तर्गत उन्हें जीवन बिताना चाहिये। मध्ययुगीन संन्यासतन्त्र का यथार्थ आशय इस प्रकार व्यक्त हो सकता है : आपका ध्येय ईश्वर सेवा है। इसे अपने जीवन के पार्थिव गठन में व्यक्त होने दो। जो ईश्वर-सेवा में सचमुच जरूरी नहीं है, ऐसी हर वस्तु के बिना रहो। प्लेटो भी इसी मत का है, सिर्फ ईश्वर के स्थान पर जनमण्डल रख देता है। दोनों मतों का विश्वास मूलतः एक है कि अपरिग्रह अथवा भौतिक सुविधाओं से वंचित रखने पर मनुष्य के चरित्र की दुराचारवृत्ति का हनन किया जा सकता है, इस तरह उसे एक विशिष्ट प्रकार की बाहरी जीवन पद्धति के लिए बाध्य करना जरूरी है। लेकिन इस प्रसंग में एक प्रश्न, किसी न किसी रूप में और विभिन्न प्रकार की प्रचुर मात्रा में सतत सजीव हुआ करता है : उपरोक्त प्रणाली कहाँ तक सचमुच व्यवहार में लायी जा सकती है? क्या समाज के लिए यह अधिक हितावह न होगा कि समुचित शिक्षा सुलभ कराने के बाद अपने सदस्यजनों का यथासम्भव स्वच्छन्द रहने दिया जाये? इस परिच्छेद में प्लेटो जो कुछ प्रस्तावित करता है उसे यूरोपीय इतिहास में अनेक सदियों तक अक्षरशः अमल में लाया जा चुका है। इस पद्धति में जो भी

हानि हुई यह निश्चित है कि उससे बडे पमाने पर जनकल्याण भी हुआ और लगता है कि अगर तत्कालीन परिस्थितियो म इस पद्धति का आश्रय न लिया गया होता तो क्या अन्य किसी ढग से यही लाभ मिल सकता था ? प्लेटो के ही युग म स्पार्टा सरीखे कुछ ग्रीक राज्य उसकी कल्पना के अज्ञात उदाहरण थे। इससे प्लेटो के पाठक यह दोष नहा निकाल सकते कि उसके विचार परस्पर विरोधी है। रिपब्लिक' म आदि स अन्त तक हम स्पार्टा के अखण्ड अनुशासन सिद्धान्त तथा एथेन्स के संस्कृतिपरक सिद्धान्त का सम्मिश्रण मिलता है।

प्रस्तुत प्रस्ताव मे हम शासको के सुख सन्तोष की व्यवस्था पर ध्यान देने के लिए उत्सुक करता है। यह जनसमूह बुद्धि तथा सत्ता से सम्पन्न है। क्या इन लोगो की दृष्टि म जो साधन सामग्री इनके जीवन को सामान्यत सार्थक करती है उससे इन्हे वंचित करने का विचार विवेकसम्मत होगा ? अभी तक प्लेटो के विवरण मे यही मिलता है कि इन लोगो की यात्रा पर प्रतिबन्ध है इन्हे गृहणी नही रखना चाहिये मित्रो का आतिथ्य वर्जित है निजी धर्माचार करना मना है इन्हे धन नही दिया जाये सिर्फ जरूरी चीजें मिलने का प्रबन्ध रखा जाये। इस विषय मे प्लेटो यह समाधान करता है कि अभी हम उस अवस्था मे नही पहुचे हैं जब यह प्रश्न विचारणीय होगा। फिलहाल इस नियम का हम पालन करके चलना है जिससे हमने व्यवस्था आरम्भ की है और जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य सम्पूर्ण जनमण्डल का एक अग है और इस तथ्य को लाँघकर जाने का कोई उपाय नही है। समष्टि के विचार का त्यागकर हम उसके एक अग या व्यष्टि को कसे सुखी बना सकते हैं—ऐसा निरर्थक प्रश्न नही उठाना चाहिये। अपने आशय को स्पष्ट करने के लिए वह एक दृष्टान्त लेता है यदि आप एक मूर्ति मे रग भर रहे हैं तो सिर्फ इसीलिये आँख म गहरा लाल रग नही भरेंगे कि उसे आप सुन्दर रग मानते हैं। और इसका कारण क्या है ? बात यह है कि सौन्दर्य भावात्मक वस्तु नही है वह मदद वस्तु का निश्चित गुण है जो दूसरी वस्तु के सान्निध्य म ही सार्थक होती है। इसी कारण चित्र बनाने म रग की भावात्मक सुन्दरता को मानकर नही चला जा सकता क्योंकि कुछ सम्बन्ध सत्रों के योग स कोई भी रग वीभत्स दिखायी देने लगेगा। तो आँख के विषय म समूचे शरीर स उसके सयोग की दृष्टि से विचार किया जायेगा। इसी के साथ सुखसन्तोष का मिलान करके सोचना होगा। लोग इस तरह बोलते हैं जसे सुन्दर निवास सरीखी कुछ चीज जीवन की सार्थकता के अनिवार्य उपकरण है। किन्तु सचमुच इन्हे इतना परिपूर्ण नही समझ लेना चाहिये। इन वस्तुओ के अच्छे

या बुरे होने का गुण उस मनुष्य पर निर्भर है जो इनका अधिकारी है। अत जहाँ तक हमारे अभिभावकों का सम्बन्ध है यह कथन व्यर्थ है कि श्रेष्ठ मनुष्य हैं इसलिए उन्हें उत्तम वस्तुएँ जरूर मिलना चाहिये। आश्चर्य की बात नहीं समझना अगर सबसे सुखी मनुष्य यही लोग निकलें। (जैसा पंचम अध्याय में है) लेकिन इस वक्त विचारणीय यह है कि जनमण्डल के हितार्थ इन्हें किस प्रकार योग्य या सुदक्ष बनाया जाये। असल में अपने कर्तव्य के मानदण्ड से ही इन व्यक्तियों की प्रतिष्ठा बनी है जिस तरह उचित कार्य के निमित्त ही शरीर में आँख की रचना हुई है। अतएव हमारा लक्ष्य अभिभावकों को नहीं बल्कि समूचे जनमण्डल को यथासम्भव अधिकाधिक सुखी बनाना है। प्रत्येक वर्ग का सुख हम प्रकृति को सौंप देना चाहिये जो हर वर्ग की योग्यतानुसार इसका बँटवारा करेगी। अर्थात् प्लेटो मानता है कि प्रत्येक वर्ग का सुखसन्तोष उन नियमों से उपलब्ध होता है जो मानवात्मा में निहित हैं और जिनका व्यक्तरूप ही उसकी निजी दशा है। इस वर्ग या उस वर्ग के सुख की बात उठाना निरर्थक है जब तक आप राज्य में प्रत्येक वर्ग के कर्तव्यों का उचित निर्धारण नहीं करते। अगर आप खेतिहर, मजदूर या कुम्हार को सुन्दर पोशाक पहना दें और उनसे कह दें कि अब कामकाज बन्द कर दो तो आप उन्हें सम्पपुरुष नहीं बना रहे हैं बल्कि जनमण्डल की सार्थक सदस्यता से उन्हें पदच्युत कर रहे हैं। फिर यह दशा न तो उनको सुखद होगी और न जनमण्डल को ही उनसे लाभ मिलेगा। सभी वर्गों के लिए यह लागू है।

यहाँ पहुँचकर हम अभिभावकों के कुछ अनिवार्य कर्तव्यों पर विचार आरम्भ करेंगे। उद्यमी वर्ग के लिए जो नियम अभी-अभी स्थिर किया गया है उससे हम सजग हो जाना चाहिये कि उनको अत्यधिक या अत्यल्प धन का स्वामी बनाना उनके कर्तव्यपालन में व्याघात उपस्थित करना है। पहली स्थिति में वे अकर्मण्य हो जायेंगे और दूसरी उनकी कार्यकुशलता का हनन करेगी। इसलिए यह नियम बना दिया गया है कि अभिभावकों का कर्तव्य मानकर राज्य में धनाढ्यता और दरिद्रता दोनों को दूर ही रखना पड़ेगा।

इसमें एक कठिनाई सामने आती है। क्या सम्पत्ति जनमण्डल की शक्ति नहीं है जिसे अपने अस्तित्व की रक्षा के हितार्थ अन्य राज्यों से जूझना पड़ेगा? प्लेटो इस सुझाव को निपटाते हुए ग्रीक राज्यों की तत्कालीन दशा पर कटु व्यंग्य करता है। इन राज्यों के स्थूलकाय धनिक तन्त्रवादियों से प्लेटो की कल्पना के अनुसार प्रशिक्षित बलिष्ठकाय नागरिक सहस्र। इस मिलान से हमें याद आती

है कि ग्रीस के धनिक तरुण मुष्टिप्रहार और मल्लविद्या के दूसरे कुछ हुनर जानते ही हैं अर्थात् उनकी शारीरिक शक्ति का सामान्यत ह्रास होता रहता है और व युद्धकला म अधकचरे रहते हैं। लेकिन इमसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि यदि कोई सचमुच सुगठित राज्य चाहे तो वह अ य ग्रीक राज्यो म स किसी एक के एक वग की वस्तु दूसरे को देने का वादा करके उसमें विद्रोह जगा सकता है। उनम स एक भी सचमुच नगर कहलाने लायक नहीं था उनके लिए कोई बडा-सा नाम ढूँढना पडेगा क्योकि प्रत्येक म कम स कम दो नगर—एक धनिक वर्ग का और दूसरा दरिद्र वग का—होता ही था। ग्रीक या बबर जाति का कोई राज्य ऐसा नहा मिलेगा जिसके पास एक हजार योद्धा हो और जो यथार्थत एक सूत्र म आबद्ध हो।

राज्य की अखण्डता क हित म अभिभावक यह ध्यान रखेंगे कि राज्य धन सम्पत्ति और दरिद्रता क बाहुल्य स बचा रहे साथ ही उसकी जनसख्या एक निश्चित सीमा तक बनाये रखने मे उन्हे सतक रहना पडेगा। जनसख्या इतनी अधिक न बढ़ कि एकता प्राय असम्भव हो जाय अथवा इतनी कम भी नही होना चाहिये कि वह अपनी जरूरतो की सम्यक पूर्ति के योग्य ही न रह सके। इसस भी कठिन काम यह है कि सजगतापूवक उन्ह समाज क वर्गों के विभाजन की निश्चित व्यवस्था कायम रखना है जिसका आधार जन्म नहीं योग्यता हो।

प्लटो व्यग्यपूवक कहता है कि य सब काम अभिभावक बहुत सरलता स कर सकते है। फिर वह व्यग्य का स्वर बदलकर स्पष्ट करता है कि यदि शिक्षा जसी मूलवस्तु का उचित निर्वाह किया जाये तो यह सब काम अपेक्षाकृत सरल हो जायेंगे। यदि जनमण्डल की भक्ति क सिद्धान्त की शिक्षा एकबार घर कर गयी तो सहज भाव स उन्ह इस सिद्धान्त के परिणामो का बोध हो जायेगा। इस मूलविषय का विस्तारपूवक समझाने के सिलसिल म प्लटो एसी कल्पना व्यक्त करता है जिसे हम उसके लेखन म क्वचित ही देखते हैं और वह है—प्रगति क प्रति सहजप्रवृत्ति सम्बन्धी कल्पना। यदि एक बार सविधान उचित आधार पर समुचित भावना स गतिशील बन जाये तो वह अग्रसर होने क साथ स्वय शक्तिसग्रह करता जाता है जसे पहिये की घूम के साथ उसकी चाल बढ़ती है। तो अभिभावको क मानस म सौन्दयबोध अथवा आत्मबोध रूपी प्रहरीकक्ष का निर्माण करना जरूरी है। इसके अभाव म कानूनी प्रबन्ध अनुपयोगी है। वह विरोधाभास के जोरदार ढग स कहता है कि सगीत की मान्य शलियो को कभी कही भी नही बदला जा सकता क्योंकि ऐसा करन से राज्य क हित को घातक सिद्ध होनेवाले गम्भीर परिणाम

हुए बिना नही रह सकते। कानून के प्रति अवज्ञा की भावना बहुत छोटी-सी शुरुआत से बडा रूप धारण किया करती है। जब यह आरम्भ सगीत म दीखता है तो शुरू म उससे हानि की शका नही होती। लेकिन धीरे धीरे यह प्रवृत्ति स्त्री पुरुष के मन म उतरने लगती है और समय बीतने पर उसका विघटनकारी बल असर करने लगता है। अतएव हमारे अभिभावको व मनोरजन की व्यवस्था तक की हमे अत्यधिक सावधानी रखनी पडेगी, उनके मनोविनोद भी नियमात्मक भावना म रगे होना चाहिए।

प्लेटो की यह मान्यता अतिशयोक्ति जान पडती है कि जनप्रिय सगीत की पद्धति मे परिवत्तन बडे राजनीतिक हेरफेर के चिह्न हैं यद्यपि उसने इस बात को बहुत सरल ढग से कह डाला है। आधुनिक लेखक इन बातो के आन्तरिक सम्बन्ध को काफी विस्तार से सिद्ध करना पसन्द करता, परन्तु आधुनिक चिन्तन म इस प्रकार की धारणाएँ विजातीय नही हैं। यह बात सन्देह से परे है कि व्यापक राजनीतिक उलटफेर के अग्रदूत स्वल्प परिवत्तन हुआ करते हैं बशर्ते हम सूक्ष्मदृष्टि से उन्हें पहचान सक। महाक्रान्ति के अनन्तर बहुधा लोग इन पूवगामी तुच्छ लक्षणो का अध्ययन करते हैं जैसा फ्रान्स की राज्यक्रान्ति और 'प्राचीन रिजीम' पुस्तक लिखकर माकटवेन ने किया था। किन्तु कोटि-कोटि जनता की मानसिक तथा नतिक दशा का पता ग्रीस के छोटे से स्वतन्त्र जनमण्डल के मनो भाव की भाँति सहजबोध्य नहीं है। यदि विश्वविद्यालय से छोटे जनमण्डल जसा कोई स्वतन्त्र राज्य हो, तो आज की अपेक्षा यह कहीं अधिक सच होता कि सगीत रुचि जसी बातो का हर परिवत्तन विचारणीय होना चाहिये। एथेंस जैसे राज्य म अलसिबाइडीज के समान कतिपय प्रमुख व्यक्तियो द्वारा सगीत म नवीन विधाएँ आरम्भ की गयी तो सबने उस पर ध्यान दिया और उसे बहुत महत्त्वपूण माना।

अभी जो कुछ वह कह चुका है उसके अनुसार राजनीतिक दशानन के नाते उन विषयो म सम्बन्धित कानून बनाने की विशेष चर्चा उचित नही है जिनका निरूपण उसने अभी तक नहीं किया। कानून के उपयुक्त विषयो में केवल पुलिस वाणिज्य तथा राजनीतिक सगठन ही नहीं है *बल्कि सामाजिक आचरण* वेशभूषा विनयोचित व्यवहार और एसे अन्य मामलो का भी वह उल्लेख करता है। स्पार्टा जैसे राज्य म लिखित कानून न होते हुए भी इन सभी बातो का पालन प्रथा प्रेरित था जिसम कानून जसी शक्ति थी। प्लेटो के कथनानुसार य सभी प्रश्न अपने आप हल हो जायँगे अगर अभिभावक निर्धारित शिक्षाप्रणाली के नियमो

को कायाकिन करते जायें। इसके विपरीत यदि शिक्षा के फलस्वरूप समुचित मनोभाव नहीं बना तो राज्य के छोटे-छोटे दोष मिटाने के लिए कानून बनाने से कुछ लाभ न होगा। केवल धार्मिक कर्मकाण्ड का विषय ही एसा है जिसकी चर्चा प्लेटो नही करता यद्यपि शिक्षा से उसका गहरा सम्बन्ध है। असल में इस विषय में उसकी गति नही है। इस मामले में सारे सवालो का फैसला डेल्फी के प्रमाण पुरुष को सौप देना चाहिये जो ग्रीक राष्ट्र की दृष्टि में स्वी भाष्यकार था। यह उदाहरण सिद्ध करता है कि प्लेटो कितना अनुदार था यद्यपि धार्मिक विश्वास के विषय में वह निष्ठुर क्रान्तिकारी समझा जाता था।

राजनीतिक कानूनों के उल्लेख से प्लेटो को कानूनी सुधारवादियो का उपहास करने की सुविधा मिल जाती है। सुधारवादियों का ख्याल यह है कि सविधान के मूलसिद्धान्त को अक्षुण्ण रखना चाहिये परन्तु उसकी तफसील में हमेशा हेर फेर करते रहना हितकारी है। प्लेटो सोचता है कि अभी जो राजनीतिक सस्थाएं हैं उनके सिद्धान्त तथा भावना में आमूल परिवर्तन प्रमुख आवश्यकता है और एक बार यह परिवर्तन हो चुका तो फिर उन्हें जैसा का तैसा रखना चाहिये। उसका मत है कि राज्य विशारद जिस कानूनी सुधार की बात करते है उसे कुवैद्य की औषधि के समान समझिये। यह विचार और यह रूपक कारलाइल प्रणीत 'पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट' (Past and Present) के एक अध्याय (मारीसन्स पिल्स) से बहुत मेल खाता है जिसमे वह अपने युग के सुधारकों की अच्छी धुन बनाता है।

यदि हम कानून विषयक सारी चर्चा के मूल में प्लेटो के सिद्धान्त का पता लगाना चाहें तो एकदम विरोधाभासी परिणाम हमारे हाथ लगता है। जिन बातो के लिए हम कानून बनाते हैं उन्हें वह छूता तक नही। जिन बातो के निमित्त कोई मनुष्य समद से कानून बनाने की कल्पना नही करेगा उनको वह कानूनी बल देना जरूरी मानता है क्योंकि उसकी राय में ऐसे कानून शिक्षा के महान् सिद्धान्तो से जुडे हुए हैं कलाकृतियो को इनसे नियमबद्ध किया जा सकता है और ऐसी ही दूसरी बात है। उसके मतानुसार कानूनी व्यवस्था के अधिकार की दृष्टि से शासन का कर्त्तव्य यह है कि वह जीवन के कुछ सामान्य और प्रारम्भिक सिद्धान्तो को स्थिर कर दे और इस प्रकार एक सामाजिक व्यवस्था बना दे जिसे जनता साँस लेने के समान स्वभावतः स्वीकार करके चलती रहे। यदि इतना कर दिया तो कानून बनाने में दी जानेवाली तफसील निरर्थक है क्योंकि तब लोग जो कुछ सहज ढंग से स्वयं करते है उसको नाहक कागज पर टीपना ही कहलायेगा।

लेकिन यदि इतना नहीं किया तो कानून बेमतलब है क्योंकि वह तो आत्मस्थ भावना को अछूता छोड़कर छोटी छोटी ऊपरी बातों की हेरा फेरी भर होगी। अरस्तू भी प्लेटो से इस बात में एकमत है कि राज्यममज्ञ की प्रधान समस्या नागरिकों में निश्चित चरित्रबोध की प्रतिष्ठा करना है। आधुनिक राज्य में इस धारणा को चरितार्थ नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि आधुनिक राज्य में कानून का प्रयोजन प्राचीन ग्रीस से भिन्न है उसका क्षेत्र सीमित है आज के युग में कानून और प्रथा, शासन और लोकमत की विभाजक रेखाओं के समान पुराने ग्रीस में कोई भेद नहीं था। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि राजनीति सम्बन्धी समस्याएँ चाहे जितनी महत्त्वपूर्ण हों, जीवन की नितान्त उपास्य वस्तुओं के विषय में संसदीय कार्यवाही तुलनात्मक दृष्टि से रत्तीमात्र भी ध्यान नहीं देती। हम इस सिद्धान्तरूप में स्वीकार कर चुके हैं कि शासन को राष्ट्र जीवन के सारभूत महत्त्व की वस्तुएँ अपने हस्तक्षेप के परे रखना चाहिये। दूसरी बात यह है कि ग्रीस में जो काम कानूनी व्यवस्था से होता था वह लोकमत द्वारा आज बहुत खूबी से हुआ करता है। प्लेटो और अरस्तू से हमारा मतभेद जनमण्डल के लिए मौलिक रूप से महत्त्वपूर्ण बातों में नहीं है बल्कि इसमें है कि राज्य का हस्तक्षेप किन मामलों में उपयोगी है और किन बातों को उसे हाथ नहीं लगाना चाहिये। इस प्रकार की भेदरेखा प्रत्येक युग और प्रत्येक देश अपने विवेक से स्वयं अलग-अलग बनाये। यह निश्चित है कि हम कानूनी व्यवस्था को ग्रीक जाति के समान कर्त्तव्य सौंपने का प्रयत्न कभी नहीं करेंगे इसीलिये जो लोग कानून से जीवन को नियमित करने का विरोध करते हैं और जो कानूनी व्यवस्था के अधिकतम उपयोग में जीवन की उन्नति करना चाहते हैं—इन दोनों में सनातन विरोध बना रहेगा। हमारी यह भावना सिद्धान्तरूप में व्यक्त होती आयी है कि प्रत्येक कानून का ध्येय अन्ततः अपने आपको निष्प्रयोजन बना देना है। यों कहना चाहिये कि समाज की व्यवस्था जितनी अधिक निपुण होती जायगी उतने ही कम कानून उसे जरूरी होंगे और उसी प्रमाण में थोड़े से सहज सिद्धान्त उसके जीवन को सुस्थिर और सुखी बना सकेंगे। इसके विपरीत यह मत भी है कि स्वतन्त्र जनमण्डल में जितनी अधिक वस्तुएं कानून से व्यवस्थित होकर भलीभाँति रहती हैं उससे सामान्य जीवन के सदाचरण का प्रमाण मिलता है। जनमण्डल में इसी से सदाचार के उत्कृष्ट स्तर का पता लगता है कि वह अपने विवेकी पुरुषों के बनाये कानूनों से अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग शासित रखने में प्रसन्न है। प्लेटो के चिन्तन में इन दोनों सिद्धान्तों का युक्तियुक्त स्वीकार किया गया है।

○ ⊙

न्याय के मूलस्रोत का निर्देश

चतुर्थ अध्याय का शेषांश तीन खण्डों में बंटा हुआ है (१) पहले खण्ड में प्लेटो राज्य के गुणों का स्वरूप स्थिर करता है। उसका विशेष ध्येय इन गुणों में न्याय-तत्त्व की खोज करना है। (२) इसके बाद वह आत्मा के स्वभाव की छानबीन करता है और प्रतिपादित करता है कि आत्मा की भीतरी परिस्थितियों का व्यक्तरूप ही राज्य के गुण है। अन्त में (३) इस छानबीन के परिणामों का प्रयोग करके वह व्यक्ति के गुणों को निश्चित करता है जिनमें न्याय भी एक है।

(१) समग्र जनमण्डल की रूपरेखा बना चुकने के बाद प्रश्न उठता है कि जिस न्याय की खोज करने हम चले थे, उसे इस जनमण्डल में कहाँ देखा जाये *और उसका आकार प्रकार क्या है? उत्तर में प्लेटो समग्र जनमण्डल की कल्पना* का वही विश्लेषण आगे जारी रखता है और समग्र जनमण्डल के प्रमुख तत्त्वों की समस्या को इस विशिष्ट रूप में प्रस्तुत करता है। इस जनमण्डल के गुण क्या हैं? अन्यत्र जैसा उसका रवैया रहा है यहाँ भी वह विश्वस्त धारणाओं को लेकर विचार शुरू करता है। समग्रता प्रमुख चार रूपों मे प्रकट होती है जो ग्रीक जाति के चार नैसर्गिक और धार्मिक गुण थे। प्रत्येक राष्ट्र और प्रत्येक युग की गुण विषयक निजी धारणा रही है तथा उसे वह अपने खास ढंग से व्यक्त करता आया है। ग्रीक जाति ने भी समग्र गुण की कल्पना के चार पहलू माने हैं विवेक साहस आत्मनिग्रह तथा न्याय। इस प्रकार प्लेटो बारी बारी से जाँचता है कि इन धार्मिक गुणों में से प्रत्येक किस प्रकार राज्य के जीवन में स्वतः प्रदर्शित होता है।

यह चर्चा जननिक प्रणाली का उदाहरण है जिसका प्लेटो ने रिपब्लिक में आद्यान्त अनुसरण किया है अर्थात् जो धारणाएँ आरम्भ से ही बनी हुई हैं उन्हें

प्लेटो यथाक्रम विकसित करता चलता है। राज्य के गुणों का अनुसन्धान और कुछ नहीं है, वह नागरिकों की उन कार्यपद्धतियों का गहन विश्लेषणमात्र है जो राज्य के संविधान में पहले ही प्रतिष्ठित की जा चुकी हैं। जब हम न्याय की परिभाषा करने लगते हैं तब असल में हम उस दृष्टिकोण का विशद निर्देश भर करते हैं जिसके अनुसार हमने राज्य के कल्याण पर आरम्भ में विचार किया है।

'रिपब्लिक' के विषय में बात करनेवाले लोग कभी-कभी इस तरह चर्चा करते हैं मानो राज्य की गुणवत्ता उसके घटक नागरिकों के गुण नहीं हैं बल्कि किसी अमानुषी वस्तु के लक्षण हैं। परन्तु प्लेटो व्यक्तियों के गुणों को ही राज्य की गुणराशि मानता है क्योंकि कतिपय व्यक्ति सार्वजनिक कर्तव्यों के माध्यम में जिन गुणों को प्रकट करते हैं, इसीलिए उन्हीं को वह राज्य के गुण बतलाता है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक राज्य में सुशासन है, तब वास्तव में हमारा आशय उन व्यक्तियों के गुणों से है जो शासन का संचालन करते हैं। जब हम किसी राज्य को विवेकवान्, पराक्रमी अथवा आत्मसंयमी कहते हैं तो वह कौन-सा गुण है और किस व्यक्ति में वह गुण स्थित है ?

प्लेटो विवेक पर पहले विचार करता है। यह एक प्रकार का ज्ञान है, लेकिन किस तरह के ज्ञान से राज्य विवेकवान् होता है ? राज्य के लोग चतुर किसान हैं अथवा लकड़ी की चीजें बनाने में कुशल हैं लेकिन इसी कारण राज्य को विवेकवान नहीं कहा जा सकता। राज्य को विवेकवान् कहना तभी उचित है जब उसका ज्ञान जीवन के किसी खास क्षेत्र में ही प्रवृत्त न हो बल्कि वह अपने आन्तरिक विषयों का कुशलतापूर्वक निभाव में सफल हो और दूसरे राज्यों के साथ अच्छे सम्बन्ध रखे। विवेक का सारतत्त्व उचित मन्त्रणा अथवा विचारणा है। इसलिए यदि हम कहें कि विवेक किसमें निवास करता है तो उत्तर एक ही है कि जो शासन के मन्त्रणात्मक कार्य का निर्वाह करते हैं उनमें विवेक का अधिष्ठान खोजना चाहिए। विचारणा शक्ति विरल होती है। राज्य में बहुतेरे निपुण लोहार मिल सकते हैं परन्तु समय राज्य विशारद कई नहीं होते। अतः प्लेटो इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को दृढ़तापूर्वक घोषित करता है कि राज्य के मन्त्रणात्मक कार्य में केवल थोड़े से व्यक्तियों को अवसर देना चाहिये। उसकी दृष्टि में यह प्रकृति का नियम है कि बहुत थोड़े से मनुष्यों की मानसिक रचना समूचे जनमण्डल के शुभचिंतन का भार वहन करने में समर्थ होती है। प्रवीण अभिभावकों में ही राज्य के विवेक विचार का वास रहेगा, यही मन्त्रिपरिषद् है जो व्यवस्थापिका तथा प्रबन्धकारिणी के रूप में राज्यकार्यों का संचालन

करगी। हम देख चुके हैं कि अभिभावक के सम्पूर्ण आशय म यही व्यक्ति सारा शासन सँभालेंग और तरुण अभिभावक इनके आदेश का पालन करेंगे। साराश यह ह कि जनमण्डल का हित परम लक्ष्य ह जिसकी उपलब्धि राज्य का दायित्व है। इस विचार म जो कुछ अभी विस्तार स बताया गया ह वही यहाँ विवेक का आशय ह और इसी को बाद म साहस के विषय म व्यक्त किया जायगा। तो विवेक अभिभावकों का गुण ह अर्थात् सम्पूर्ण राज्य के हित का उन्हें जो ज्ञान ह वही उनका गुण है।

इसके बाद साहस को लीजिय। (व्युत्पत्ति स इसका अथ पौरुष है) राज्य की सेना म ही उसक पौरुष या साहस का पता चलता है। यह मतलब नहा है कि जनमण्डल के शौय का ज्ञान केवल उसक सनिकों स होता है अपितु केवल उनके आचरण म ही समूचे जनमण्डल के शौय अथवा उसकी भीरुता का आविर्भाव हो सकता है। लेकिन प्लेटो साहस के बाहरी प्रकटरूप की बात को तुर त उसकी आ तरिक प्रकृति की ओर मोड़ देता है। फिर वह उसकी अजीब सी परिभाषा करता है। उसक विचार से साहस युद्धक्षेत्र म प्रकट वीरता नहीं ह वरन् सभी अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों म किससे भयभीत होने और किसस नहीं होन के विषय म अपना *यथाथ सम्पत्ति की सतत सुरक्षा* है। एक पूव परिच्छेद म ठीक इसी गुण का वणन वह कर चुका है जिस यहाँ वह साहस कहता है। वहाँ उसन उन प्रभावों का उल्लेख किया था जिनक कारण मनुष्य अपन विश्वास खो सकता है। तरुण अभिभावक इसी कसौटी पर कस जायेंग। जनमण्डल का सौख्य सर्वोपरि है—केवल यही आस्था है जिसस विदित होगा कि सारे प्रभावों के बाद भी व इस पर अटल रहन योग्य हैं अथवा नहा। यहाँ एक बात और कही गयी है किस बात से भीरु या भयभीत होना—इस विषय म उन्ह सभी दबावों के रहत हुए भी अपनी निश्चित धारणा मे अविचलित रहना चाहिय। भीरुता का आशय है—कोई एसी घटना या बात जो भय को उत्तेजित कर और मृत्यु इसका खास उदाहरण है। लेकिन बहुतेरी दूसरी वस्तुए हैं जिन्ह हम *स्वभावत दूर रखना चाहते हैं। सभी प्रकार की पीड़ा अथवा सुख* का अभाव हम कुछ न कुछ भयप्रद लगता है। इसलिए युद्ध मे जो शूरता प्रकट होती है साहस अथवा भयविरोधी शक्ति का वही एकमात्र रूप नहीं है। वह एक विशेषता सूचक रूप अवश्य है किन्तु यह शौय भी अ तत उचित के प्रति अपन विश्वास की दृढ़ता पर टिका रहता है। इसके साथ जो बातें हमे अपन कत्त य स विमुख कर सकती है उनका समुचित मूल्याकन करने की क्षमता भी

होनी चाहिये। इसी को कहते हैं—साहस अथवा पराक्रम। ऐसे पराक्रमयुक्त सदस्यों का चयन करने में राज्य को अत्यन्त सावधान रहना होगा। जिस प्रकार रंगरेज को खूब ध्यान में ठीक रंग का चुनाव करना चाहिये और उसे बड़ी मेहनत से रंगने के लिए तैयार करना चाहिये बिलकुल इसी प्रकार हम अपने इष्ट की जरूरत के अनुसार वांछित स्वभाव के व्यक्तियों का चुनना होगा। फिर प्रारम्भिक शिक्षा देकर उनकी मनोभूमि को तैयार करना पड़ेगा ताकि कानूनी व्यवस्था के आज्ञापालन का अभ्यास सहज होने लगे। इस तरह कानून के रूप में व्यक्त आस्था का रंग उनके स्वभाव में ऐसा मिल जाये कि धुलायी से कभी फीका न पड़े। प्लेटो नागरिकों के इस साहस को असभ्य और गुलामों के साहस से भिन्न बतलाता है क्योंकि इन लोगों का चरित्र अभी ऊपर वर्णित गुणों को प्रकट नहीं करता। शिक्षा से इन लोगों का स्वभाव संस्कृत नहीं हुआ और इसीलिए न्यायप्रिय और लक्ष्यपूर्ण होने के कारण कानून का अनुसरण नहीं कर सकते। विषय को यहीं छोड़कर प्लेटो कहता है कि साहस का विवरण अभी समाप्त नहीं हुआ है और साहस की कल्पना को पूर्णतः प्रस्तुत करने के लिए बहुत-सी बातें अभी शेष हैं। आखिर इसका आशय क्या हुआ? वह साहस को उस सत्ताधिकार के अर्थ में प्रयुक्त करता है जो निश्चित प्रकार की आस्था को स्वीकार करा सकता है और इस तरह बनी धारणा को स्थिर रखने में सफल होता है। एक प्रकार का साहस ऐसा भी होना चाहिये जिसका प्रादुर्भाव अपने विवेक और विश्वास में होता है। इस सद्गुण की चर्चा बाद में और की गयी है। इस प्रकार साहस की संकुचित कल्पना से आरम्भ करके प्लेटो उसमें उन सारे लक्षणों का समावेश करता है जिसे नैतिक साहस कहते हैं। वह सैनिक के साहस को इस व्यापक नैतिक तत्त्व का एक विशेष उदाहरण मानता है।

यहाँ और आगे यह विशेष ध्यान देने की बात है कि प्लेटो किस तरह सद्गुणों को शक्ति-लक्षण के नाम से पुकारने लगता है। गुणों को भावात्मक वस्तु समझ लेना सरल है अथवा उन्हें मनुष्य के साथ बाहर से जोड़ी हुई अनुपयोगी वस्तु समझा जा सकता है। परन्तु प्लेटो गुणों को शक्तिपुंज के रूप में दृढ़तापूर्वक प्रस्तुत करता है। वे किसी उपलब्धि के निमित्त शक्ति के उपकरण हैं। ग्रीक भाषा में महान सद्गुणी पुरुष का अर्थ वह मनुष्य होता है जिसमें कुछ निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने की विपुल सत्ता रहती है।

आत्मसंयम का गुण राज्य के संविधान में अन्तर्निहित है जिसमें उच्च और निम्न वर्गभेद का उल्लेख है और सामान्यतः नागरिक इस उचित भेद मानते हैं।

आमतौर पर जिस अर्थ में इस शब्द का उपयोग हुआ करता है उसे ध्यान में रखकर प्लेटो आत्मसंयम का भावार्थ इस प्रकार करता है अपने आप में अधिक शक्तिमान अथवा आत्मभाव का स्वामी। लगता है कि इसमें एक परस्पर विरोधी भाव है जिसका स्पष्टीकरण यही हो सकता है कि आत्मभाव सरल नहीं जटिल है और उसमें उच्चतर तथा निम्नस्तर होते हैं। जब हम आत्मभाव का स्वामी कहते हैं तब यह आशय हो जाता है कि आत्मभाव का एक भाग दूसरे पर शासन करता है। समाज के प्रसंग में इसे देखें तो क्या इस आत्मसंयम के लक्षण व्यापक रूप से वहीं दिखायी देते हैं? हम देखते हैं कि आत्मा के महत्तर तत्त्वों का विकास प्रमुखतः राज्यशासन में सक्षम अल्पसंख्यक व्यक्तियों में होता है और निम्नतर लक्षण जनसाधारण में पनपते हैं। यदि किसी राज्य को आत्मसंयमी कहलाने का हक है तो स्वभावतः श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ व्यक्तियों का भेद करना ही पड़ेगा और श्रेष्ठ व्यक्ति शासन के अधिकारी माने जायेंगे। इतना ही नहीं राज्य के सभी वर्गों को इस भेद के विषय में एकमत भी होना चाहिये और उन्हें इसी भावना में निर्मित संविधान को उचित समझना होगा। अश्रेष्ठ वर्ग बिना इस एकमत निर्णय के भी अधीन रखे जा सकते हैं परन्तु यथार्थतः आत्मसंयमित राज्य में सर्वसम्मति से यह निश्चय होगा कि शासक कौन हो और कौन आदेश का पालन करे? ऐसी स्थिति में ही हम आत्मसंयम को एक स्वरसंगति अथवा एकतानता कह सकते हैं चाहे वह राज्य के सार्वजनिक जीवन सम्बन्धी कार्यों में प्रकट हो अथवा अपने स्वभाव के विभिन्न अंगों का नियमित करनेवाले व्यक्ति पुरुष में। सारभूत तथ्य है—विभिन्न तत्त्वों में एकता। इसी से यह नहीं कहा जा सकता कि यह एकता किसी एक वर्ग में दूसरों की अपेक्षा अधिक है जैसे यह कहना गलत होगा कि समवेत संगीत के किसी खास स्वर में दूसरे की अपेक्षा एकतानता अधिक है।

अन्त में न्याय का प्रश्न है। सुकरात चकितभाव से कहता है कि कब से न्याय हमारे पैरों के पास लुढ़कता आ रहा है। समाज विषयक अध्ययन के आरम्भ में ही हम एक सिद्धान्त को उभरते हुए देख चुके हैं। पहले वह आर्थिक रूप में था फिर वह अधिक सामान्य रूप में दिखायी दिया। सिद्धान्त यह है कि राज्य का प्रत्येक मनुष्य केवल उसी एक कर्त्तव्य में अपना सर्वस्व लगा दे जिसके लिए वह स्वभावतः परम दक्ष है। रूप चाहे जो हो न्याय ही यह सिद्धान्त होना चाहिये। जनवाणी में इस सचाई की पुष्टि होती है क्योंकि न्यायप्रिय मनुष्य की ——— ——— पहचान के लिए लोग कहते हैं वह अपना काम करता है। लेकिन

इसे सिद्ध करने के लिए हमें पता लगाना पड़ेगा कि अन्य तीन गुणों पर विचार करके उन्हें छोड़ देने के बाद राज्य की सामर्थ्य का कौन-सा तत्त्व शेष रह गया है और न्याय ही वह शेष तत्त्व हो सकता है। यह ऐसा शेषतत्त्व है जिसके बल पर दूसरे गुण बने रहते हैं और जो उनके अस्तित्व का पोषण स्वयं करता है अभी इसी सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है। प्लेटो के कथन का भावार्थ इस प्रकार समझ सकते हैं ऐसे एक जनमण्डल की कल्पना की जा सकती है जो बुद्धिचातुर्य, साहसिकता और सामान्य मत की भावना से युक्त हो। किन्तु उस जनमण्डल के विभिन्न वर्गों में से और अलग अलग व्यक्तियों में से प्रत्येक में अपने कर्त्तव्य निर्वाह की क्षमता का अनिरिक्त गुण न हो और अपने काम में एकाग्रचित्त होने की योग्यता न हो, तो बुद्धिचातुर्य का विकास विवेक अथवा शासनिक सामर्थ्य में नहीं हो सकता, साहसिकता भी अनुशासित पराक्रम नहीं बनेगी तथा सामान्य मत भी कोरी भावना रह जायगा क्योंकि उससे सर्वसम्मत राज्य की स्थापना नहीं हो सकती। प्लेटो की दृष्टि में न्याय अपने कर्त्तव्य में व्यक्तिगत एकाग्रता की शक्ति है। यदि इस अर्थ में मनिक न्यायी है तो वह सच मुच शूरवीर पुरुष है। यदि अधीनता में रहकर मनुष्य न्यायप्रिय है तो वह सत्ता धिकार को सहजभाव से स्वीकार करता है और उसका पालन करता है अर्थात् वह आत्मसंयमी है। इसी कारण राज्य के गुणों में न्याय की भी गिनती की जा चुकी है और भले वह अनेक विशेष प्रकार के कार्यों में स्फुरित होता है जिन्हें विशिष्ट अर्थ में न्यायोचित कहा जाता है और जिन्हें दूसरे गुणों के नाम लागू नहीं होते तथापि न्याय वास्तव में सभी गुणों के अस्तित्व का निमित्त कारण है। अन्य प्रत्येक गुण सचमुच न्यायभावना का विशेषतः प्रस्फुटित रूप है जो जन मण्डल में मनुष्य के कर्त्तव्य के अनुरूप पृथक पृथक आकृति धारण करता है। आधुनिक ढंग से उसे कर्त्तव्य भावना का समानार्थी समझना चाहिये।

इसी बात को आगे बढ़ाकर प्लेटो न्याय की मूलप्रकृति सम्बन्धी अपनी धारणा को पुष्ट करना चाहता है। अभी अभी जिस न्यायगुण का वर्णन किया गया है उसमें जनमण्डल के अन्य गुणों के समान ही हितावह फल देने की क्षमता है। इस लक्षण का मूल उस नियम के साथ होता है जिसके आधार पर यह माना जाता है कि न्यायाधीश को ही न्याय करने का अधिकार सौंपना चाहिये। नियम यह है कि प्रत्येक मनुष्य को वही दायित्व मिलना चाहिये जो उसकी मूलभूत योग्यतानुकूल हो। अन्त में इस नियम के प्रतिकूल व्यवस्था होने से राज्य के हित की जो हानि होगी उसका कल्पना नहीं की जा सकती अर्थात प्रत्येक व्यक्ति

अपन निर्धारित कत्तव्य की अवहलना करने लगे और दूसरा क काय म हस्तक्षेप करना शुरू कर द। इस प्रकार स्पष्ट है कि यदि हम साधारणजन के मामूली बोलचाल का सही मतलब लगाये अपने निर्धारित कत्तव्य म ही ध्यान दें तथा दूसरा क काम म मीनमख न निकाल तो जनता क इस आशय को गहरी दृष्टि स ग्रहण करन पर हम उसम वही सिद्धान्त या नियम प्राप्त होगा जिसकी खोज हम कर रह हैं।

२ लकिन प्लटो अभी भी याय क सम्ब ध म कोई अन्तिम घोषणा नहीं करना चाहता। न्याय का जो स्वरूप अब तक बना है उसी को लकर हम वैयक्तिक आत्मा का विश्लेषण करेंग और दखग कि न्याय की इस कल्पना का प्रयाग ठीक है अथवा नहीं। ठीक निकला तो याय की यह कल्पना उचित माननी पडेगी। एक सुशासित राज्य म उसक प्रत्यक गुण का बहिरग और अ तरग स्वरूप हुआ करता है। प्रत्येक गुण जनमण्डल के सवजनीन जीवन म प्रत्यक्ष दीखन वाले कुछ तथ्यो की अभिव्यक्ति करता है। हम जान सकते हैं कि जनजीवन म शासनिक सामथ्य सनिक सुरक्षना सावजनिक मतक्य और सभी वर्गों को अपन सामाजिक कत्तव्यपालन की सुविधा का प्रबन्ध है या नहीं। इसक साथ साथ प्रत्यक गुण कुछ निश्चित जनो म एक प्रकार की मनोदशा या मनाभावना प्रकट करता है जो इन तथ्यो की ओर विशष ध्यान दिलाती हैं और उनके प्रादुर्भाव म याग देती है। प्लटो इसी बात म सबस ज्यादा दिलचस्पी रखता है और आत्मा म स्थित न्याय क्या है—इस प्रश्न का आशय भी यही है। वह समग्र जनमण्डल की छानबीन तब तक जारी रखना चाहता है जब तक उसे मानव स्वभाव म उसक मूलस्रोत का ज्ञान न हो जाय। इसी क द्वारा वह सिद्ध करता है कि जनमण्डल क सदस्यो की कुछ मनोवैज्ञानिक स्थितियो पर ही सावजनिक गुण आश्रित है।

यह सम्बन्धसूत्र आत्मा क विश्लेषण स ही प्रकट हो सकता है। इसके लिए प्लटो मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का उपयोग करक उसी ढग स विचार विमश करता है जिस तरह उसन पूव चर्चा म शिक्षा का निरूपण किया है। छानबीन का शुरुआत इस जिज्ञासा से होती है कि आत्मा क विभिन्न रूप अथवा उसके भिन्न भिन्न अग प्रत्यक व्यक्ति म कौन कौन स है? किस निश्चित मतबिन्दु स वह इस शोध का आरम्भ करता है और रिपब्लिक की तकपद्धति के विकास म उसका क्या योग है? समाज क विश्लेषण स स्पष्ट हो चुका है कि प्रमुख सामाजिक कर्त्तव्य तीन हैं—मन्त्रणात्मक अथवा शासनिक रक्षणात्मक अथवा

व्यवस्थापक तथा उत्पादक। यह भी देख लिया है कि इन तीनों कर्त्तव्यों को अपने विशिष्ट रूप में ही रखने और इनमें से प्रत्येक के समुचित निर्वाह करने पर समाजहित निर्भर है। क्या समाज के इस संगठन का कोई अधिक गम्भीर कारण ढूंढा जा सकता है? क्या कर्त्तव्य विभाजन मनुष्य-स्वभाव की रचना पर आश्रित है? यदि यह ठीक है तो क्या हम यह नहीं जान लेते हैं कि घटक मनुष्यों के यथोचित कर्त्तव्य-पालन पर ही समाज का कर्त्तव्य निर्वाह टिका हुआ है? तब स्पष्ट है कि न्याय और अन्य गुण राज्य में बसे कुछ निश्चित मनुष्यों के बीच खास ढंग के सम्बन्ध में रहते हैं। और ये सम्बन्ध भी मनुष्य की आत्मा में रहनेवाले कुछ तत्त्वों के क्रम ही समान सूत्रों की अभिव्यक्ति है। इसीलिए प्लेटो का निश्चित मत है कि जहाँ तक न्याय के स्वरूप का सम्बन्ध है (अथवा उसमें निहित सिद्धान्त का) वह एक ही वस्तु है चाहे वह राज्य में प्रकट हो अथवा एक मनुष्य में। दूसरी तरह कहें तो आत्मा के उचित कर्त्तव्य निर्वाह में हम सिद्धान्त का प्रायः वही रूप पाते हैं जिसमें राज्य का सम्यक् कर्त्तव्य-पालन नियमित होता है।

इस विवाद का आरम्भ करते हुए प्लेटो कहता है कि वह जिस पद्धति से न्याय की परिभाषा करना चाहता है उससे वह सन्तुष्ट नहीं है। 'रिपब्लिक' के आगामी भाग में वह इस परिच्छेद का फिर उल्लेख करता है। परन्तु इस ग्रन्थ के अन्य भागों में ऐसी ही पद्धति अपनायी गयी है। कुछ दूर तक वह जनता की चलती धारणाओं को ग्रहण करता है उन्हें माँजता है उनमें परिवर्धन करता है और कहीं कहीं अपनी पूर्वग्रहीत धारणा का प्रयोग करके इन जनप्रिय मान्यताओं के गुणदोष का विवेचन करता है। उसके मतानुसार यह स्वयंसिद्ध सत्य है कि राष्ट्र या राज्य का चरित्र उसके निवासियों का व्यक्तिगत चरित्र है। उसने ग्रीक, सीथियन, थ्रेसियन, फोनीशियन तथा ईजिपशियन जाति के लोगों का अवलोकन किया था। इसलिए वह कहता है कि विविध राष्ट्रों के नागरिक जिस स्वभाव और चरित्र का प्रदर्शन करते हैं वह उस राज्य में बसे अनेक वर्गों के आचरण चिह्नों का सकलित रूप है। प्लेटो के समक्ष यह प्रश्न है कि आत्मा के जितने विभिन्न कार्य हैं और जिन्हें हम विशेष वर्गों अथवा विशेष राष्ट्रों के चरित्र प्रतीक समझते हैं उनके द्वारा सम्पूर्ण आत्मा क्रियाशील होती है या उसका केवल एक रूप या भाग। जाने क्यों प्लेटो को यह प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण लगता है? यदि कहीं यही बात सच निकल आयी कि इन विविध कार्यों में से प्रत्येक में आत्मा समानरूपेण पूरी तरह डूबी हुई थी (इनमें से प्रत्येक कार्य एक सामाजिक

वग के क्त्तय का विनेप लक्षण है) तो सवाल होगा कि कोई भी एक आत्मा किसी भी एक सामाजिक काय म समान रूप स पूरी तरह दत्तचित्त हा सकती है या नही और कोई भी एक मनुष्य इसी प्रकार समानरूपेण पूरी तरह से गवनर या सनिक या व्यापारी हो सकता है अथवा नही। प्लटो की कल्पना क अनुसार समाज का समूचा ढाँचा इस तथ्य पर आधारित है कि उपरिलिखित कत्त य आत्मा के विभिन्न अवयवो के काय है और प्रत्यक मनुष्य म इनम स प्रत्यक अग आनिक रूप स रहता है तथापि अलग अलग मनुष्यो म अलग अलग रग स इन विभिन्न अगो का विकास हुआ करता है।

इस प्रश्न की अथव्याप्ति का निश्चित करन के लिए प्लेटो पहले एक सामाय नियम बनाता है जिस कभी-कभी अस्मिता तथा खण्डन सिद्धा त कहते हैं और जिस वह इस रूप म प्रस्तुत करता है एक हा वस्तु अपन एक हा भाग म कायशील नही हा सकती और न उस पर अय वस्तु की प्रतिक्रिया सम्भव है विशषत एक ही समय म परस्पर विरोधी तरीको स ऐसा नही हो सकता। अब इसका प्रयोग आत्मा के लिए करक देख क्या हम उसम एक ही समय म एक ही वस्तु की ओर कोई निश्चित क्रिया अथवा प्रतिक्रिया देखते हैं जो परस्पर एकाँतक और एक दूसरे क विरुद्ध हैं? उदाहरण देकर वह समझाता है कि मामूली तौर पर भूख किसी वस्तु की स्वीकृति का एक रूप है उसे अपनी पहुच म लान अथवा स्वय उसके समीप पहुचने का प्रयास है। यदि आत्मा म इसके बिलकुल विपरीत किसी क्रिया को एक ही वस्तु के प्रति एक ही समय म प्रदर्शित पाते हैं ता निष्कष यह होगा कि भिन्न भिन्न दो कर्त्ता आत्मा के दो पृथक पृथक रूप म उपस्थित हैं। सच तो यह है कि इस प्रकार के व्यापार स हम परिचित हैं। उदाहरणाथ हमन कई बार देखा है कि शराब पीने की इच्छा क साथ साथ यह विचार भी आता है कि नही पीना बेहतर है। फलत जो इच्छातत्त्व अथवा बुभुक्षा हमे शराब की तरफ खीचती है और जो विवेकतत्त्व उससे पीछे हटने को सचेत करता है—दोनो ही आत्मा के दो पृथक पृथक अवयव या भाग अथवा रूप हैं।

यहाँ तक जाने मान तथ्यो क अवलोकन स हम आत्मिक व्यापार क दो रूप अर्थात बुभुक्षा तथा विवक के भेद पहचान सक हैं। इसक आग जिस हम भावना तत्त्व' कह चुक हैं क्या उसे इन दोनो म भिन्न तीसरा रूप मान सकत है? प्लटो का कथन है कि जब मनुष्य बुभुक्षा की चपेट म आकर विवेकपूण निणय की अव हेलना के प्रति सजग होता है तब वह अपने आप स और पथभ्रष्ट करनेवाली बुभुक्षा स कुपित हो जाता है। एस लोगो के प्रमाण हैं जिन्होने बुभुक्षा क सम्मुख

फुसलाने की घड़ी में ही उसको सर्वथा त्याग देने की प्रतिज्ञा की है। इससे उलटा उस मनुष्य का उदाहरण है जो अपनी बुभुक्षा का अनुचर होने पर भी अपने काम को उचित समझता है और अपने इस आचरण पर उसे रंचमात्र क्रोध नहीं आता। जब मनुष्य यह सोचता है कि वह कुपथ में था और इसी कारण उसे कष्टकरण भोगना पड़ रहा है तब वह जितना कुलीन होगा उसे उतना ही कम रोष का अनुभव होगा। इसके विपरीत अगर वह मानता है कि उसके साथ अन्याय किया गया है, तो जितनी कुलीन प्रकृति का मनुष्य वह है उतना ही कोपाकुल उसे होना चाहिए। इन बातों से दोहरा नतीजा निकलता है: प्रथम, जिस भावनातत्त्व में हम क्रोध का अनुभव करते हैं उसको बुभुक्षा के किसी रूप में बदला नहीं जा सकता। द्वितीय, हमारे विवेकपूर्ण आन्तरिक भाग में और भावनातत्त्व-दशा में एक मेल रहता है—(विवेकी भाग से कभी सचमुच भूल नहीं हो सकती—ऐसा नहीं है)—लेकिन उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति विवेक की संगति है, बुभुक्षा की क्वचित। दूसरी बात यह है कि स्पष्टतः भावनातत्त्व-दशा का रूपान्तर विवेक में नहीं हो सकता क्योंकि कभी कभी लगता है कि विवेक उसे फटकारता है। छोटे बच्चों और निम्न कोटि के पशुओं में भी यह दशा (भावनातत्त्व) काफी बड़ी मात्रा में बनी रहती है।

कभी-कभी इस परिच्छेद का प्लेटो के मनोविज्ञान विषयक पूर्ण और प्राधिकृत वक्तव्य जैसा उपयोग किया जाता है। लेकिन इसे ऐसा नहीं समझना चाहिए। यह तो उसकी तर्कपद्धति का एक सूत्र मात्र है और केवल एक ही विचारबिन्दु को स्पष्ट करता है अर्थात् कुछ आत्मिक कार्यकलाप की अपरिवर्तनीयता को। कौन से कार्यकलाप हैं वे—यहाँ उन्हें पूरी तरह नहीं बताया गया है। परन्तु रिपब्लिक के सम्पूर्ण विवेचन में उन्हें छानबीन कर एकत्र करना पड़ेगा। नवम अध्याय के अन्त में ही इस विषय पर सुग्राह्य ढंग से और सब मिलाकर, परम सन्तोषकारक वक्तव्य मिलता है। (च) प्लेटो की भावनातत्त्व सम्बन्धी धारणा में तीन महत् तथ्यों का समावेश है जिनका उसे एक ही स्रोत दिखायी पड़ता है। पहला तथ्य है, मनुष्य के भीतर का योद्धातत्त्व जो उसे आक्रमण का निवारण करने और स्वयं आक्रामक बनने की प्रेरणा देता है। दूसरा, मनुष्य के अभ्यन्तर में कोई ऐसी वस्तु अवश्य है (भले वह स्वतः तर्कयुक्त न लगे परन्तु उसके विवेकवान् अंश के साथ उसकी रसाई जान पड़ती है) जिसके कारण वह अनाचार के प्रति सरोष हो जाता है और जब वह कुपथ में जाता है तो उसे वह वस्तु भीरु बना देता है। तीसरा, वह आन्तरिक वृत्ति जो उसे प्रतियोगी तथा महत्त्वाकांक्षी बनाती है। (छ) आत्मा का विवेकपक्ष जिसके दो सर्वथा परस्पर विरोधी कार्य हैं। उसे प्रज्ञा या मनीषा कहते

हैं जो मनुष्य को वस्तु का बोध करने योग्य बनाती है। किन्तु प्लटो के मन म यह एक प्रकार क प्रेम का अविभाज्य सम्बन्धी है। दर्शनतत्त्व मनुष्य को उस वस्तु मे सुरचिमत बनाता है जिस वह समझ लेता है और जिसक प्रति आकर्षित होता है उस समझने की अभिलाषा करता है। पहल-पहल यह दर्शनतत्त्व दूसरे अध्याय म आया है। तदनुसार तीसर अध्याय म यही तत्त्व मनुष्य को साहित्य और कला म सुविज्ञ बनाता है सुन्दर म प्रीति करन की प्रेरणा देता है बोध और आकर्षण सगति म चलत हैं। इसी क सूत्र स समाज व्यवस्था म बधी रहती है मनुष्य मनुष्य से आकर्षित होता है और यही एक दूसरे को समझन मे समथ बनाता है। (हम भी इन दोनो बातो को साथ-साथ रखत है किसी व्यक्ति स स्नेह करना है तो उस समझाना होगा और यदि किसी को समझना है तो उससे स्नेह करना पडेगा।) छठवे और सातव अध्याय म मनुष्य क इसी तत्त्व स उसक विज्ञान तथा दर्शन की रुचि पटती है। उनका उद्गम इसलिए होता है क्योकि मनुष्य क अन्त करण का कोई तत्त्व उस प्रकृतिप्रिय बनाता है और उस समझने के लिए उकसाता है। साराश यह कि आत्मा और प्रकृति म कोई सम्बन्ध सूत्र है। प्रस्तुत परिच्छेद म दर्शनतत्त्व अथवा विवेकतक का उल्लख ऐसी वस्तु मानकर किया गया है जो कतिपय व्यक्तियों म विशेष प्रकार की बुभुक्षा का विरोध किया करती है। (ज) आत्मा के बुभुक्षात्मक भाग म दैहिक क्षुधाए रहना हैं और वित्तपणा भी जो दैहिक भूखो को तुष्ट करन का उपाय है।

प्लटो सुझाता है कि इसम एक कठिनाई हो सकती है। यदि भूख या लालसा का लक्ष्य कोई शुभ वस्तु है तो इच्छित वस्तु का आकर्षण कभी अनुपयुक्त नही कहा जा सकता। इस तरह वह क्षुधा के सकीर्ण अथ को छोडकर उसके व्यापक आशय अभाव की चेतना को ग्रहण करता है। इस दूसरे आशय के अनुसार विवेक तथा लालसा म विरोध की सम्भावना मान लेना बहुत कठिन हो जाता है और इसी आधार पर प्लेटो क निष्कर्ष टिके हुए हैं। प्रत्यक लालसा या इच्छा क अ तरग मे तकयुक्त क्रिया का कोई तत्त्व रहता है और हमार कायकलाप की अत्यन्त तर्कसगत दिशा म लालसा या कामना का तत्त्व निवास करता है। इसलिए हम ऐसा कह सकत है कि शुद्ध विवक तथा शुद्ध कामना म कोई यथार्थ सघर्ष नही है लकिन सघर्ष है विभिन्न प्रकार की कामनाओ अथवा लाल साओ मे। यही कारण है कि नवम अध्याय म आत्मा के तीन रूपो म स प्रत्यक की एक निजी विशेष बुभुक्षा है। परन्तु सामान्यत प्लेटो बुभुक्षा के इस सकीर्ण

आशय को ही मानकर चलता है—जिस लालसा में सहज आकर्षणतत्त्व ही प्रमुख है और विवेक या विचारतत्त्व न्यूनतम है। बुभुक्षा के इसी आशय की दृष्टि से लालसा तथा विवेक में जो विरोध जनता के बातचाल में प्लेटो अपनाता है, वह सुबोध हो जाता है। (आत्मा की आत्मिक क्रिया के तीन भागों, तीन रूपों अथवा प्रकारों में बाँटना, संकल्प, मति इत्यादि जैसी क्षमताओं के विभाजन का पूर्वरूप नहीं है बल्कि अरस्तू के 'ईथिक्स' में वर्णित आत्मा के तीन भेदों का पूर्वाभास है।)

३ अब हम वैयक्तिक आत्मा के विश्लेषण का प्रयोग इस ढंग से करते हैं ताकि न्याय का प्रकृतिविषयक हमारा अनुमान पुष्ट हो जाये। जिस ढंग से इसे प्रयुक्त किया जाता है वह काफी स्पष्ट है। लेकिन इसका क्या अभिप्राय है? राज्य के गुणों और व्यक्ति के गुणों में क्या भेद है तथा एक से दूसरे तक पहुँचने में क्या हम कोई प्रगति कर पाते हैं? जिस प्रकार विभिन्न वर्गों के व्यक्ति समाज में अपने निर्धारित कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हैं, उन्हीं आचरणशैलियों में समाज के गुण प्रकट होते हैं। समाज की व्यवस्था व्यक्तियों के कर्त्तव्यों का निमित्त कारण है। इस व्यवस्था का आधार यह है कि कुछ व्यक्तियों में कुछ चरित्र-लक्षण प्रधान थे। विभिन्न राष्ट्र भी समान चरित्र-लक्षणों में से एक या दूसरे गुण की प्रधानता के कारण एक दूसरे से भिन्न विशेषतायुक्त हो जाते हैं। एक राष्ट्र में रणशक्ति प्रधान होती है, वणिक वृत्ति और भौतिक समृद्धि की लालसा दूसरे में प्रमुख रहती है। किन्तु मनुष्य के विभिन्न वर्ग और जाति में इतनी पृथकता होते हुए भी कोई मनुष्य प्राणी ऐसा नहीं मिलता जिसमें केवल इतने ही चरित्रबोधक गुण रहते हैं। किसी एक मनुष्य में सम्पूर्ण बुभुक्षा अथवा समूचे भावनातत्त्व या दर्शन का संग्रह नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति द्वारा समाजगत कर्त्तव्यों के निर्वाह से परे सदाचार भी इसी तरह समन्वित। एक सुव्यवस्थित राज्य में प्रत्येक व्यक्ति की अंतरात्मा का प्रमुख तत्त्व उसे कुछ कर्त्तव्य सौंपती है। एवं राज्य में सदाचार का आशय यह भी होता है कि व्यक्ति की आत्मिक क्रिया के भौतिक रूप कुछ कार्यपद्धतियों और कुछ परस्पर सम्बन्धों में प्रकट हो। प्लेटो कहता है कि सुखद सहजबुद्धि के भरोसे हम न्याय की खोज करने निकल पड़े थे। हमारा सपना था कि 'स्वतः अपना काम करने' के नियम को हम सरल आर्थिक अभिप्राय में ग्रहण करके उसे न्याय मान बैठें। अब सिद्ध हो गया है कि वह कल्पनाप्रसूत छविमात्र थी न्याय की स्थूल अभिव्यक्ति थी। यथार्थ

न्याय राज्य में केवल अपने कर्तव्य करने में ही नहीं है वरन् वह ऐसा प्रकट कर्तव्य होना चाहिये जो आत्मा की तदनुरूप कार्यविधि को अभिव्यक्त कर सके। यदि हमारे कार्य का प्रकट रूप न्यायोचित है तो अन्तरात्मा भी न्यायोन्मुख कहलायी। एक न्यायनिष्ठ राज्य के अनुरूप सम्पूर्ण आत्मा और उसके कतिपय भाग या अंग एक दूसरे के हित में मिलजुलकर अपने सम्यक कार्यों का निर्वाह करते हैं। सुसंगठित राज्य के गुण सभी बातों में सिद्धान्ततः स्वस्थ वैयक्तिक आत्मा के गुणों से अभिन्न हुआ करते हैं। जब हम किसी मनुष्य को ज्ञानी मानते हैं तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि उसमें समग्र मानव की दृष्टि से अपने हित के बोध की क्षमता है। जब हम राज्य को सुदक्ष कहते हैं तो हमारा प्रयोजन यही होना चाहिये कि जिन व्यक्तियों में शासन के दायित्ववहन की निपुणता है उन्होंने अपना समस्त बोधक्षमता पूरे राज्य के हितसाधन में जुटा दी है। वही वीर पुरुष है जिसमें अपनी सम्मति का साहस है अर्थात् जो व्यक्ति अपने सिद्धान्तों को कार्यान्वित करता है चाहे वे सिद्धान्त उसके निजी विवेक के फल हों अथवा दूसरों से उधार लिये गये हों। शक्तिमन्त राज्य भी वही कहलाता है जिसकी सुरक्षा का दायित्व संभालनेवाले व्यक्तियों में संविधानसम्मत सत्ताधिकार के निर्देशित सिद्धान्तों और कानूनों को कार्यान्वित करने की सामर्थ्य हो। आत्मसंयमी मनुष्य से केवल उसी व्यक्ति का अर्थ नहीं होता जो अपनी बुभुक्षामात्र को वश में रखता हो बल्कि जिसकी आत्मा में स्वरैक्य हो और जिसके स्वभाव के विभिन्न अवयवों में आन्तरिक संघर्ष का अभाव हो। इसी तरह आत्मनियन्त्रित राज्य उसे कह सकते हैं जिसकी सामाजिक व्यवस्था केवल सेना और पुलिस के कारण सुरक्षित न हो अपितु जो जनसमुदाय के सामान्य मतैक्य पर निर्भर हो। अन्ततः उसी मनुष्य को जीवन के सभी सम्बन्धों में न्यायनिष्ठ कहना चाहिये जिसके स्वभाव के भिन्न भिन्न तत्त्व अपने अपने नियत कार्य में संलग्न हों क्योंकि असल में वह एक ही मनुष्य है अनेक नहीं और वही राज्य न्यायाचारी है जो ऐक्यभाव में सम्पूर्णतः बंधा है और जिसका प्रत्येक वर्ग उसी निश्चित कार्य में ध्यान लगाये रहता है (सम्पूर्ण जनमण्डल के व्यापक हितों की दृष्टि से) जिसे वह उत्तम रीति से सफल कर सकता है। यदि हम मूलस्रोतों तक जायें तो राज्य के गुण नागरिकों की आत्मा के निश्चित स्वरूप की अभिव्यंजना हैं क्योंकि असल में ये गुण नागरिकों की सार्वजनिक क्षमता में स्फूर्त कार्यशक्तियाँ हैं। प्लेटो इसी को आत्मा का न्याय कहता है। आत्मा की यह अन्तरस्थ दशा और समाज-संगठन के रूप में उसकी बाह्य अभिव्यक्ति

सिद्धान्तत एक ही है क्योंकि एक सम्पूर्ण वस्तु के विशिष्ट अगो द्वारा समुचित कार्यपालन में ही प्रत्येक का अस्तित्व है।

रिपब्लिक' के अगले अध्यायो म तर्कपद्धति की जो शैलियाँ प्रकट होती हैं, उनमें म मुख्यत आत्मा की स्वस्थ रचना विषयक कल्पना को प्लेटो मूर्तरूप देना चाहता है।



साम्यवाद और युद्धोपयोग-सम्बन्धी उत्क्रम

रिपब्लिक' के पचम से सप्तम अध्यायो की विषयवस्तु अपनेआप एक स्पष्ट अलग खण्ड बन जाती है और इसके पहले और बाद की सामग्री से भी वह भिन्न है। इस अष्टम अध्याय के आरम्भ में विषयान्तरण कहा गया है। कतिपय आलोचक मानते हैं कि इन अध्यायो की रचना परवर्ती काल मे की गयी थी और इन्हे मूल ग्रन्थ के बीच क्षेपक कर दिया गया। अपनी राय के प्रमाण मे कहा जाता है कि चतुर्थ अध्याय के अन्त मे अष्टम के आरम्भ तक विषय वस्तु मे कही असम्बद्धता नही मिलती अथवा दर्शन या मनोविज्ञान सम्बन्धी कोई उल्लेखनीय मतपार्थक्य दिखायी नही पडता। पचम से सप्तम अध्यायो की प्रवृत्ति भी पूर्वगत अध्यायो से निराली है। तुलनात्मक दृष्टि से इनमे कहा अधिक तीखापन मानवजाति को त्रस्त करनेवाले दुष्कृत्यो की गम्भीरता प्रतीति और परिष्कार के कठिन प्रश्न का तीव्र भाव है। सुकरात को इस तरह चित्राकित किया गया है कि हर कदम पर उसे लोकमत से सीधे प्रतिरोध से काम पडता है मानो जो उसे कहना है उसे कहने मे वह डरता है, तथापि जानेमाने सन्देहवाद और कटु व्यग्य को झेलने का आत्मविश्वास तथा तत्परता उसमे थी। प्लेटो ने अपने ग्रन्थ की रचना किस योजना से की—इसे जानने का कोई उपाय नही है। शायद इसमे कोई सार भी नही है क्योकि जब तक ग्रन्थ के भिन्न भिन्न भागो की विषयवस्तु में ठीक तकसूत्रता है तब तक अध्यायो के रचनाकाल या पद्धति का सवाल निरर्थक है। इतना समझ मे आ सकता है कि आरम्भ के चार अध्याय पहले प्रकाशित हुए होगे। इनमे ऊपर से साफ दीखने वाले परस्पर विरोधी मन्तव्यो पर जब समीक्षाए हुइ तब प्लेटो को बाध्य होकर आदर्श राज्य-सम्बन्धी अपनी कल्पना के विशद विवेचन की आवश्यकता जान पडी होगी। परन्तु सम्भव यह भी है कि प्लेटो के मन में आरम्भ मे ग्रन्थ रचना

का यही स्वरूप रहा हो जो आज हमें उपलब्ध है। पूर्ववर्ती अध्यायों में कतिपय ऐसी बातें मिलती हैं जिससे उसके इस विचार का आभास मिलता है कि कुछ प्रसगवश प्रस्तुत मत और अधिक विस्तार से समझाना पड़ेगे। आधुनिक ग्रन्थ रचना में लेखक अपने विषय का सामान्य और सतही निरूपण करने की सूचना देता है। उसे मालूम रहता है कि उसके प्रतिपादित सिद्धान्तों के परिणाम क्या होंगे। परन्तु वह इन परिणामों की विशद विवेचना उचित अवसर पर ही करना चाहता है पहले नहीं। प्लेटो अपने लेखन में नाटकीय पद्धति का अनुसरण करता है। चर्चा के इस छोर पर वह फिर कुछ सम्वादग्राही पात्र प्रस्तुत करता है जो सुकरात की तर्कप्रणाली की आलोचना करते हैं तथा यह आग्रह करते हैं कि सुकरात फिर से अपनी कही हुई बात को और स्पष्ट करे।

पचम अध्याय के साथ पूर्ववर्ती भागों का सम्बन्ध बताने के लिए अभी तक की चर्चा में मिले परिणामों को देख लेना चाहिये। यदि कोई सिद्धान्त सचमुच है तो प्लेटो उसे खोजना चाहता है ताकि उसका अनुसरण करके समाज में प्रत्येक मनुष्य श्रेष्ठ प्रकार का जीवन बिता सके। यह सिद्धान्त इस रूप में है कि कोई भी आत्मा अपने आप पूर्ण नहीं है प्रत्येक को समाज का आश्रय जरूरी है। इसके अलावा प्रत्येक आत्मा जिस समूचे समाज का एक घटक है उसकी उन्नति में वह कुछ न कुछ योग दे सकता है। इसके फलस्वरूप मानव समाज का यह आदर्श स्थिर होता है कि वह आत्माओं का सुव्यवस्थित समुच्चय है जिसका प्रत्येक व्यक्ति समूचे समाज के हित में कार्यरत होगा और सारा समाज भी व्यक्ति की आवश्यकताओं का ध्यान रखे। इस प्रकार के समाज में हर आदमी वही काम करेगा जिसके लिए वह उत्तम रीति से समर्थ है। फलत प्रत्येक व्यक्ति अपने हित में सुयोग्य ढग से कार्यशील होगा और दूसरों के उत्तम हित में कर्त्तव्यारूढ होगा। प्लेटो के अनुसार ऐसे समाज का मूलाधार न्याय का सिद्धान्त है। उसकी कल्पना में परिपूर्ण समाज मानो सेण्ट पाल के परिपूर्ण चर्च अथवा परिपूर्ण आध्यात्मिक जनमण्डल के समान है और इसमें से प्रत्येक के आत्मा का विकास परिपूर्ण मानवदेह की भूमिका में किया गया है।

इस सिद्धान्त के आधार पर बने हुए राज्य के वर्णन में जो मुख्य बात चतुर्थ और पचम अध्यायों को जोड़ती है वह पत्नि-सगठन का प्रस्ताव है। उसके साथ ही पुरुषों और स्त्रियों के लिए एक उद्योग सगठन भी प्रस्तावित किया गया है। सरसरी तौर पर यह निर्देश भी है कि आदर्श जनमण्डल के अभिभावकों का परिवार तथा उनकी सम्पत्ति समाप्त की जायेगी। इसका यह आशय अभी प्रकट

रूप म रहती ह । प्लेटा इसे गम्भीर समस्या मानता ह कि जिन लोगा में स्वभावत इस प्रवत्ति की प्रबलता रहती है उनके मतिभ्रम स बहुतरे दुराचार जन्म लेत हैं। यदि इस प्रवत्ति का विकास गलत ढग स हो गया तो प्लेटो की मान्यता के अनुसार वह समाज म सबस बडा नाशकारी साधन बन जाती ह । अधिक सख्या उन्हा लोगा की होती है जो ससार म न तो बडी हानि कर सकते हैं और न बहुत बडा लाभ पहुचाते हैं। जो सचमुच बहुत बडी क्षति पहुचाते हैं व अपने दशन तत्त्व की कुटिलता क कारण ही ऐसा किया करत हैं । मनुष्य-स्वभाव म मूलत श्रेष्ठ वस्तु यही दशनतत्त्व है । मानव जाति क हित की दृष्टि स इस नाशकारी शक्ति बनने से बचाना चाहिये और मनुष्य के कल्याण म इस उपयोगी बनाना चाहिय । कलात्मक प्रवत्ति तथा युद्धात्मक प्रवत्ति को आरम्भ राज्य की सेवा म रखन का प्रयास किया जा चुका है। इनस भी अधिक शक्तिशाली और सम्भावना पूण विचार बल को भी हम राज्य क उत्कष का अनुचर बनाय । (आ) इतना ही नहीं दशनतत्त्व मनुष्य क अभ्यन्तर म बस अध्यात्मतत्त्व की प्रतिध्वनि है । दशन की अधीनता म जो शासन चलता है, उसकी कल्पना का उदाहरण मध्ययुग और आधुनिक समय म आध्यात्मिक राज्य क विचार स मेल खाता है । इसकी मानसिक रूपरेखा विभिन्न अर्थों म अनक देशवासी बनात रह हैं । इस प्रकार के बौद्धिक प्रयोग का श्रेष्ठ परिणाम मध्ययुगीन कथोलिक चच म मिलता है और सत्रहवी सदी क इग्लण्ड म भी बहुतरे विचारक इसी प्रकार क राज्य का सकल्प लिए बठे थ जिसका शासन धम क हाथ म पूरी तरह रहेगा ।

राज्य की यथाथ कल्पना अनेक परिणामो का सूत्रपात कर सकती है पर तु प्लेटो जिस प्रकार के साम्यवाद का निरूपण करता है वह उनम स बिलकुल निराला है । इस मामल म हम गलत न समझ बठ कि प्लेटो क साम्यवाद का आशय व्यक्ति स्वातन्त्र्य का हनन है । हम देख चुके हैं कि जनमण्डल नगर के सही अथ म जो कल्पना निहित है उसका सहज और अनिवाय परिणाम प्लेटो को यही जान पडता है कि जन या व्यक्ति अपने ही जसे जनो स बने मण्डल मे या परिधि म समानता का जीवन पूणरूप स बिताकर बढता चले । उसका यह अभिप्राय कदापि नहा है कि इस प्रकार की जीवन प्रणाली म व्यक्ति को जन मण्डल क लिए अपना अस्तित्व खपा दना चाहिय । इसके विपरीत जब प्लेटो जनमण्डल क हित म श्रेष्ठ योगदान करने का आग्रह करता है तब व्यक्तिजन को वह नगण्य नहीं करना चाहता वरन वह उसकी सामथ्य क उत्कृष्ट सहकार की आशा व्यक्त करता है । प्रत्यक व्यक्तिजन का उच्चकोटि का जीवन वही है

जिसमे अधिक से अधिक व्यक्तियो का निश्चित भाग रहे और निकृष्ट जीवन वह है जिसमे न्यूनतम मनुष्य हाथ बँटा सकें।

साम्यवाद की हिमायत के बहुतेरे अलग अलग दृष्टिकोण हैं। प्लेटो जिस साम्यवाद का पक्ष पोषण करता है उसमे वर्तमान शैली के साम्यवाद का शायद कोई लक्षण नही है। दरिद्रता की बुराइयो के कारण उसका साम्यवाद जन्म नही लेता राज्य के केवल उन्नततम वर्गो के हिताय ही उसका प्रयोग होगा। साम्यवाद की सभी प्रणालियो म एक लक्षण समान है, मनुष्य जीवन के समस्त अथवा आंशिक भाग का नियमन करके कल्पित बुराइयो का निवारण करना प्राय सभी का एकमात्र उद्देश्य है। प्लेटो साम्यवाद को एक पूरक व्यवस्था मानता है जो शिक्षाजनित बौद्धिक गुण को सफल और सबल बनाने म सहायक होगी। जब मनुष्य का अन्तःकरण समुचित दशा म नही रहता तब कानूनी व्यवस्था प्राय निरर्थक हो जाती ह और इस बात को प्लेटो से अधिक दृढ़तापूर्वक किसी ने नही कहा। परन्तु वह इसे तर्कसंगत आवश्यकता मानता है कि जीवन की बाहरी व्यवस्था इस प्रकार नियोजित होनी चाहिये जिसम जनता की नैतिक शिक्षा म उसका भरपूर लाभ मिल सके। पिछले अध्यायो म प्लेटो जिस ढग से सोचता आया है उससे विदित ह कि इस नैतिक शिक्षा की परिपूर्ति के निमित्त परिवार प्रणाली की समाप्ति अत्यधिक वाछनीय है। प्लेटो कलाओ का विवरण इस प्रकार देता है कि उसके फलस्वरूप मानव जीवन से कला सर्वथा निःशेष हो जायगी यद्यपि स्वय वह कला के प्रति सम्वेदनशील है। वह असमजस म है, एक ओर वह मानता है कि कला मनुष्य के विकास का उपयोगी साधन है और दूसरी ओर वे अनिष्ट उसका ध्यान खीचते हैं जो कला के कारण आचरण म उतर आते हैं। इस अन्तर्द्वन्द्व का फल यह होता है कि कला को नियमबद्ध करने म ही वह ससार मे उपादेय बनायी जा सकती है। सम्पत्ति तथा परिवार सम्बन्धी विषयो पर भी इसी ढग से विचार किया गया है। वह मानता है कि मनुष्य जैसे जसे सयुक्त जीवन म अग्रसर होगा उसी मात्रा म उसका आचरण उच्चकोटि की ओर बढता जायगा। फलत इन सस्थाओ के कारण जो अशुभ व्यापार मनुष्य म घिर आते हैं उनकी प्रतीति मनुष्य को होने लगती है। तब इन्हे वह स्वार्थपरता के अभेद्य दुर्ग समझता ह। निःसन्देह इन दोनो सस्थाओ को अतिस्वार्थ का मूल कारण भले न माना जाय परन्तु इनम स्वार्थपरता का अत्यन्त घातक स्वरूप प्रकट होता है। इसी तथ्य से यह सिद्ध होता है कि सम्मिलित जीवन को मूर्तरूप देने के लिए हम इन सस्थाओ की और स्वार्थपरता के दूसरे सहायक प्रलोभनो की काटछाँट

कर उपास्य बना लेना चाहिए। सामाजिक सुधार के उत्कट समर्थक के नाते प्लेटो इसी धुन में यह बात लिखता है।

अतः रिपब्लिक के इस भाग में दो विशिष्ट विचार इकट्ठे हो गये हैं। उत्कृष्ट जीवन ही संयुक्त जीवन है और आत्मविसर्जन में ही मनुष्य को आत्मबोध होता है। दूसरे मनुष्य उन सारे प्रलोभनों से वंचित कर दिया जाये जो उच्च जीवन की गति में बाधा डालते हैं। दूसरा विचार हमेशा अधिक आकर्षक रहेगा। ऐसा लगता है कि दो विपरीत भाव सतत रूप से संसार में संघर्ष करते आ रहे हैं। एक का नमूना प्लेटो है और उसका मतलब यह है कि यदि आत्मा वस्तुस्थिति को स्पष्टतया व्यक्त करना है तो अशुभ के सभी अवसर मिटा देना चाहिए। दूसरा यह है कि मानव जीवन की श्रेष्ठ उपलब्धि अशुभ के अवसरों से उसको वंचित करने से नहीं होगी बल्कि आत्म सिद्धान्त के निमित्त मनुष्य जीवन की प्रत्येक वस्तु के समर्पण से हो सकती है। हम इसका जो भी अर्थ समझें—यह अलग बात है। मोटे तौर पर दूसरे भाव का प्रतिपादक अरस्तू है। लेकिन इसे आदर्शवाद का प्रतिद्वन्द्वी नहीं कहा जा सकता। अरस्तू ने मानव जीवन के आदर्श की जो कल्पना की थी वह प्लेटो की धारणा से कहीं बड़ी है। मानव जीवन की प्रत्येक वस्तु को उच्चतम प्राप्ति के निमित्त समर्पित कर देने का सिद्धान्त व्यवहार सम्मत नहीं हो सकता। यह बहुत सरलता से अशुभ के साथ समझौता करने का तरीका बन सकता है। फिर भी इस जीवन की उत्तम आत्म कल्पना माननी चाहिये। प्लेटो के मतवाद की तुलना ईसाई ढंग के संन्यास की कल्पना से की जा सकती है अर्थात् जो प्रलोभन मनुष्य की ईश्वर भक्ति में बाधा डाल सकते हैं उनसे बचकर चलने से ही ईश्वर परायणता सम्भव है। अतएव कभी कभी इसे यों भी कहा जा सकता है कि मनुष्य को इस संसार के भीतर जल में कमल के समान रहना चाहिए। जो लोग इसके विपक्ष में हैं वे कहेंगे कि ईश्वर सेवा हँसी खेल नहीं है बहुत ही कठोर साधना है। यह तो मानना पड़ेगा कि ईश्वर भक्ति अत्यधिक दुस्तर कार्य है संसार में फँसे मनुष्यों का आचरण भी यही सिद्ध करता है कि ईसाई ढंग का वानप्रस्थ जीवन कहीं अधिक वांछनीय है क्योंकि सांसारिक परिस्थितियों का उपयोग करके ईश्वर भक्ति करना सम्भव नहीं है। महापुरुषों को कभी कभी यह विचारणीय लगा है कि अधिकांश मनुष्य जिस साधारण परिवेश से घिरे रहते हैं वे उसका अत्यधिक दुरुपयोग करते हैं। साथ ही यह विचार भी उन्हें महत्त्वपूर्ण लगता है कि इस विषम स्थिति के सुधार का एकमात्र उपचार उससे पलायन में नहीं वरन् उसके यथाशक्ति सदुपयोग में है।

१ इस अध्याय के दूसरे पर्व खण्ड की ओर ध्यान देने पर स्पष्ट होता है कि पहले प्लेटो शिक्षा के विषय में चर्चा करता है। प्रश्न यह है कि स्त्री और पुरुष की शिक्षा रुचि के विषय समान होना चाहिये अथवा नहीं। प्लेटो शुरू में यही सिद्धान्त प्रस्तुत करता है कि जनमण्डल में नारी जिन कर्त्तव्यों के निर्वाह में योग्य हो उसी के अनुसार इस विषय का निर्णय किया जाना चाहिए। शासकों का अभिभावक नाम से सम्बोधित करने के कारण उस प्रहरी—श्वान की उपमा याद आती है। (और नारी शिक्षा से उसका प्रयोजन केवल शासक वर्ग की स्त्रियों से है।) कुत्ते को पहरेदार का काम सौंपते समय यह भेद नहीं किया जाता कि वह नर है या मादा। तब क्या मानव प्राणी को प्रहरी की जिम्मेदारी देने में ऐसा भेद युक्तिसंगत होगा? यदि भेद अनावश्यक है तो पुरुषों के समान स्त्रियों को भी राज्य सेवा का प्रशिक्षण देना चाहिए। सम्भव है शुरू में कुछ अटपटे और विचित्र परिणाम दिखायी दें परन्तु इस ख्याल को योग्य नहीं समझना चाहिये। प्रत्येक बात का एक ही मानदण्ड है कि जनमण्डल का कल्याण होता है या नहीं। 'रिपब्लिक' के आरम्भ से अन्त तक यही नियम सब कार्यों या विचारों की कसौटी है। इस दृष्टि से प्लेटो उत्कट उपयोगितावादी है कि वह जनमण्डल के हित को सर्वोपरि सिद्धान्त मानता है और इस परिच्छेद में उसके उपयोगितावाद की तीव्रतम अभिव्यक्ति हुई है।

इस सिद्धान्त को मानकर हम पहले यह जान लेना चाहिये कि एक ही प्रकार के कार्य में स्त्री और पुरुष समान रूप से भाग ले सकते हैं अथवा नहीं। यदि यह सम्भव है तो प्लेटो इसे निःसन्देह कालोपयुक्त मानता है। वहाँ ऐसा न हो कि वह अपनी बात को स्वयं मिथ्या कहता हुआ दिखायी दे क्योंकि अभी तक वह राज्य में कार्यों की योग्यतानुसार विभिन्नता पर बल देता आया है और इस नियम का उल्लंघन ही सारी बुराइयों की जड़ है—यह मानता रहा है। प्लेटो कहता है कि स्त्री पुरुष के भेद को तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह केवल सतही भेद है। यह शाब्दिक तर्क की कला का नमूना भर है, युक्ति बल इसमें नहीं है। शब्द से चिपककर सोचने में इसमें शब्दगत दृढ़ता दिखायी देती है परन्तु यथार्थ भिन्नता पर ध्यान नहीं जाता। पुरुष और स्त्री में भिन्नता है और इसीलिए उनके सार्वजनिक कर्त्तव्य भी भिन्न होने चाहिये—यह इसी तरह का कथन होगा कि गंजे पुरुष और गंजे आदमी जुदा जुदा हैं और इसी कारण गंजा को जूते बनाने का काम नहीं दिया जा सकता। असल में 'भेद' शब्द प्रशस्त और अनिश्चित अर्थवाची है। प्रस्तुत प्रश्न का मुद्दा यह नहीं है कि स्त्री पुरुष में

भिन्नता या भेद है किस खास बात का उनमे अन्तर है—यह अधिक विचारणीय है और क्या इस भेद से उनके लिए निश्चित किये जानेवाले कर्त्तव्य की योग्यता प्रभावित होती है ? यही तथ्यगत प्रश्न है। प्लेटो पूछता है क्या प्रकृति ने पुरुष को पुरुष मानकर और स्त्री को स्त्री मानकर उन्हें अलग-अलग तरह की योग्यता प्रदान की है ? कदापि नही—प्लेटो उत्तर देता है। सामान्यतः मनुष्य नारी की अपेक्षा प्रत्येक व्यवहार मे महज श्रेष्ठ है सामान्य विशिष्टता उसके पक्ष मे है किन्तु निश्चित गुणों की स्वाभाविक देन एक मे भी नही है। यदि यह ठीक है तो स्त्री स्त्री के बीच स्वाभाविक गुणयुक्तता के वैसे ही अनेक रूप होना चाहिये जैसे मनुष्य मनुष्य के बीच दिखायी देगे। कुछ स्त्रियो मे दर्शन विषयक सामर्थ्य विशेष रूप से होती है कुछ मे युद्ध सम्बन्धी और इसी प्रकार अन्यान्य रुचियाँ। *अतएव वस्तुस्थिति प्रवृत्ति के विपरीत नही उसके अनुकूल ही है जबकि विद्यमान* परिस्थितियाँ अप्राकृतिक हैं।

तो नारीशिक्षा सम्बन्धी प्रस्ताव कहा तक सम्भव है—उसे हम देख चुके हैं। अब उसकी वाञ्छनीयता अथवा कालोपयुक्तता के प्रश्न मे प्लेटो का तर्क यह है कि राज्य के पुरुषो और नारियो दोनो की उसकी उन्नति मे यथाशक्ति समर्थ होना चाहिये। यदि शिक्षा की निश्चित प्रणाली सदाचारी पुरुष का निर्माण कर सकती है तो इसी से सदाचारिणी नारी भी बन सकती है। इसलिए शासकवर्ग के लिए जिस अध्ययन और विशेष रुचियो का पाठ्यक्रम रखा गया है स्त्रियो को भी उसके अनुसरण का लाभ मिलना चाहिये। इस प्रसग मे प्लेटो ने जिस सिद्धान्त से चर्चा शुरू की थी वह फिर उसे दोहराता है जिससे शुभ या कल्याण की उपलब्धि हो वही सुन्दर है केवल वही वस्तु असुन्दर या अभद्र है जिससे क्षति अथवा अपकार हो।

इस चर्चा मे स्त्रियो के अधिकार का विचार किया गया है परन्तु उसके आधुनिक स्वरूप का लेशमात्र भी समावेश नहीं है। जनमण्डल के प्रति स्त्रियो के जो कर्त्तव्य होना चाहिये, केवल उसी दृष्टि से इस बात का महत्त्व है। स्त्री *वर्ग के साथ अन्याय किया गया है इसलिए प्लेटो उनकी शिक्षा का प्रस्ताव नही* करता। उसकी दृष्टि मे जनमण्डल का हित सर्वोपरि है और स्त्रियो की शिक्षा उन्हें इसी हित मे समर्थ बनाने के लिए है। कौन जाने एथेंसवासी स्त्री शिक्षा के प्रस्ताव को नारी समाज के लिए हितकारी मानता था या नही। अधिक सम्भव यही है कि उसकी दृष्टि मे स्त्री की प्रतिष्ठा उसे जहाँ का तहाँ बनाये रखने मे है अन्यथा वह बडे झझट मे पड सकती है। प्लेटो की इस मान्यता का खण्डन

नही किया जा सकता कि जनमण्डल के सुख सन्ताप के समान अन्य कोई विषय महत्त्वपूर्ण नही है। जिस प्लेटो जनमण्डल का कल्याण मानता है उसे बहुसंख्यक मनुष्य स्वीकार कर लेंगे। यह मानने मे भी किसी को अडचन नही है कि जन मण्डल मे जितनी अधिक प्रबल सहयोग भावना होगी और प्रत्येकजन जितना अधिक योगशील करेगा उतना ही जनमण्डल का सुख सन्ताप बढ़ेगा। प्रश्न यह है कि स्त्री शिक्षा के द्वारा जनमण्डल के श्रेष्ठत्व की कल्पना का साकार करने का उत्तम उपाय क्या है। स्त्री और पुरुष का सार्वजनिक कल्याण के कार्य मे जिस ढग से सहयोग करना चाहिए वह प्लेटो की अपेक्षाकृत सकीर्ण दृष्टि का द्योतक है। उसके अनुसार मन्त्रणात्मक शासनिक और सेना विषयक कार्य ही प्रमुख सार्वजनिक कर्तव्य हैं। किन्तु यह बात अब स्पष्ट कर देनी चाहिये कि सगन्ध शन्त्य अथवा सैनिक के अतिरिक्त हजारो रीतियो से समाज की सेवा मे योग दिया जा सकता है। हम यह समझना होगा कि प्लेटो के सिद्धान्त और उसके विशिष्ट प्रयोग मे जो अन्तर है वह बहुत कुछ तत्कालीन परिस्थितियो का परिणाम है। निर्विवाद सत्य है कि स्त्रियो और पुरुषो मे जितना अधिक सहयोग होगा उतना ही अधिक सुख सन्तोष बढ़ेगा। परन्तु इस सिद्धान्त के प्रयोग करने के विषय मे स्वयं प्लेटो ने इसकी आलोचना का मार्ग सुझाया है। हम उसके निष्कर्ष का खण्डन सिर्फ इतना कहकर नही कर सकते कि पुरुष और स्त्री भिन्न हैं हम पूरी तरह इस प्रश्न का समाधान करना पडेगा कि उनकी भिन्नता के पहलू कौन-से हैं। इस प्रश्न पर विचार करते हुए अरस्तू इस सिद्धान्त से आरम्भ करता है कि स्त्री और पुरुष के बीच का अन्तर या भेद है वह मूलत उनके सामाजिक कर्तव्यो पर प्रभाव डालता है। उन्हें समान कार्य कदापि नही करना चाहिए, एक का दूसरे के कर्तव्य मे पूरक होना चाहिये। इस दृष्टि से क्षुद्र पशुओ से तुलना करके प्लेटो जो बात रखना चाहता है उससे कोई तथ्य प्रकट नही होता। मान भी ले कि कुछ खास पशुओ के नर और मादा के चरित्र मे बहुत बडी भिन्नता नही दिखायी देती तो इसका मुख्य कारण यह है कि वे मनुष्य के समान उच्चकोटि की विकसित अवस्था मे नहीं पहुच सके। मनुष्य सर्वोपरि विकसित प्राणी है इसी कारण उसके यौवन भेदभाव भी चरम श्रेणी के हैं।

२ इस तर्कपद्धति की दूसरी 'तरग' का विषय परिवार प्रथा को शासकवर्ग के लिए समाप्त करना है। उसके स्थान पर राज्य-परिवार का गठन किया जाना चाहिये जिसके द्वारा राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण जनसमुदाय एक महान्

भिन्नता या भेद है किस खास बात का उनमे अन्तर है—यह अधिक विचारणीय है और क्या इस भेद मे उनके लिए निश्चित किये जानेवाले कर्त्तव्य की योग्यता प्रभावित होती है ? यही तथ्यगत प्रश्न है। प्लेटो पूछता है क्या प्रकृति ने पुरुष को पुरुष मानकर और स्त्री को स्त्री मानकर उन्हे अलग-अलग तरह की योग्यता प्रदान की है ? कदापि नही—प्लेटो उत्तर देता है। सामान्यत मनुष्य नारी की अपेक्षा प्रत्येक व्यवहार मे सहज श्रेष्ठ है सामान्य विशिष्टता उसके पक्ष मे है किन्तु निश्चित गुणो की स्वाभाविक देन एक मे भी नही है। यदि यह ठीक है तो स्त्री स्त्री के बीच स्वाभाविक गुणयुक्तता के वैसे ही अनेक रूप होना चाहिये जैसे मनुष्य मनुष्य के बीच दिखायी देते। कुछ स्त्रियो मे दर्शन विषयक सामर्थ्य विशेष रूप से होती है कुछ मे युद्ध सम्बन्धी और इसी प्रकार अन्यान्य रुचियाँ। अतएव वस्तुस्थिति प्रकृति के विपरीत नही उसके अनुकूल ही है जबकि विद्यमान परिस्थितियाँ अप्राकृतिक है।

तो नारीशिक्षा सम्बन्धी प्रस्ताव कहा तक सम्भव है—उसे हम देख चुके हैं। अब उसकी वाछनीयता अथवा कालोपयुक्तता के पक्ष मे प्लेटो का तर्क यह है कि राज्य के पुरुषो और नारियो दोनो को उसकी उन्नति मे यथाशक्ति समर्थ होना चाहिये। यदि शिक्षा की निश्चित प्रणाली सदाचारी पुरुष का निर्माण कर सकती है तो इसी से सदाचारिणी नारी भी बन सकती है। इसलिए शासकवर्ग के लिए जिस अध्ययन और विशेष रुचियो का पाठ्यक्रम रखा गया है स्त्रियो को भी उसके अनुसरण का लाभ मिलना चाहिये। इस प्रसग मे प्लेटो ने जिस सिद्धान्त से चर्चा शुरू की थी वह फिर उसे दोहराता है जिससे शुभ या कल्याण की उपलब्धि हो वही सुन्दर है केवल वही वस्तु असुन्दर या अभद्र है जिससे क्षति अथवा अपकार हो।

इस चर्चा मे स्त्रियो के अधिकार का विचार किया गया है परन्तु उसके आधुनिक स्वरूप का लेशमात्र भी समावेश नही है। जनमण्डल के प्रति स्त्रियो के जो कर्त्तव्य होना चाहिये केवल उसी दृष्टि से इस बात का महत्त्व है। स्त्री वर्ग के साथ अन्याय किया गया है इसलिए प्लेटो उनकी शिक्षा का प्रस्ताव नही करता। उसकी दृष्टि मे जनमण्डल का हित सर्वोपरि है और स्त्रियो की शिक्षा उन्हें इसी हित मे समर्थ बनाने के लिए है। कौन जाने एथेसवासी स्त्री शिक्षा के प्रस्ताव को नारी समाज के लिए हितकारी मानता था या नही। अधिक सम्भव यही है कि उसकी दृष्टि मे स्त्री की प्रतिष्ठा उसे जहाँ का तहाँ बनाये रखने मे है अन्यथा वह बडे झझट मे पड सकती है। प्लेटो की इस मान्यता का खण्डन

नहीं किया जा सकता कि जनमण्डल के सुख सन्तोष के समान अन्य कोई विषय महत्त्वपूर्ण नहीं है। जिस प्लेटो जनमण्डल का कल्याण मानता है उसे बहुसंख्यक मनुष्य स्वीकार कर लेंगे। यह मानने में भी किसी को अड़चन नहीं है कि जनमण्डल में जितनी अधिक प्रबल सहयोग भावना होगी और प्रत्येकजन जितना अधिक योगदान करेगा, उतना ही जनमण्डल का सुख सन्तोष बढ़ेगा। प्रश्न यह है कि स्त्री शिक्षा के द्वारा जनमण्डल के श्रेष्ठहित की कल्पना को साकार करने का उत्तम उपाय क्या है। स्त्री और पुरुष का सार्वजनिक कल्याण के कार्य में जिस ढंग से सहयोग करना चाहिये वह प्लेटो की अपेक्षाकृत संकीर्ण दृष्टि का द्योतक है। उसके अनुसार मन्त्रणात्मक शासनिक और सेना विषयक कार्य ही प्रमुख सार्वजनिक कर्त्तव्य हैं। किन्तु यह बात अब स्पष्ट कर देनी चाहिये कि संसद सदस्य अथवा सैनिक के अतिरिक्त हजारों रीतियों से समाज की सेवा में योग दिया जा सकता है। हमें यह समझना होगा कि प्लेटो के सिद्धान्त और उसके विशिष्ट प्रयोग में जो अन्तर है वह बहुत कुछ तत्कालीन परिस्थितियों का परिणाम है। निर्विवाद सत्य है कि स्त्रियों और पुरुषों में जितना अधिक सहयोग होगा उतना ही अधिक सुख सन्तोष बढ़ेगा। परन्तु इस सिद्धान्त के प्रयोग करने के विषय में स्वयं प्लेटो ने इसकी आलोचना का मार्ग सुझाया है। हम उसके निष्कर्ष का खण्डन सिर्फ इतना कहकर नहीं कर सकते कि पुरुष और स्त्री भिन्न हैं हमें पूरी तरह इस प्रश्न का समाधान करना पड़ेगा कि उनकी भिन्नता के पहलू कौन-से हैं। इस प्रश्न पर विचार करते हुए अरस्तू इस सिद्धान्त से आरम्भ करता है कि स्त्री और पुरुष के बीच जो अन्तर या भेद है वह मूलतः उनके सामाजिक कर्त्तव्यों पर प्रभाव डालता है। उन्हें समान कार्य कदापि नहीं करना चाहिये, एक को दूसरे के कर्त्तव्य में पूरक होना चाहिये। इस दृष्टि से क्षुद्र पशुओं से तुलना करके प्लेटो जो बात रखना चाहता है उससे कोई तथ्य प्रकट नहीं होता। मान भी लें कि कुछ खास पशुओं के नर और मादा के चरित्र में बहुत बड़ी भिन्नता नहीं दिखायी देती तो इसका मुख्य कारण यह है कि वे मनुष्य के समान उच्चकोटि की विकसित अवस्था में नहीं पहुँच सके। मनुष्य सर्वोपरि विकसित प्राणी है इसी कारण उसके यौवन भेदभाव भी चरम श्रेणी के हैं।

२ इस तर्कपद्धति की दूसरी 'तरंग' का विषय परिवार प्रथा को शासकवर्ग के लिए समाप्त करना है। उसके स्थान पर राज्य-परिवार का गठन किया जाना चाहिये जिसके द्वारा राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण जनसमुदाय एक महान्

कुटुम्ब में परिणत हो जायगा। प्रायः यह कहा जाता है कि प्लेटो के सिद्धान्त और उनको कार्यान्वित करने की व्यवस्था में असम्बद्धता रहती है। यही भी कहा जाता है। उसका सिद्धान्त मनुष्य की श्रेष्ठतम अभिलाषा के बराबर है परन्तु उसके अनुसरण के लिए जो तन्त्र या व्यवस्था वह बताता है उससे लगता है कि उसकी सभ्यता कितनी बर्बर थी। फिर भी उसके कथन को हँसी में नहीं उड़ाया जा सकता अथवा न उसके प्रस्ताव को असम्भव कहकर समाप्त किया जा सकता है। भले प्लेटो गलत ढंग से सोच रहा है तो यह पता लगाना होगा कि किस प्रकार गलती हुई है। उसने अपना प्रस्ताव दो कारणों पर आधारित किया है। पहला आधार यह है कि जनमण्डल में शिशु जन्म की संख्या निर्धारित करने हेतु एक प्रणाली हो जो इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य शिशु संगोपन का भार सहन करे। दूसरा आधार यह है कि जनमण्डल में विशिष्ट प्रकार की स्वार्थपरता कम करके उसके आत्मबल की वृद्धि की जाय क्योंकि प्लेटो के विचार में विद्यमान कुटुम्ब प्रथा के कारण अथवा उससे सम्बद्ध होने से जनमण्डल में स्वार्थपरता का बाहुल्य होता है।

(अ) यह कुछ पशुओं के साथ मिसाल करके अपनी बात का आरम्भ करता है। उसे कोई उचित कारण नहीं दिखायी देता जिसके अनुसार हम घरेलू जानवरों के पालन-पोषण जैसी सावधानी मनुष्य सन्तान के सम्बन्ध में न रखें। यदि पालतू पशु की नस्ल और विकास महत्त्वपूर्ण है तो उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण मनुष्यजाति प्राणियों का पालन होना चाहिए। इसी उद्देश्य से प्लेटो एक प्रशस्त प्रणाली का विवरण करता है जिसके द्वारा संरक्षकवर्ग की सन्तान का जन्म और सञ्चालन राज्य नियन्त्रित रहे और यथानिर्दिष्ट सिद्धान्तों के अनुसरण से उसे नियमित किया जाय। आधुनिक समय में अनेक विद्वान् प्लेटो के इसी विचार के समान इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक अध्ययन कर रहे हैं। यह बात स्वयंसिद्ध है कि जनमण्डल के सदस्यगण जिन परिस्थितियों में जन्म लेते हैं वे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं और इस साधारण तथ्य की अवहेलना के परिणाम बहुत व्यापक रूप से घातक हैं। लेकिन समस्या यह है कि पुरुष तथा स्त्री की मानसिक रचना को ध्यान में रखकर कहाँ तक विवाह को नियमबद्ध किया जा सकता है? प्लेटो यह स्वीकार करता है कि इसे एक योजनाबद्ध प्रणाली के रूप में परिणत करके ही इसे क्रियान्वित करना सम्भव है अन्यथा यह व्यवस्था टिकाऊ नहीं होगी। परन्तु जिन लोगों को इस नियन्त्रणबद्ध व्यवस्था में रहना पड़ेगा इसके विपक्ष में उनके कारण सचमुच युक्तिपूर्ण हैं। यह कभी सम्भव नहीं है कि

शेष सभी लोगों के अतिरिक्त कुछ परमप्रवीण मनुष्य किसी भी जनमण्डल में मिल जायें जिन पर यह विश्वास किया जा सके कि वे सचमुच इस प्रणाली के कुशलतापूर्वक सचालन में दूसरों के जीवन को नियमबद्ध करने में सफल हो सकेंगे। फिर इस ढंग से मनुष्यसमूह को नियम में जकड देना उन्हें पशुतुल्य व्यवहार के योग्य मानना है उनके विचारशीलत्व की अवज्ञा है। इसी को दूसरे ढंग से कहा जा सकता है परन्तु पशुओं का पालन निश्चित उद्देश्य की पूर्ति में किया जाता है। भले पालन की व्यवस्था उन पशुओं के लिए बहुत अधिक हितकर न हो परन्तु उसका अस्तित्व मनुष्य के सुख सन्तोष की दृष्टि से ही सार्थक होता है। ऐसी पद्धति को मनुष्य समाज के लिए उपयोगी समझने का आशय यह हो जाता है कि कुछ थोडे से लोग शेष सभी व्यक्तियों के अर्थात् बहुसंख्यक मनुष्यों के जीवन का लक्ष्य निश्चित करने के अधिकारी मान लिये गये हैं। दासता को मानवता के प्रति जघन्य दुष्कृत्य माना गया है क्योंकि गुलामी में मनुष्य के साथ क्षुद्र पशु के समान व्यवहार किया जाता है, अपने जीवन की गतिविधि तय करने के उसके अधिकार की अवहेलना की जाती है। योजनाबद्ध प्रणाली से गुलामों को पैदा करना तो इस गर्हित दुष्कृत्य की परम सीमा हो जायगा। जिस पद्धति से मनुष्य जाति का एक समूह इतना सत्ताधिकार-सम्पन्न कर लिया जाये कि वह शेष विशाल समूह का जीवन नियन्त्रित करने लगे, तो उसे गुलामी प्रथा जैसा ही अक्षम्य अपराध माना जायगा।

(आ) अपनी योजना के समर्थन में प्लेटो जो दूसरा तर्क प्रस्तुत करता है उसे पहले की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण समझना चाहिये। इस तर्कपद्धति में प्लेटो ने नागरिक और राज्य के सम्बन्धों की अपनी कल्पना को अत्यन्त प्रभावी ढंग से निरूपित किया है। प्रायः कहा जाता है कि इस और इसके पूर्व के तर्क का मूलरूप व्यक्तित्व की उपेक्षा है अथवा वह समवाय (जनमण्डल) के नाम पर व्यक्ति के अधिकारों का बलिदान है। किन्तु इन शब्दों में भी दोष का यथार्थ संकेत नहीं मिलता या इनसे प्लेटो के युग से आज तक जो प्रगति हुई है उसका समुचित विचार प्रकट नहीं होता। हम और प्लेटो लगभग समानरूपेण अभी तक यह मानने को तैयार नहीं हो सके हैं कि व्यक्ति को स्वतः अपने और अपनी सम्पत्ति के विषय में स्वच्छानुसार कुछ भी करने का अधिकार है अथवा अपनी सन्तान के निमित्त उसका यह हक है कि वह समवाय (जनमण्डल) के हितों को तिलाञ्जलि दे दे। व्यक्ति का प्रत्येक अधिकार दूसरों की स्वीकृति पर निर्भर है और कुछ शर्तों के कारण उपभोग्य है। हमें यह मानना पड़ेगा कि व्यक्तित्व तथा

जनमण्डल म परस्पर अथ विरोध नही है जसा व्यक्तित्व और जनमण्डल से ध्वनित होता है। इस प्रतिकूलता म जो वषम्य जान पडता है वास्तव म वह व्यक्तित्व क भिन्न रूपो की विषमता है। अथवा मनुष्य जितने व्यापक लक्ष्य या सीमित लक्ष्य के साथ अपना तादात्म्य मानता है वही उसके व्यक्तित्व का विभेद है। उलटकर वह तो कोई जनमण्डल ऐसा नही हो सकता जो व्यक्ति-समूह का जनमण्डल न हो अथवा उसके स्त्री पुरुष सम्मिलित जीवन या हित के बराबर भागीदार न हो। सम्मिलित जीवन म या हित म हाथ बटाने क कारण व्यक्तित्व क यथाथ रूप म किसी प्रकार की यूनता नहा आती। यदि जनसेवक यथाशक्ति जनसेवा म अनुरक्त रहता है तो इस काय म उसके व्यक्तित्व पर कोई आँच नही आती। नितान्त कृपण क समान वह अपने आपको निर्धारित कतव्य म समर्पित करता है। यहाँ तक कि जब मनुष्य अपना व्यक्तिगत सत्ता को सम्मिलित हित म पूणरूपेण डुबा देता है और उस दूसरा के हेतु जीवित माना जाता है तब भी वह अपना व्यक्तित्व खो नही देता। एस मनुष्य का व्यक्तित्व विशाल हो जाता है। इस अभिप्राय म प्लेटो व्यक्तित्व क उन्मूलन अथवा नाश की कल्पना नही करता प्रत्युत वह सयुक्त हित की भावना स व्यक्तित्व क यथा सम्भव चरम उत्कष का विचार प्रस्तुत करता है।

इस प्रसग म दो प्रचलित वक्तव्या का अभिप्राय जान लना लाभकारी होगा सयुक्त हित भावना तथा यह लोकोक्ति कि सस्थान विवेकहीन होत हैं जो सयुक्त हित भावना म निहित हमार प्रयोजना का खण्डन करती जान पडती है। सयुक्त हित भावना का आशय यह है कि व्यक्तिजन म एक सम्वेदन की अनुभूति है जो उस वशीभूत कर लेती है। सना का एक सनिक जब उसके अभीष्ट से उत्तेजित होता है तो उस यह नही लगता कि यह उत्तेजना कोई विजातीय आवेश है। हम जानते हैं कि इस उत्तजना के प्रभाव में रहकर कभी-कभी मनुष्य ऐसे काम कर दिखाता है जो इसक अभाव म उससे अपेक्षित नही थे किन्तु जब वह इस आश्चयकारक कतृत्व का परिचय देता है तब उसके व्यक्तित्व की रचमात्र क्षति नही होती। प्लेटो इसी बात को दृढतापूवक ग्रहण करके चलता है। वस्तुत वह कहता है कि यदि प्रत्येक मनुष्य निर तर उसी भावावग म बना रहे जिसस प्रबल राष्ट्रीय सकट म सभी मनुष्य आदोलित हुआ करते है तो मानव जीवन का आदश सुलभ हो जायगा। हम कहग कि यह असम्भव है पर तु प्रत्यक आद। एसा ही है। फिर भी इसी कारण स आदश की गुरुता कदापि कम नही होती। अरस्तू का मत है कि कुटुम्ब को भग करके उस बड पमाने पर फिर सगठित

करने की प्लेटो की योजना निर्दिष्ट ध्येय की पूर्ति कदापि नहीं कर सकती। वह यथार्थ कौटुम्बिक भावना का निर्माण इतने बड़े पैमाने पर नहीं करेगी। जनमण्डल के सदस्यों में परिवार प्रेम एक स्वांग सा रहेगा। इस आलोचना में काफी सचाई है। यही उन अनेक विचारों का स्मरण दिलाती है जिनके बल पर लोग संस्थानों को विवेकहीन कहने को लाचार होते हैं।

यह शंकारहित सत्य है कि जब कई मनुष्य एक साथ काम करते हैं तब उनका दायित्वबोध उत्कट होने के बजाय बहुधा निःसत्व हो जाता है। लेकिन इस दशा में भी दूसरों के साथ कार्यरत होने के कारण आदमी के व्यक्तित्व का नाश नहीं होगा। असल में इस प्रकार उसे एक नये व्यक्तित्व का आभास मिल जाया करता है। कल्पना की दृष्टि में साधारण व्यक्तित्व से यह नया व्यक्तित्व घटिया लगता है जबकि पहले के प्रसंगों में वर्णित व्यक्तित्व चमत्कार जान पड़ता है। 'संस्थान विवेकहीन होते हैं' और 'सबका काम किसी का काम नहीं रहता' जैसे कथन एक महत्त्वपूर्ण तथ्य को सम्मुख रखते हैं। मनुष्य स्वभाव एक सीमा में बंधा होने के कारण वास्तव में उसी के भीतर सम्मिलित जीवन बिता सकता है। इतना ही नहीं, यदि इस दिशा में मानव प्रकृति पर अनावश्यक दबाव डाला जाये तो सचमुच एक हद तक वह संयुक्त जीवन का निर्वाह तो कर लेगा किन्तु इसके फलस्वरूप व्यक्तित्व विकास की उच्चता खो जायगी। जब यह कहा जाता है कि प्लेटो व्यक्ति के अधिकारों की अवज्ञा करता है तो असल बात यह है कि वह सत्य के इस अर्ध भाग को दृढ़तापूर्वक ग्रहण नहीं कर पाया।

अब हम इसी मन्तव्य को कुटुम्ब में प्रयुक्त करके देखें। प्लेटो जिन बहुतेरे दुष्कर्मों को कुटुम्ब के साथ सम्बद्ध करता है, निःसन्देह वे बहुत कुछ सच हैं। वह कुटुम्ब को नीच और क्षुद्र स्वार्थता का केन्द्र मानता है। बहुधा ऐसा होता भी है। स्वजन पक्षपात या सारभूत प्रयोजन एक उदाहरण है। इतिहास साक्षी है कि उसके बड़े-बड़े कुत्सित कर्मों का मूलपात वंशगत स्वार्थों का परिणाम रहा है जो सचमुच बड़े पैमाने पर कुटुम्बगत हित ही है। कुटुम्ब संस्था के साथ जुड़े हुए ममता से बढ़कर मनुष्य की स्वार्थपरता का नग्न प्रदर्शन अन्यत्र देखने नहीं मिलता। किन्तु कुटुम्ब के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी स्वार्थ त्याग के इतने गौरवशाली प्रमाण नहीं मिल सकते। जितने सराहनीय गरिमापूर्ण सत्कर्मों के उदाहरण मिलते हैं उनमें से अनेक मनुष्य और नारी के प्रेम अथवा माता पिता तथा सन्तान के प्रेम के परिणाम हैं और इसी तरह नितान्त गर्हित आचरण भी इस कारण प्रकट हुआ है। सच तो यह है कि कुटुम्ब में ही मनुष्य के व्यक्तित्व का

परम उत्कट स्वरूप अपने आपको प्रकाशित करता है चाहे वह शुभ हो अथवा अशुभ। इस प्रकार वस्तुस्थिति स्पष्ट होने पर प्लेटो के प्रस्ताव में उत्पन्न समस्या यह है मानव स्वभाव में निश्चित मूलवृत्तियाँ हैं जो जन्मजात हैं और उन्मूलन के परे हैं। इनमें स्वार्थपरता और निःस्वार्थ भाव की समान योग्यता निहित है। ऐसी दशा में इनको और इनके फलस्वरूप निर्मित संस्थाओं को उत्तम प्रकार से हितकारी बनाने का क्या उपाय है? प्लेटो के मतानुसार पहले तो इन मूलवृत्तियों को ऐसे अवसरों से यथासम्भव दूर रखना चाहिये जिनके कारण वे स्वार्थपरायण हो जाती हैं और दूसरे इन्हें ऐसे अनुकूल वातावरण में तथा व्यापक क्षेत्र में सुशिक्षित करना चाहिये ताकि उनमें निःस्वार्थभाव कूट-कूट कर भर जाये। हमें बरबस कहना पड़ेगा कि दूसरी प्रक्रिया असम्भव है। यदि इसे कार्यान्वित करने का यत्न भी किया जायगा तो उसका फल वही पनीला स्नेह होगा जिसे अरस्तू पहले बता चुका है। उचित यही है कि जिन मूलवृत्तियों में कुटुम्ब का निर्माण होता है उन्हें गलाकर किसी श्रेष्ठ साँचे में ढालने का यत्न न किया जाय, वे जैसी हैं उन्हें उसी रूप में स्वीकार करके उत्तम लक्ष्य की दृष्टि से उनका सुरुचि तथा शिक्षा के लिए उपयोग किया जाय। राज्य को हम एक विराट कुटुम्ब नहीं बना सकते। परन्तु कुटुम्ब जीवन को हम इस तरह सुसंस्कृत अवश्य कर सकते हैं कि वह राज्य की सेवा का उत्तम साधन बन जाये। यह सम्भव है कि कुटुम्ब की संस्था में जीवन के आरम्भ में निःस्वार्थता का ऐसा बीज बोया जा सकता है जो कुटुम्ब की सीमा से संकुचित न होकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में परिणत हो जाय।

प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना में अरस्तू का नितान्त स्पष्ट और व्यापक आक्षेप यह है कि एकता के गुण की अतिरंजित कल्पना ही प्लेटो की मौलिक भ्रान्ति है। इस आलोचना को और सही ढंग से यों व्यक्त किया जा सकता है कि प्लेटो के मन में एकता की धारणा एकांगी और सदोष थी। उसे ठीक तरह से यह भान ही नहीं हुआ कि मानव समाज में केवल नानात्व के माध्यम से ही एकत्व की उपलब्धि हो सकती है। आदर्श राज्य वही कहला सकता है जिसमें वैयक्तिक भिन्नता के लिए विशाल क्षेत्र खुला हो और इसके रहते हुए भी एकता का परम लाभ मिल सके।

फिर से प्लेटो के इस प्रस्ताव पर विचार कर लेना चाहिये कि सन्तानोत्पत्ति मर्यादित की जाये। जिन बहुसंख्यक विद्वानों ने इस बात पर अध्ययन किया है वे प्लेटो के समान स्वीकार करते हैं कि सन्तानोत्पत्ति एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण

विषय है जो जनमण्डल के कल्याण में विचारणीय है। इसीलिए इस प्रक्रिया को तत्सम्बन्धी उत्तम ज्ञान से शासित करना जरूरी है। जनमण्डल के सभी सदस्य बहुतेरी दूसरी बातों की अपेक्षा इस मामले में अपने दायित्व के प्रति अधिक सजग रहें। परन्तु प्लेटो अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए कतिपय प्रशिक्षित और सर्वसत्ताधिकार सम्पन्न व्यक्तियों के हाथों में सन्तानोत्पत्ति का नियमन सौंप देना चाहता है। इसके विपरीत हम सब प्लेटो के उद्देश्य की पूर्ति का एक ही मार्ग उचित समझते हैं। समूचे जनमण्डल में सन्तानोत्पत्ति से सम्बन्धित ज्ञान का प्रचार प्रसार किया जाना चाहिये। इसके साथ जनमानस में उस उत्तरदायित्व का सम्यक् बोध भी जगाना चाहिए जिसे प्लेटो कुछ चुने हुए लोगों के हाथों में रख देना चाहता है। ठीक है कि यह प्रक्रिया बहुत मन्द गति से अग्रसर हो सकेगी।

विवाद के इस छोर तक पहुँचने के बाद विषयान्तर हो जाता है और युद्ध की रीतियों का प्रसंग चल पड़ता है। इसी के सहारे सुकरात इस सवाल से बचता रहता है कि जिस सामाजिक स्थिति का उसने चित्रण किया है वह व्यावहारिक है अथवा नहीं। आरम्भ में वह समझाता है कि बच्चों को किस विधि से पालन करके सैनिक बनाया जा सकता है और फिर नागरिकों के परस्पर आचरण का निरूपण करता हुआ शत्रुओं के साथ व्यवहार की रूपरेखा देता है। इस सारी चर्चा में मध्ययुगीन शौर्य की कई विचित्र पूर्वधारणाएँ प्रकट हुई हैं। तरुणों को साम तथा पद ग्रहण करना चाहिए, सैन्य कौशल के सम्बन्ध में प्रेम की प्रेरणा आवश्यक है, कविता युद्ध की दासी के समान उपयोगी और इसी प्रकार से भावना तथा नीति का मिश्रण कई तरह व्यक्त हुआ है। वीर पूजा को प्रबल मान्यता देकर महान् पुरुषों को धार्मिक सन्तों की सूची में जोड़ देना एक नियमित क्रिया बना दी जाये। इस मामले में डेल्फी के प्रमाण-पुरुष का आसन गिरजाघर के शीर्षस्थ सत्ताधीश के समकक्ष कर दिया जाय। 'रिपब्लिक' में डेल्फी के प्रमाण पुरुष की चर्चा प्रमुख है। प्लेटो मानता है कि यह ग्रीक जाति की एकता का केन्द्र है और उसके विघटन या विध्वंस को रोकने के अन्य साधनों में इसका भी स्थान है। इसी प्रसंग में उक्त प्रमाण पुरुष युद्ध की रीतियों को कुछ न कुछ मर्यादित करने का साधन बना दिया गया है। प्लेटो का फतवा है कि किसी भी सैनिक को रणक्षेत्र में जीवित पकड़े जाने का अवसर नहीं देना चाहिए और जो व्यक्ति युद्धक्षेत्र में लज्जास्पद हो जाये उसे समाज में निम्नतर श्रेणी में रखा जाय। शत्रुओं के साथ बर्ताव के बारे में प्लेटो जोर देता है कि ग्रीकजन दूसरे ग्रीकवासी को कभी

गुलाम न बनाये। इन बातो स पता चलता है कि उसके मन मे ग्रीकजाति की अखण्डता निर तर भूलती रहती है और वह स्वभावत बबर जाति के आचरण का विपरीत उदाहरण मानकर ग्रीकजाति के व्यवहार को आकता है। इसी भावना से वह युद्धजनित रीतिया को निर्धारित करता है। यही कारण है कि वह ग्रीकजाति के लागा की कवल दासता का विरोधी नही है बल्कि युद्धगत अय दुष्कर्मों को भी नि दनीय मानता है जिनस ग्रीकजना म वमनस्य की परम्परा बन और वह दृढ हो जाये। म दिरा म शास्त्रावण भूमि का विध्वस निवासगृहा को जलाना आदि की उसन भत्सना की है। वह चाहता है कि ग्रीक जनता क परस्पर युद्ध का गृहयुद्ध माना जाय वध युद्ध नही क्योकि सभी ग्रीकजन एक ही जाति क सदस्य हैं। उसका कथन हम पेलोपानशियन युद्ध का स्मरण दिलाता है जसा थूसीडाइडीज के लखन मे चित्रित है। जसे जसे वह युद्ध बढता गया उस एक वग का दूसरे के विरुद्ध सामाजिक सग्राम का स्वरूप मिलता गया और इसके भयकर परिणाम हुए। लगता है कि स्पार्टाजाति ने प्लटो क कुछ सिद्धाता का अपना लिया था। मृतक सनिक क शव को कितना और क्लेश देना—इसकी मर्यादा बना दी गयी। इसी प्रकार प्लूटाक के अपाफथगमारा लकानिका मे लाइकरगस के मुख से जो बात कहलायी गयी है वह प्लेटो के कथन से बहुत मेल खाती है। ग्रीस म स्पार्टा के लोग ही ऐसे थे जो मन्दिरा म अपन शस्त्र अर्पित नही करते थे जिस बली रोमनेस के द्वारा व्यक्त कराया गया है। पराजिता को अपने साथी मृतका के दफनाने की इजाजत न देने क उदाहरण ग्रीस मे बहुत विरले ही हैं और यदि कभी इस तरह मनाही की गयी तो उसे घृणास्पद माना जाता था। द्वितीय पवित्र सग्राम म फोशियन जजो को मृतक सस्कार की आज्ञा नही दी गयी थी। ईगोस पोटामी म अपने एथेसवासी मृतका को बिना दफनाये छोडे जाने पर लिसण्डर की कटु भत्सना की गयी थी।

युद्धकाल मे ग्रीकजनो के परस्पर व्यवहार की चर्चा करने के बाद प्लेटो बबर जाति को बिलकुल अलग श्रेणी म रखकर अपनी बात खत्म करता है, उनके साथ ग्रीकजन चाह ता, युद्ध मे वही बताव कर सकते हैं जो वे अपने बीच किया करते हैं। यह बात आश्चयजनक है कि कतिपय महान् विचारको की दृष्टि मानवा धिकारो क विषय मे कितनी सकुचित रही है।

□ □

दर्शन तथा राज्य

इस मध्या तर के पश्चात् मुकरात नही चाहता कि विवाद की सबसे महत्व
पूण तृतीय 'तरग' का विचार अब अधिक समय तक रुका रहे । आदश राज्य
के विषय मे जो कुछ अभी तक कहा जा चुका है वह बहुत वि़िया है और हम
भी इसमे बहुत कुछ और जोड सकत हैं परतु क्या यह सम्भव है ?

सामा यत आदश का यथायता के साथ जो सम्ब व है उसके बारे म सुक
रात कुछ आरम्भिक बातें कहता है । इसके बाद ही अपने वाकभण्डार मे सुर
क्षित विरोधाभासी रहस्य का वह उद्घाटन करना चाहता है । वह बताता है
कि अप्राप्य होने के कारण ही आदश का गौरव घटता नही है । हमने शुरू में
'याय क्या है ? प्रश्न उठाया था और उसका आशय होता है 'यायस्वत अथवा
न्याय का स्वरूप क्या है ?' अब हमे यह आशा नही करनी चाहिये कि यदि कोई
मनुष्य यायी है तो एक प्रकार से वह स्वय मूर्तिमान् याय हो गया । इतने म
ही स तोष रखना ठीक है कि हम याय को एक अनुकरणीय शली के रूप म
मानें जिसके अनुकूल यायी से यायी मनुष्य, केवल निकटतम सचाई के साथ
विचार और निणय कर सकता है । दूसरी तरह प्लेटो की भाषा मे यह कहना
पड़ेगा कि वस्तुस्थिति स्वत जैसी है और जैसी वह हमारे अनुभव म मूत होती
है—इन दोनो अवस्थाओ मे एक निश्चित भेद या अ तर है । ठीक यही अ तर
आदश तथा यथायता के बीच का अ तर कहा जा सकता है । मानवी कम के
लिए याय की प्रकृति एव साँचे के समान मान लेने पर हम निर्भीक होकर कह
सकते हैं कि आदश जनमण्डल के विषय मे जो निष्कष हमने पाया है वही
मानव-जीवन का सत्य है । सच्चा मनुष्य-जीवन अभी तक दिये गये वणन के
अनुरूप ही होगा । मनुष्य-जीवन के सभी विद्यमान् रूप या शलियाँ कुछ सीमा

गुलाम न बनाये। इन बातो से पता चलता है कि उसक मन मे ग्रीकजाति की अखण्डता निरन्तर भूलती रहती है और वह स्वभावत ववर जाति के आचरण का विपरीत उदाहरण मानकर ग्रीकजाति के व्यवहार को आकता है। इसी भावना से वह युद्धजनित रीतिया को निर्धारित करता है। यही कारण है कि वह ग्रीकजाति के लोगा की केवल दासता का विरोधी नही है वल्कि युद्धगत अन्य दुष्कर्मों का भी नि दनीय मानता है जिनस ग्रीकजना म वमनस्य की परम्परा बन और वह दृढ हो जाय। मन्दिरा मे शस्त्रापण भूमि का विध्वस, निवासगृहा का जलाना आदि की उसन भत्सना की है। वह चाहता है कि ग्रीक-जनता क परस्पर युद्ध को गृहयुद्ध माना जाय वध युद्ध नही क्योकि सभी ग्रीकजन एक ही जाति के सदस्य हैं। उसका कथन हम पेलोपानेशियन युद्ध का स्मरण दिलाता है जसा थूसीडाइडीज के लेखन म चित्रित है। जसे जसे वह युद्ध बढता गया उस एक वग का दूसरे के विरुद्ध सामाजिक सग्राम का स्वरूप मिलता गया और इसके भयकर परिणाम हुए। लगता है कि स्पार्टाजाति न प्लटो क कुछ सिद्धान्ता को अपना लिया था। मृतक सनिक क शव को कितना और कनेश देना—इसकी मर्यादा बना दी गयी। इसी प्रकार प्लूटाक क अपोफथगमारा लकोनिका मे लाइकरगस के मुख से जो बात कहलायी गयी है वह प्लेटो के कथन से बहुत मेल खाती है। ग्रीस म स्पार्टा के लोग ही एसे थे जो मन्दिरा मे अपने शस्त्र अर्पित नही करते थे जिसे क्लीयोमनेस के द्वारा व्यक्त कराया गया है। पराजितो को अपने साथी मृतको क दफनाने की इजाजत न देने के उदाहरण ग्रीस म बहुत विरले ही हैं और यदि कभी इस तरह मनाही की गयी तो उसे घृणास्पद माना जाता था। द्वितीय पवित्र सग्राम म फाशियन जजा को मृतक सस्कार की आज्ञा नही दी गयी थी। ईगोस पोटामी म अपने एथेन्सवासी मृतको को बिना दफनाय छोडे जाने पर लिसण्डर की कटु भत्सना की गयी थी।

युद्धकाल म ग्रीकजना के परस्पर व्यवहार की चचा करने के बाद प्लेटो बबर जाति को बिलकुल अलग श्रेणी म रखकर अपनी बात खत्म करता है, उनके साथ ग्रीकजन चाहे तो युद्ध म वही बताव कर सकते हैं जो वे अपने बीच किया करते हैं। यह बात आश्चयजनक है कि कतिपय महान् विचारका की दृष्टि मानवाधिकारा के विषय म कितनी सकुचित रही है।

□ □

इस मध्यान्तर के पश्चात सुकरात नहीं चाहता कि विवाद की सबसे महत्त्वपूर्ण तृतीय 'तरंग' का विचार अब अधिक समय तक रुका रहे। आदर्श राज्य के विषय में जो कुछ अभी तक कहा जा चुका है वह बहुत बढ़िया है और हम भी इसमें बहुत कुछ और जोड़ सकते हैं परन्तु क्या यह सम्भव है?

सामान्यतः आदर्श का यथार्थता के साथ जो सम्बन्ध है, उसके बारे में सुकरात कुछ आरम्भिक बातें कहता है। इसके बाद ही अपने वाक्भण्डार में सुरक्षित विरोधाभासी रहस्य का वह उद्घाटन करना चाहता है। वह बताता है कि अप्राप्य होने के कारण ही आदर्श का गौरव घटता नहीं है। हमने शुरू में "न्याय क्या है?" प्रश्न उठाया था और उसका आशय होता है "न्यायस्वतः अथवा न्याय का स्वरूप क्या है?" अब हमें यह आशा नहीं करनी चाहिए कि यदि कोई मनुष्य न्यायी है तो एक प्रकार से वह स्वयं मूर्तिमान न्याय हो गया। इतने में ही सन्तोष रखना ठीक है कि हम न्याय को एक अनुकरणीय शैली के रूप में मानें जिसके अनुकूल न्यायी से न्यायी मनुष्य केवल निकटतम सचाई के साथ विचार और निर्णय कर सकता है। दूसरी तरह प्लेटो की भाषा में यह कहना पड़ेगा कि वस्तुस्थिति स्वतः जैसी है और जैसी वह हमारे अनुभव में मूर्त होती है—इन दोनों अवस्थाओं में एक निश्चित भेद या अन्तर है। ठीक यही अन्तर आदर्श तथा यथार्थता के बीच का अन्तर कहा जा सकता है। मानवी कर्म के लिए न्याय की प्रकृति एक साँचे के समान मान लेने पर हम निर्भीक होकर कह सकते हैं कि आदर्श जनमण्डल के विषय में जो निष्कर्ष हमने पाया है, वही मानव-जीवन का सत्य है। सच्चा मनुष्य-जीवन अभी तक दिये गये वर्णन के अनुरूप ही होगा। मनुष्य-जीवन के सभी विद्यमान् रूप या शैलियाँ कुछ सीमा

तक सत्य के मिथ्या प्रदर्शन हैं। वे सत्य से ओछे होते हैं। यदि हमसे यह माँग की जाये कि हम आदर्श की शक्यता को सिद्ध करके बतायें तो हम निश्चय ही यह कहेंगे कि कोई आदर्श यथातथ्य सम्भाव्य नही है। और उसे सम्भव मानना उसके सम्बन्ध में नासमझी होगी। वस्तु की प्राकृतिक प्रवृत्ति ही ऐसी होती है कि कार्य में सत्य को धारण करने की क्षमता शब्द अथवा विचार की अपेक्षा कम हुआ करती है। समस्त आदर्शों को यह सामान्य सिद्धान्त प्रयुक्त होता है। तदनुसार रिपब्लिक के विषयवर्णन का फिर से ध्यान करके प्लेटो लाज़ (Laws) मे पुनः आग्रह करता है कि उसमें उल्लिखित शैली या रूप ही वास्तविक है परन्तु केवल देवगण अथवा देवपुत्र उसका व्यवहार कर सकते हैं। वह 'रिपब्लिक' में अपने कल्पित आदर्श की किसी तरह काट छाँट नही करता। इसी में उसे सन्तोष है कि उसने आदर्श का प्रदर्शन करके उसे आदर्श सिद्ध कर दिया। जब दूसरी व्यावहारिकता को चुनौती दी जाती है, तब लाचार होकर वह बतलाता है कि मानव स्वभाव उसकी निकटतम उपलब्धि का प्रयास किस प्रकार कर सकता है। परन्तु वह इसे नही समझा पाता कि मानव स्वभाव उस आदर्श को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है।

आदर्श को व्यवहारगम्य बनाने का कार्य स्वतः प्रश्नवाचक चिह्न बन जाता है जिस मूलरूप में मानव जीवन है उसमे कौन सा तत्त्व है जो आदर्श की प्राप्ति मे बाधा डालता है और वस्तुस्थिति मूलतः जैसी है उसमें कौन सा न्यूनतम परिवर्तन हो सकता है जिससे मनुष्य आदर्श की उपलब्धि मे समर्थ हो जाय? (इसमें निहित अभिप्राय यह है कि मनुष्य का आदर्श शुभ और उसकी प्रकृति में अशुभ का उद्गम वास्तव में एक ही चीज है।) एक ही परिवर्तन है जो तुच्छ नही है परन्तु शक्य है और जो मानव-जीवन के आदर्श को आविर्भूत कर सकेगा तथा केवल एक ही स्रोत है जिससे मानव जीवन में अशुभ प्रस्फुटित होता है। दर्शन को सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न बनाना ही एक परिवर्तन है अथवा दूसरे शब्दों में, राजनीतिक सत्ता तथा दार्शनिक अन्तर्दृष्टि की सहति या संयोग होना चाहिये और इन दोनों उपादानों का विच्छेद या पार्थक्य मनुष्य जाति के समस्त दुःखों का मूलस्रोत है। इस तरह राजनीतिक सत्ता तथा दार्शनिक अन्तर्दृष्टि की सहति का फल यह होगा कि अभी जितने लोग सत्तासीन हैं उनमे से अधिकांश पदच्युत हो जायेंगे तथा दर्शनशास्त्र में अनुरक्त बहुसंख्यक मनुष्य उससे वंचित कर दिये जायेंगे।

स्वाभाविक है कि इस निषेधमुखी प्रतिफल के कारण अधिक विरोध और कोलाहल उत्पन्न होगा। किसी भी युग के अग्रगण्य विचारवान व्यक्तियों में से बहुतेरे इससे मर्माहत होंगे चाहे वे राजनीतिज्ञ हों अथवा मनीषी। इसी से स्पष्ट होता है कि प्लेटो आगे की चर्चा में अपने पक्ष समर्थन का इतना गम्भीर प्रयास क्या करता है। समर्थन के निमित्त वह राजनीतिक नेताओं की अपेक्षा चिन्तनशील विद्वानों को सम्बोधित करने का प्रयास अधिक आवश्यक समझता है। शासकों के अज्ञानजनित अनाचार की अपेक्षा चिन्तनशील मेधा के दुरुपयोग या अपव्यय से फलित दुराचार प्लेटो के चित्त को अधिक व्याकुल करते हैं। चतुर्थ अध्याय अत्यन्त प्रतिभावान व्यक्तियों की निरर्थकता अथवा उनके ह्रास की सतत व्यथामयी घटना से ओतप्रोत है। हम दार्शनिक शब्द का प्रयोग सीमित अर्थ में करते हैं किन्तु प्लेटो की दृष्टि में दार्शनिक सर्वतोमुखी मेधावी व्यक्ति है। हमारे विचार से दार्शनिक को विशेष प्रकार की प्रतिभा मिली है किन्तु प्लेटो दार्शनिक के वर्णन में उन समग्र गुणों को गिना देता है जो महापुरुषों में अपेक्षित हैं।

विवाद के इस छोर से सप्तम अध्याय के अन्त तक तर्कपद्धति में कहीं व्याघात नहीं होता। अभी विषयवस्तु की जिस अवस्था का उल्लेख हुआ है उसी का अविराम विकास उस खण्ड में दिखलाया गया है। (१) पहले खण्ड में दार्शनिकों की व्याख्या की गयी है। (२) यदि हम दार्शनिक के वास्तविक अर्थ को ग्रहण कर चुके हैं तो केवल इन व्यक्तियों का शासन राज्य में निपुण माना जाना तर्कसंगत है क्योंकि पूर्ण पुरुष में अपेक्षित समस्त मूलगुण और श्रेष्ठताएँ दार्शनिक प्रकृति की कल्पना में प्रवहमान होती हैं। इन नाना पक्षों को विचारकर समझने पर हमारे सम्मुख दार्शनिक प्रकृति का आदर्श प्रकट होता है और यह प्रमाणित होता है कि दर्शनशास्त्र का यथार्थ प्रयोजन क्या है। तदनुसार (३) अगले खण्ड में दार्शनिक का स्वरूप सम्बन्धी विवाद दिखाया गया है और बताया गया है कि सम्मुख दर्शन का अभिप्राय क्या है। यहाँ प्लेटो दार्शनिक प्रकृति के आदर्श और तद्विषयक यथार्थ तथ्यों में जो जाना माना तथा प्रत्यक्ष वैषम्य है उसे विस्तार से समझाता है। फलतः यह सिद्ध किया जाता है कि इन तथ्यों का कारण दार्शनिक प्रकृति तथा उसके परिवेश में समन्वय का अभाव है, इन तथ्यों के लिए स्वयं समाज दोषी है, समाज उत्कृष्ट स्वभावीजनों को भ्रष्ट और व्यर्थ बना देता है। (४) इसके बाद यह बताना जरूरी हो जाता है कि समाज किस प्रकार दर्शन के अनुकूल अपने आपको मोड़े और किस प्रकार दार्शनिक प्रकृति के परिष्कार का उसके निमित्त हितावह बनाये। अन्त में घूमघाम कर हम फिर (५) शिक्षा की समस्या की ओर

सम्मुख पाते हैं। अपने परिवेश के साथ आत्मा का समजन तथा परिवेश की उसके साथ अनुकूलता शिक्षा के व्यापक प्रयोजन का विषय है अतएव दार्शनिक प्रकृति की नयी तथा परिवर्धित कल्पना से आगे बढ़कर हमारी जिज्ञासा है कि जिस सौन्दर्यदर्शन का विचार हम पहले कर चुके हैं, उसके अतिरिक्त और उन्नत आशय में शिक्षा का स्वरूप कैसा होना चाहिए। विज्ञान विषयों में प्रशिक्षण द्वारा दार्शनिक प्रकृति का परिपोषण अन्ततः हमें दर्शन के अध्ययन में अग्रसर करके रहेगा। षष्ठ अध्याय से सप्तम अध्याय के एक खण्ड में इसी विषय पर प्रकाश डाला गया है। मनुष्य के अन्तःकरण में दार्शनिक प्रकृति का सारभूत तत्त्व उसे वस्तुस्थिति के अन्तरंग ज्ञान की ओर प्रेरित करता है उसे चतुर्दिक् दृश्यमान जगत् के सम्बन्ध में जिज्ञासु बनाता है और ऐसे सुबोध्य विश्व में स्वयं आश्वस्त होकर वह निवास करता है। विज्ञान विषय मनुष्य के उन प्रयत्नों के प्रतिबिम्ब हैं जिनसे वह विश्व बोध में अनुरक्त होता आया है। इसीलिए उन प्रयत्नों से प्रशिक्षित होने से आत्मा विश्व का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो सकती है। ये विषय दर्शनतत्त्व के फल हैं जिस प्रकार कला भी इसी तत्त्व की एक अवस्था या परिणाम है। पिछले परिच्छेद में जिस प्रकार शिक्षा विषयक खण्ड में कला को आत्मा की पोषक सामग्री कहा गया है इसी तरह भिन्न अवस्था में विज्ञान विषयों का उपयोग आत्मा को सुयोग्य बनाना है (६) विवाद के अन्तिम खण्ड में सप्तम अध्याय के अन्त तक इसी कल्पना के व्यावहारिक प्रयोग का निरूपण किया गया है और अभिभावकों के शैक्षणिक जीवन का यथाक्रम विभाजन अध्ययन की क्रमानुगत व्यवस्था तथा प्रत्येक अवस्था में कालव्यय का समुचित विवरण है।

(१) सर्वप्रथम प्लेटो दार्शनिक प्रकृति का विश्लेषण अपनी दृष्टि से करता है जिसका लक्ष्य इस मत की पुष्टि है कि केवल दार्शनिक प्रबुद्धता ही राज्य सचालन में कुशल हो सकती है। इस परिच्छेद में हम सावधानी से प्लेटो के मत को जैसा का तैसा मानने में आगा-पीछा न करें और अचानक कोई निष्कर्ष निकालने की उतावली न दिखायें। पहले वह दार्शनिक तत्त्व को जातिगत विषय के रूप में प्रतिपादित करता है और फिर उसके विलक्षण भेदक स्वरूप को मिलते जुलते अन्य विषयों से भिन्न सिद्ध करता है।

दर्शनज्ञ शब्द के सरल अर्थ को स्पष्ट करके पहले वह उसके जातिगत लक्षण प्रस्तुत करता है। दर्शनज्ञ प्रज्ञानुरागी होता है। इस शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ अंग्रेजी भाषा में नष्टप्राय हो चुका है दार्शनिक की अपेक्षा चिन्ताशील का सामान्य आशय ग्रीकभाषा के शब्द के बहुत समीप है यद्यपि ग्रीक शब्द की

व्यापकता पूरी तरह उससे व्यक्त नहीं होती। प्लेटो के युग में सामान्य उपयोग करते समय इस शब्द से एक प्रकार की श्रेष्ठ संस्कृति का आशय समझा जाता था। यह भी शामिल था कि साधारणजन की अपेक्षा कुछ लोग विशेष रुचि से कतिपय विषयों की ओर अनुरक्त होने का दावा करते थे। फलतः राज्यविशारद, कलाकार, विज्ञानविद् जैसे बहुसंख्यक विभिन्न मनुष्य दर्शनवेत्ता कहलाने लगते थे। किन्तु इस दर्शनप्रियता का यह अभिप्राय कदापि नहीं था कि ये लोग अपने चुने हुए विषय में चिंतनशील रहा करते थे कोई चिंतनजन्य मत स्थिर करते थे—केवल इतना ही था कि अपनी रुचि के विषय में उच्चाशय से प्रवृत्त हुआ करते थे। आज भी इसी तरह के अर्थ में कभी कभी हम इस शब्द का व्यवहार करते हैं। हम यह देते हैं दार्शनिक डाक्टर या वकील अर्थात् वह व्यक्ति जो अपने विषय का अनुरागी है उससे कोई और आकांक्षा नहीं करता और न उस विषय के सम्बन्ध में असाधारण खोजबीन करना चाहता है। दार्शनिक का प्रयोग करते समय हम उसमें निहित भावावेशक तत्त्व को भुला दिया करते हैं। दार्शनिक का अर्थ है, वह मनुष्य जो किसी वस्तु का असाधारण ढंग से अनुरागी हो। क्या आशय है इस अनुराग का? जब हम किसी मनुष्य को मूलतः किसी वस्तु का अनुरागी समझते हैं या उसे सौन्दर्यासक्त कहते हैं या उसमें जन्मजात यशलिप्सा मानते हैं अथवा वह मनुष्य स्वभावतः सुराप्रिय है अथवा वह इसी प्रकार की अन्य रुचि का व्यक्ति हो, तब हम उसमें एक प्रकार का विवेकशून्य उत्साह या बुभुक्षा उस वस्तु के प्रति मानते हैं जिसकी ओर वह अत्यन्त ग्रहणशील है। सौन्दर्यग्राही पुरुष सहज ही निरन्तर आसक्तभावी होता है। इसके कारण सौन्दर्यपात्र के वर्णन की सम्पूर्ण शब्दावली का आविष्कार हुआ ताकि सौन्दर्यासक्त की अभिव्यक्ति में सुन्दरता का एक भी लक्षण छूट न जाये। ऐसे लोगों के चित्त में यौवन के प्रति सहज मुग्धता रहती है जिस पर सर्वस्व निछावर करके भी वे मन में रावन में सजग रहते हैं। यशप्रिय मनुष्य का भी यही हाल है वह सम्मान सत्कार की अव्यवस्थित भूख से नित्य पीड़ित रहता है, सेनापति न हो सके, तो उप सेनानी बनने को वह छटपटाता है, किसी भी प्रकार का पद मिले बशर्ते उसके साथ कोई उपाधि प्राप्त हो। (यह मान बैठना ठीक न होगा कि इस वर्णन में जो व्यक्त नहीं है उसे प्लेटो जानता नहीं है। उसने किसी निश्चित वस्तु के प्रति उत्साह के एक पहलू पर बहुत जोर दिया है और पूरी सचाई के साथ। लेकिन यह उल्लेख करने में वह चूक गया कि इस प्रकार के व्यक्तिगत चरित्र विचित्र ढंग से दायग्राही तथा अविवेकशील होते हैं। यह अद्भुत और निःसंशय तथ्य है कि जब कोई मनुष्य

किसी वस्तु के प्रति उत्कण्ठापूर्वक रुचिमन होता है तब वह अनोखे ढग से उसका दोषग्राही भी हुआ करता है। वारुणी और प्रभावलिप्सा क सम्बन्ध म यह बात बिलकुल स्पष्ट है। फिर भी बिन आलोचक आलोच्यवस्तु के प्रति उत्साहमय हुए बिना नही रह सकता। जब हम किसी मनुष्य को एस नाम म सम्बोधित करते हैं जो उसकी किसी वस्तुप्रियता क कारण उसक व्यक्तित्व का सार सूचित करता है तो हमारा यही अभिप्राय होना चाहिय कि उसकी रुचि शुरू शुरू म विवेकशून्य बुभुक्षामात्र है। ऐस मनुष्य की तुलना को व्यक्त करें तो कहना होगा कि वह नितान्त अनिष्ट या आदिम रुचि का है उस मनुष्य की जठराग्नि प्रबल होनी चाहिये और वह दुष्पोष्य व्यक्ति का विपरीत उदाहरण होगा।)

अब इसे दार्शनिक प्रकृति म प्रयुक्त करें। हम उसे दार्शनिक प्रकृति का मनुष्य नही कह सकत जो सौन्दर्यानुभूति क लिए विवकहीन ढग स बुभुक्षित नही है। यहा फिर उपयुक्त शब्द की कठिनाई है क्योकि अग्रजी का ज्ञान (Knowledge) शब्द व्यापक अथबोध म सक्षम नही है। प्लेटो सौन्दर्योपासक के अन्तगत उन्हे गिनता है जिन्हे हम ज्ञानाकाक्षी शब्द स सम्बोधित नहीं करना चाहेंगे। वह नाटक दशक कलाप्रेमी कोई अन्य व्यक्ति जिस नेत्र और कान के माध्यम से तीव्र सुख की अनुभूति होती है—इन सभी की गणना वह सौन्दर्योपासक मे करता है। ग्रीक शब्द से उसका आशय है—चित्तवृत्ति का ऐसा प्रयोग जो नवीन अनुभव म सफल हो।

हम इस निष्कष तक पहुचे हैं कि दाशनिक वह व्यक्ति है जिसम नवीन अनुभव की असीम जिज्ञासा रहती है और वह उसका जातिगत लक्षण है। किन्तु यह नहीं समझ लेना चाहिय कि जिनम इन लक्षणो का सकेत मिलता है व जन्मजात दशनज्ञ हैं। एस चरित्र के बहुतेर दूसरे लोग भी हैं जिन्हें दशनज्ञ नही कहा जा सकता, जसे नाटकदर्शी सगीतमर्मी तथा अन्य बुद्धिमान शिल्पी। इन व्यक्तियो के आचरण दाशनिक से बहुत कुछ मिलत हैं, कम से कम इनम भी विवकशून्य सुखष्णा के प्रति मानसिक चचलता रहती है। परन्तु प्रश्न यह है कि ऐसे जातिगत लक्षणो की समानता क अतिरिक्त कौन सी विशेषता है जो दशनज्ञ को इन सभी व्यक्तियो से भिन्न करती है। यथाथ दशनज्ञ वही है जो सत्य की शोध मे निरन्तर अनुरक्त है वह नही जो प्रत्यक नवीन वस्तु की ओर दृष्टि लगाय रहे।

किन्तु दशनज्ञ जिस निश्चित वस्तु सत्य की झाकी देखने मे लीन रहता है उससे हमारा आशय क्या है और हम सत्य को किस वशिष्ट्य से पहचानेंगे?

प्लेटो इस प्रश्न का प्रारम्भिक और सामान्य समाधान करके अपनी कल्पना के कुछ रूपों अथवा प्रयोजनों को प्रस्तुत करता है। इस तरह केवल संक्षिप्त विवरण देता है जिससे उसके श्रोता परिचित हैं।

उसकी मान्यता का आरम्भ इस वचन से होता है कि प्रकृति तत्त्व के निर्दिष्ट रूप या प्रकार हैं, उदाहरणार्थ अन्याय से न्याय, अशुभ से शुभ, असुन्दरता से सौन्दर्य सर्वथा भिन्न है। जब हम किसी वस्तु का 'रूप या प्रकार' कहते हैं जैसे न्याय अथवा सौन्दर्य, तब हमारा तात्पर्य यह है कि वह एक है अर्थात् इस रूप' या प्रकार' का सादृश्य जिन सभी वस्तुओं में है वे इसी रूप या प्रकार के कुल या वर्ग में सम्मिलित हैं, जैसे, चाहे जितनी वस्तुओं में न्याय घटित हो वह न्याय का न्याय बना रहेगा। तो प्रत्येक रूप या प्रकार भले भेद जैसा दीखे वह सचमुच संश्लिष्ट वस्तु या एकता प्रकट करनेवाली वस्तु है। परन्तु हर विशिष्ट रूप या प्रकार अनगिनती वस्तुओं जैसा प्रकट हुआ करता है। अथवा प्लेटो अपने ढंग से इस तरह कहता है कि ये रूप या प्रकार एक दूसरे से मूर्त वस्तुओं से और कार्यों में सम्वाद करते है तथा इसी पद्धति से प्रत्येक वस्तु हम विविध रूपों में दिखायी देती है जिन्हें हम रूपों का नाम देते हैं वे अगणित वस्तुओं या पदार्थों में प्रकट एकत्व के अनेक तत्त्व हैं जिनको हम इन्द्रियों से ग्रहण करते हैं। अब उन लोगों की ओर ध्यान दें जो आँख और कान के उपयोग में सुखानुभूति समझते हैं तथा जिसमें हम दर्शनप्रेमी का विशिष्ट भिन्न व्यक्ति बतलाना चाहते हैं। हम देखते हैं कि जिन वस्तुओं से इन लोगों का चित्त क्रियाशील होता है वे सही विविध पदार्थ हैं—ध्वनि, रंग आकृति सौन्दर्य यथार्थत नहीं है बल्कि यह, वह तथा अन्यान्य सुन्दर वस्तु है। इसके विपरीत दर्शनप्रेमी मनुष्य में यह सामर्थ्य है कि प्रकार या रूप के भेद का वह पहचान सकता है और इस पहचान की क्रिया में उसे आनन्द मिलता है।

चित्त की इन अवस्थाओं का अविकल वर्णन के इरादे से प्लेटो यह बतलाना चाहता है कि दर्शनप्रेमी ज्ञाननिष्ठ है जबकि दूसरे लोग सिर्फ सम्मतिपटु हैं। जब हम कहते हैं कि हम वस्तु का ज्ञान है तब आशय यह होता है कि उस वस्तु का भाव अथवा है-पन अर्थात् उसका अस्तित्व है और वस्तु का भाव उसकी ज्ञातव्यता का ठीक सहविस्तारी है। यदि यह पूछा जाय कि सचमुच वस्तु क्या है तो उत्तर होगा कि जितना उसके सम्बन्ध में ज्ञात है उतनी वह वस्तु है। वस्तु के निषेध का आशय भी यही है कि उसकी ज्ञातव्यता निषेधात्मक है। वह शून्य या अवस्तु है—असत्व या अविद्यमानता है—हमारे ज्ञान के परे कोई

रहस्यात्मक वस्तु नही है किन्तु शुद्ध अभाव है जिसके विषय म हम कुछ कह या जान नही सकते । इसके सम्बन्ध म चित्त नितान्त निर्बोध है जबकि भाव के प्रति ज्ञान गतिमान होता है । (अज्ञान या अबोधता का परिपूर्ण आशय है मस्तिष्क का कोरापन । प्लेटो अबोधता को शक्ति के अथ म नही मानता जिसे अभाव नामक पदाथ कहा जा सके अबोधता सही मायने म शक्ति का निषेध है और वह किसी पदाथ का वाचक नही है ।) बोलचाल म हम बोध को सोचने या मत मे अलग भेद मानते हैं जो पूण ज्ञान या अन्तर्ज्योति तथा नितान्त अज्ञान अथवा अधकार जसी दो चरम सीमाओ का मध्य बिन्दु है । और ज्ञान तथा मत दोनो सत्ता या शक्ति कहलाती हैं । तो एक शक्ति को हम दूसरे से कस भिन्न समझें? यह नश्र ग्राह्य नहा है रग अथवा रूप से उसे नही जान सकत । उसे हम केवल उसकी क्रिया से उसक कायक्षेत्र से और उसके व्यापार से पहचानते हैं । माना कि ज्ञान और मत दो भिन्न शक्तियाँ है इसीलिए उनके कम या व्यापार भिन्न होना चाहिए अथवा उनके परिणाम भिन्न होंगे । ज्ञान का विषय है सत अर्थात् जो है जो अस्तित्ववान है, दूसरे शब्दो म ज्ञान का व्यापार सत् की चेतना का उद्रेक करता है । मत भी विषय की अपेक्षा रखता है अभाव के बारे म हम सोच नही सकते । परन्तु मत का विषय वही नहा हो सकता जो ज्ञान का विषय है । फलत मत के विषय का अस्तित्व हो सकता नही भी हो सकता । यह कहना कठिन है कि वह पूणत है अथवा पूणत नही है क्योकि यदि हम ऐसा कह सकें तब मत ज्ञान और अज्ञान दोनो स भिन्न नही रहेगा ।

इन निष्पत्तियो के बाद अब हम उस भेद का विचार करें जो सहज प्रतिबोध या प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण विविध पदार्थों म और उनके मूल म एकत्व के निश्चित रूप अथवा अशरीर तत्त्वो म हम देख चुके हैं । जसा हमने देखा है ऐसे लोग हैं जो अपने मस्तिष्क का उपयोग श्रव्य दृश्य स्पृश्य जगत तथा उसके विविध रूप तक ही सीमित रखते है । इसी को वे यथार्थता मानते हैं और केवल इसी यथार्थता म उनका विश्वास है । इनसे भिन्न वे व्यक्ति है जो उस यथार्थता को मानते हैं जो अनेकानेक रूपो म मूर्त है जिसम विविध पदाथ योगदान करते हैं किन्तु इन सारे पदार्थों म से वह स्वत कोई पदाथ नहा है । (वे एक मूलतत्त्व के रूप हैं जो स्वत सौन्दय अथवा स्वत न्याय बनता है ।) प्रथम वग के व्यक्तियो स पूछा जाय कि सौन्दय न्याय भार क्या हैं तो वे सुन्दर पदाथ, न्यायसगत कम और भारी चीजो की ओर हमारा ध्यान दिलायेंगे । परन्तु यदि हम इनमे से किसी एक पदाथ को भिन्न दशा म या सन्दभ मे देखें तो प्लेटो की भाषा मे

वह विविध या विपरीत लक्षण प्रकट करता है। एक सुन्दर पदार्थ को भिन्न परिवेश म रख दीजिये और वह सहज ही कुरूप या असुन्दर लगेगा। रंगों के मामले म यह बात बिलकुल स्पष्ट है। न्यायोचित वस्तु कम या विधि का उदाहरण लीजिये और उस कम को विभिन्न परिस्थिति म करके अथवा उस विधि को अन्य परिवेश म प्रयुक्त करके देखिये तो एकदम वह अन्यायपूर्ण लगेगा। भारी वस्तु का भी यही हाल है क्योंकि उससे अधिक वजनदार चीज के सन्दर्भ म वह हलकी हो जायगी। इस प्रकार प्लेटो अपने मन्तव्य को कला, नीतिशास्त्र तथा प्रकृति म दृष्टान्तों से प्रमाणित करता है। चाहे जिस श्रेणी की वस्तु हो, उसमें विपरीत लक्षण मिलते हैं। तब युक्तिपूर्वक यह नहीं कह सकते कि एक पदार्थ को ऐसा कहें कि वैसा। सरल तो यही कथन होगा कि उसकी प्रकृति दोनों प्रकार से व्यक्त है। वह दोनों है और दोनों नहीं है अर्थात वह सुन्दर है, वह सुन्दर नहीं है, भारी है भारी नहीं है। इस तरह मत की विषयवस्तु के सम्बन्ध म जो कुछ पहले कहा गया है उसका समाधान होना है। इन नानारूपों को ही प्रायः समस्त मानवजाति एकमात्र यथार्थता मानती है क्योंकि अमुक पदार्थ क्या है, इसके उत्तर म इन्हीं रूपों की ओर संकेत किया जाता है। अन मत या सम्मति बहुसंख्यक व्यक्तियों की बहुतेरी वस्तुओं के सम्बन्ध म मानसिक दशा मात्र है। तथापि यह स्पष्ट है कि यह मानसिक दशा उससे नहीं मेल खाती जिसे हम ज्ञान की संज्ञा देना चाहते हैं और इसका विषय वह नहीं है जिसे हम यथार्थता से सम्बोधित करने के इच्छुक हैं। इसलिए सामान्यतः हम कहेंगे कि साधारण जनों को बहुतेरी वस्तुओं के बारे में उनके साधारण ढंग से प्राप्त मतों के अनुसार जो यथार्थता जान पड़ती है, वह सत (परिपूर्ण यथार्थता) और असत् (यथार्थता शून्य) के बीच की एक डुलमुल दशा है।

हम इस चर्चा के आरम्भ बिन्दु की ओर लौटकर देखते हैं कि सत्य के अवलोकन म दत्तचित्त रहने की स्थिति को दार्शनिक प्रकृति कहते हैं और अब हमें विदित हुआ है कि दार्शनिक प्रकृति उस नित्य एकत्व की खोज म निरत है जो साधारणतया अनुभव म विविध रूपों की संहति से फलित हुआ जान पड़ता है। स्पष्टतः हमारा साधारण अनुभव पृथक्-पृथक् दृश्यमान अगणित पदार्थों से ही इन्द्रियगोचर होता है। किन्तु चिन्तन के फलस्वरूप हम विवश होकर देखते हैं कि परिपूर्ण यथार्थता के बोध को इन नानारूपों से सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। अतः हम ऐसे सिद्धान्त, विधि अथवा एकत्व की खोज के लिए चिन्तित हो जाते हैं जो इस नानात्व के मूल में है। हम समझते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी हद

तक इस स्वीकार करता है। उदाहरणार्थ हम मानना होगा कि न्याय किसी कानून के कारण प्रकट नहा हुआ है और उस कानून के नष्टप्राय होने पर न्याय निर्मूल नही हो जायगा। इसी के साथ यह धारणा स्थिर होती है कि कोई असाधारण स्थायी न्याय सिद्धान्त अवश्य है जो समाज के कानूनो और रीति नीति का मूलाधार है। भौतिक विज्ञान इस सचाई का बहुत बडा साक्षी है। भौतिक घटनाओ म सबसे पहले हम यही समझना जरूरी है कि भार या वजन जसी वस्तुए सापेक्ष हैं। जिस सत्य के स्पष्ट और समग्र बोध को हम सब सहज स्वीकार करत हैं उसी को प्लटो दर्शन की सना दता है। प्लेटो के अनुसार दार्श निक मस्तिष्क की कल्पना को स क्षेप म वह प्रणा कहेंगे जो निरन्तर उन तत्त्वा अथवा मूलभूत नियमा या ऐक्यभावा के शोध म निरत रहती है जिसे हम अपने अनुभव की विविधता का व्यापार समझते हैं।

हम अपने चित्त की जिस वृत्ति का विज्ञान क नियम और नीति सिद्धान्त का नाम देकर प्रकट करत हैं उसी के समान प्लटो के रूपा की कल्पना है। उसक विवरण को नतिक सौन्दर्यात्मक और भौतिक कल्पनाओ म समानरूपेण प्रयुक्त किया जा सकता है। प्रत्येक प्रकार का रूप अविराम गति स नाना आकृतियों म प्रकट होता रहता है और विज्ञानविद इसी वविध्य मे बोध की निरन्तर शोध में अनुरक्त है। साधारण बुद्धि को इन्द्रियग्राह्य ससार जितना सत्य जान पडता है उमस बहुत कम अथवा असत्य उसको विज्ञानविद की वस्त विषयक यथार्थता लगती है। किन्तु विज्ञान की दृष्टि म उभरनवाला जगत जिस प्लेटो रूपसृष्टि का नाम दता है वास्तव में अधिक सुबोध ढग स पहचाना हुआ वही ससार है वह कोई दूसरा झूठा और बनावटी ससार नही है।

इस परिच्छेद में प्लेटो रूपो के काय और देह के परस्पर आदान प्रदान की बात उठाता है। उसक इस कथन को सरल ढग मे इस प्रकार रख सकते हैं यदि न्यायकम जस किसी काय का उदाहरण ल तो सहज ही समझ में आ जायगा कि वह सम्पूर्ण न्याय नहीं है। वह अन्यान्य कर्मों की सगति में न्याय का एक अशमात्र है। न्याय एक सचरणशील तत्त्व समझिय जिसमें अनेक प्रकार के कम और व्यक्ति प्रवृत्त होत हैं और जिनक इस प्रकार कायरत होन पर भी न्याय न्यूनाधिक नहा होता अथवा उसकी मूलवृत्ति सशोधित या मर्यादित नही होती। इसे ठीक उसी तरह की क्रिया मानना चाहिय जिस तरह जनमण्डल के सवहित कारी काय में उसक सभी जन हाथ बटात ह पर तु वह काय इस प्रकार के सह योग स कम बढ़ नहीं होता सकुचित नही होता और समस्त जना में उस हितावह

कार्य की रूपरेखा तथा ध्येय समरस बना रहता है। जिस अभिप्राय से रूपों के परस्पर सम्वादशील होने की बात कही गयी है इस सन्दर्भ में उसका अर्थ अलग है। किसी भी निश्चित कर्म, व्यक्ति अथवा वस्तु को लीजिये तो विदित होता है कि वह अनेक विभिन्न सिद्धान्तों अथवा रूपों या विचारों का संगम है। कोई विशिष्ट कर्म, शुद्ध न्यायशील कभी नहीं होता, इसके अतिरिक्त उसमें दूसरे गुण सदैव विद्यमान होते हैं यहाँ तक कि वह अंशतः अन्यायमूलक हो सकता है। अतः इसी कर्म के स्वरूप में न्याय, अन्याय और दूसरे रूप एकत्रित होते हैं और परस्पर संचार करते हैं। प्लेटो 'सोफिस्ट' (Sophist) में बतलाता है कि वस्तुनिष्ठ उपलब्धि अपने आपको जिस प्रभावी ढंग से प्रतिष्ठित करती है उससे यही धारणा पुष्ट होती है कि कुछ रूप इसी प्रकार परस्पर सम्वादशील होते हैं और कुछ ऐसे रूप हैं जिनमें सम्वाद का सर्वथा अभाव है।

प्लेटो जाग्रतावस्था से स्वप्नावस्था के वैषम्य का उदाहरण देकर सत्य की स्पष्ट और सम्पूर्ण इन्द्रियग्राह्यता (रूप की इन्द्रियग्राह्यता) तथा इसके विपरीत अव्यवस्थित इन्द्रियज्ञान का भेद समझाता है। साधारणजन को न्याय स्वप्न के समान है—और कई वस्तुएं भी उसे इसी तरह लगती हैं। स्वप्नदशा में मनुष्य जो देखता है, वह यथार्थ वस्तु के सदृश होने के कारण उसे लगता है कि उसने यथार्थतः वह वस्तु ही देखी है अथवा वह एक वस्तु में दूसरी वस्तु का आभास मान लेता है क्योंकि स्वप्नदशा में उसे दोनों का भेद सूझता नहीं है। प्लेटो के मतानुसार साधारणजन विशेष प्रकार के न्यायानुगत कानूनों और कार्यों को ही न्याय सिद्धान्त समझ बैठता है। लेकिन इस कथन से प्लेटो का अभिप्राय क्या है? यदि हमसे पूछा जाये कि न्याय क्या है तो हम एकाएक परिचित कार्यों उपदेशों अथवा संस्थाओं के दृष्टान्त देने लगेंगे। वैसे इस प्रकार से हमारा सोचना सही ही है क्योंकि इन्हीं में हमारी दृष्टि न्याय का प्रकट रूप देखती है। लेकिन यदि इसी उदाहरण को मानकर चलें तो जो मनुष्य कुछ निश्चित कानूनों को ही न्याय समझ लें उन कानूनों के निरर्थक या अन्यायमूलक सिद्ध हो जाने पर वह दुर्निवार संकट में फँस जायेगा। यही कारण है कि मनुष्य जाति सदैव एक सिद्धान्त की खोज में रही है जो सांसारिक परिवर्तनों से अछूते रहकर अटल बने रहते हैं। चिरकाल से जनमानस इसी विश्वास को दोहराता आया है कि कानून भले बदलते रहें परन्तु न्याय बराबर न्याय ही बना रहेगा। इसलिए यदि मनुष्य का आचरण इस सिद्धान्त के अनुसार हुआ कि सुपरिचित कार्यप्रणाली ही न्याय है तो एक विचित्र स्थिति हो जाती है। जब उसे मालूम होता है कि अमुक कर्म

न्याययुक्त है लेकिन वह न्याययुक्त कर्म से भिन्न दिखायी देता है तब वह उसको न्यायसगत नही समझता क्योंकि उसके चित्त में न्याय-सूचक कर्म की धारणा बिलकुल अलग है। इस मामले में वह ऐसी मनोदशा का मनुष्य है जो छायात्मक, सतही तौर की समानता को ही समग्र यथार्थता मान बैठता है। इसीलिए प्लेटो का यह आग्रह सार्थक है कि न्यायोचित कर्म न्याय नही है वरन् न्यायाभास है।

२ इस विवाद का अगला भाग पूर्ववर्ती चर्चा की कमी को पूरा करता है। इसमें नैतिक आधार पर अधिक बल देकर दार्शनिक प्रकृति की कल्पना को विकसित किया गया है। अभी तक प्लेटो ने इस प्रकृति का सामान्य विवरण दिया है। यहाँ वह उन लक्षणों की व्याख्या करने का यत्न करता है जो नैतिक आधार के कारण इस प्रकृति में उसे अन्तर्निहित जान पड़ते हैं। यदि प्लेटो का अनुमान सही है और उसके अनुसार दार्शनिक प्रकृति का स्वरूप निश्चित मान लिया जाये तो प्लेटो दृढतापूर्वक कहना चाहता है कि दार्शनिक प्रकृति को समाज में सर्वोपरि आसन दिया जाना चाहिये।

हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं प्रथम, दार्शनिक प्रकृति में वस्तु जगत का ज्ञान पाने की अनर्गल बुभुक्षा है, द्वितीय, ज्ञान की खोज के अन्यान्य सजातीय रूपों से इसमें विशेषता यह है कि इन्द्रियाँ जिन भासमान विविधतायुक्त और परिवर्तनशील रूपों का अनुभव करती हैं उनमें दार्शनिक प्रकृति निरन्तर अन्तःसूत्र या सिद्धान्त को पहचानने का प्रयास करती है। इसके साथ यह प्रश्न उठता है कि इस निष्कर्ष से दार्शनिक प्रकृति की शासकीय योग्यता किस प्रकार प्रभावित होती है? यह प्रश्न हम फिर सद्गुणी या कुलीन शासक अथवा अभिभावक के लक्षणों की व्याख्या पर विचार करने के लिए बाध्य करता है।

किसी वस्तु को रखने या उसकी रक्षा करने के लिए हमें उसकी स्पष्ट धारणा होनी चाहिये। इसी कारण जो मनुष्य कानून और संस्थाओं की रक्षा और आवश्यकतानुसार उनमें परिमार्जन करने के लिए उत्तरदायी हो उसे अन्धा नही होना चाहिये। उसके ज्ञानचक्षु किसी निश्चित प्रणाली या सिद्धान्त को स्पष्ट देखने में समर्थ हों ताकि वह यथार्थत न्याय और कालोचित कर्तव्य का निर्णय कर सके तथा विद्यमान संस्थाओं में परिवर्तन की आवश्यकता होने पर उस सिद्धान्त का उपयोग किया जा सके। प्लेटो के कथन को थोड़े विस्तार में समझ लेना चाहिये। जब तक राज्य विशारद के मन में अपने अभीष्ट के आधारभूत सिद्धान्त का स्पष्ट बोध नही होगा तब तक वह विद्यमान व्यवस्था की विफलता पहचानने और उसका पुनरुद्धार करने में असमर्थ रहेगा। अतएव शासक में

न्तों या सिद्धान्तों की स्पष्ट ग्रहणक्षमता मूलत महत्त्वपूर्ण है। जिस मनुष्य म यह सिद्धान्तबोध रहता है वह अनुभव के सतत लाभ स कुशल शासन की आवश्यक गुणराशि म सम्पन्न होता रहेगा। अनुभव वह ज्ञान है जो किसी प्रयोजन या काम के निरन्तर अभ्यास स अर्जित किया जाता है चाहे वह उचित हो अथवा अनुचित। वह अत्यधिक मूल्यवान् हो सकता है अत्यधिक निरर्थक भी हो सकता है। कभी-कभी अनुभव किसी वस्तु या काम के सम्बन्ध में ठीक धारणा या उसके ज्ञान का द्योतक होता है और उसे सिद्धान्तो के ज्ञान से उसी प्रकार भिन्न समझना चाहिये जिस तरह बाबा वाक्य प्रमाणम्, विज्ञान के नियमों से विपरीत है। कभी कभी अनुभव का मतलब अभ्यासजनित यथार्थ परिचय भी समझा जाता है। इन्हीं तरीको स सिद्धान्तज्ञान की सभी जरूरी बातो का ब्यौरा मिलता है क्योंकि जब तक मनुष्य जीवन के अटूट ब्यौरे म सिद्धान्त के सूत्र का ग्रहण नहीं करता और उसे इस विस्तृत वस्तु संसार म प्रयुक्त नहीं करता तब तक कोई मनुष्य सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं कर सकता। सिद्धान्तो का सम्यक ज्ञान वस्तुओं के सविस्तार ज्ञान की मूलभूत अपेक्षा है। प्लेटो इस सत्य से अभिभूत है और सप्तम अध्याय म उसने दार्शनिक शिक्षा की अपनी योजना को निरूपित किया है। जिन्हे प्रमुख राज्य विशारद बनना है उनको पतीस से पचास वर्ष की आयु के पन्द्रह वर्ष केवल अनुभव प्राप्ति के इस विशिष्ट प्रयोजन म लगाना चाहिये। किन्तु यहाँ भी प्रबल आग्रह इसी पर है कि राज्य विशारद् निरन्तर सिद्धान्त को ध्यान मे बनाये रखे। इस सर्वोपरि चिंतन के अभाव म अनुभव निरर्थक है।

अब केवल इस बात का साफ और करना है कि दार्शनिक प्रकृति म नैतिक और बौद्धिक जैसे दूसरे गुणो का समावेश रहता है अथवा नहीं जिनसे प्रशस्त तथा महान चरित्र गढ़ा जाता है। इस द्वितीय अध्याय म उल्लिखित प्रश्न के समान ही मानना होगा जहा भावनातत्त्व का विनयशीलता के साथ निर्वाह सम्भव है या नहीं—यह प्रश्न विचारणीय था। प्लेटो ने वहा निर्णय किया था कि यदि एक गुण वास्तविक है तो दूसरे का आशय उसमे निहित है। यहा भी उसका उत्तर इसी के समान है। प्लेटो मानता है कि यदि सत्य के प्रति सहज स्नेह है, तो इसी मे उन समस्त सद्गुणो का आविर्भाव होता है जो उसकी धारणा के अनुसार मानव-स्वभाव की पूर्णता के अग हैं। वह दार्शनिक प्रकृति के सारभूत तत्त्व का नये सिरे स वर्णन करता है। दार्शनिक प्रकृति म यथार्थता की कामना, उसके सामीप्य का आवेश तथा स्थायी नियमों अथवा वस्तु-जगत के सिद्धान्तो के साथ समरस होने की उत्कट आकांक्षा रहती है। ऐसी प्रकृति के मनुष्य की

न्याययुक्त है लेकिन वह न्याययुक्त कम से भिन्न दिखायी देता है तब वह उसको न्यायसगत नही समझता क्योकि उसके चित्त म न्याय-सूचक कम की धारणा बिलकुल अलग है। इस मामले म वह ऐसी मनोदशा का मनुष्य है जो छायात्मक, सतही तौर की समानता को ही समग्र यथार्थता मान बठता है। इसीलिए प्लटो का यह आग्रह सार्थक है कि न्यायोचित कम याय नही है वरन् न्यायाभास है।

२ इस विवाद का अगला भाग पूववर्ती चर्चा की कमी को पूरा करता है। इसम नतिक आधार पर अधिक बल देकर दार्शनिक प्रकृति की कल्पना को विक सित किया गया है। अभी तक प्लेटो ने इस प्रकृति का सामान्य विवरण दिया है। यहाँ वह उन लक्षणा की व्याख्या करने का यत्न करता है जो नतिक आधार के कारण इस प्रकृति म उसे अन्तर्निहित जान पडते हैं। यदि प्लटो का अनुमान सही है और उसके अनुसार दार्शनिक प्रकृति का स्वरूप निश्चित मान लिया जाये तो प्लटो दृढतापूवक कहना चाहता है कि दार्शनिक प्रकृति को समाज म सर्वोपरि आसन दिया जाना चाहिय।

हम इस निष्कष पर पहुच हैं प्रथम दार्शनिक प्रकृति म वस्तु जगत का ज्ञान पाने की अनगल बुभुक्षा है, द्वितीय ज्ञान की खोज क अन्यान्य सजातीय रूपो से इसम विशेषता यह है कि इद्रियाँ जिन भासमान विविधतायुक्त और परिवत्तनशील रूपा का अनुभव करती हैं उनम दार्शनिक प्रकृति निरन्तर अन्त सूत्र या सिद्धान्त को पहचानने का प्रयास करती है। इसके साथ यह प्रश्न उठता है कि इस निष्कष स दार्शनिक प्रकृति की शासकीय योग्यता किस प्रकार प्रभा वित होती है ? यह प्रश्न हम फिर सदगुणी या कुशल शासक अथवा अभिभावक के लक्षणा की व्याख्या पर विचार करने के लिए बाध्य करता है।

किसी वस्तु को रखने या उसकी रक्षा करन क लिए हम उसकी स्पष्ट धारणा होनी चाहिये। इसी कारण जो मनुष्य कानून और सस्थाआ की रक्षा और आवश्यकतानुसार उनम परिमाजन करने के लिए उत्तरदायी हो उसे अन्धा नही होना चाहिय। उसके ज्ञानचक्षु किसी निश्चित प्रणाली या सिद्धान्त को स्पष्ट देखने म समथ हा ताकि वह यथाथत न्याय और कालोचित कतव्य का निणय कर सके तथा विद्यमान सस्थाआ म परिवत्तन की आवश्यकता होन पर उस सिद्धान्त का उपयोग किया जा सके। प्लटो के कथन को थोडे विस्तार म समझ लेना चाहिये। जब तक राज्य विशारद के मन म अपने अभीष्ट क आधार भूत सिद्धान्त का स्पष्ट बोध नही हागा तब तक वह विद्यमान व्यवस्था की विफ लता पहचानने और उसका पुनरुद्धार करने म असमथ रहेगा। अतएव शासक म

रूपों या सिद्धान्तों की स्पष्ट ग्रहणक्षमता मूलत महत्त्वपूर्ण है। जिस मनुष्य म यह सिद्धान्तबोध रहता है वह अनुभव के सतत लाभ स कुशल शासन की आवश्यक गुणराशि म सम्पन्न होता रहेगा। अनुभव वह ज्ञान है जो किसी प्रयोजन या काम के निरन्तर अभ्यास से अर्जित किया जाता है चाहे वह उचित हो अथवा अनुचित। वह अत्यधिक मूल्यवान् हो सकता है अत्यधिक निरथक भी हो सकता है। कभी-कभी अनुभव किसी वस्तु या काम के सतही या उथले ज्ञान का द्योतक होता है और उस सिद्धान्ता के ज्ञान से उसी प्रकार भिन्न समझना चाहिये जिस तरह बाबा वाक्य प्रमाणम' विज्ञान के नियमो से विपरीत है। कभी कभी अनुभव का मतलब अभ्यासजनित यथाथ परिचय भी समझा जाता है। इन्हीं तरीकों से सिद्धान्तज्ञान की सभी जरूरी बातो का ब्योरा मिलता है क्योंकि जब तक मनुष्य जीवन के अटट ब्यौरे म सिद्धान्त के सूत्र को ग्रहण नहीं करता और उसे इस विस्तृत वस्तु ससार म प्रयुक्त नहीं करता तब तक कोई मनुष्य सिद्धान्तो का अनुसरण नहीं कर सकता। सिद्धान्तो का सम्यक ज्ञान वस्तुओ के सविस्तार ज्ञान की मूलभूत अपेक्षा है। प्लेटो इस सत्य से अभिभूत है और सप्तम अध्याय म उसने दाशनिक शिक्षा की अपनी योजना को निरूपित किया है। जिन्ह प्रमुख राज्य विशारद बनना है उनको पतीस से पचास वष की आयु के पन्द्रह वष केवल अनुभव प्राप्ति के इस विशिष्ट प्रयोजन मे लगाना चाहिये। किन्तु यहाँ भी प्रबल आग्रह इसी पर है कि राज्य विशारद निरन्तर सिद्धान्त को ध्यान म बनाये रखे। इस सर्वोपरि चिन्तन के अभाव म अनुभव निरथक है।

अब केवल इस बात को साफ और करना है कि दाशनिक प्रकृति मे नैतिक और बौद्धिक जसे दूसरे गुणो का समावेश रहता है अथवा नहीं जिनसे प्रशस्त तथा महान चरित्र गढ़ा जाता है। इस द्वितीय अध्याय मे उल्लिखित प्रश्न के समान ही मानना होगा जहाँ भावनातत्त्व का विनयशीलता के साथ निर्वाह सम्भव है या नहीं—यह प्रश्न विचारणीय था। प्लेटो ने वहाँ निणय किया था कि यदि एक गुण वास्तविक है तो दूसरे का आशय उसम निहित है। यहा भी उसका उत्तर इसी के समान है। प्लेटो मानता है कि यदि सत्य के प्रति सहज स्नेह है, तो इसी स उन समस्त सद्गुणो का आविर्भाव होता है जो उसकी धारणा के अनुसार मानव स्वभाव की पूणता के अग हैं। वह दाशनिक प्रकृति के सारभूत तत्त्व का नये सिरे स वणन करता है। दाशनिक प्रकृति म यथार्थता की कामना, उसके सामीप्य का आवेश तथा स्थायी नियमों अथवा वस्तु जगत् के सिद्धान्तो के साथ समरस होने की उत्कट आकाक्षा रहती है। ऐसी प्रकृति के मनुष्य की

दृष्टि म कोई वस्तु पहुच के परे वग नही है और न कोई वस्तु अत्यन्त तुच्छ है क्योकि प्रत्यक वस्तु सत्य का पथ-सकेत करन म समय है। एस स्वभाव म मिथ्या के प्रति सहज घृणा हुआ करती है। आत्मसयम अपनआप दृढ होता है क्योकि सत्य की प्रीति म एक विचित्र मस्ती रहती है। यह एक प्रकार की क्षुधा है। जब मनुष्य की बुभुक्षा किसी दिशा म उत्कट भाव स गतिशील हो जाती है, तब दूसरी इच्छाए उस झरन क समान अशक्त हो जाती हैं जिसका प्रवाह अन्य दिशा म मोड दिया गया हो। इस प्रकृति के साथ किसी प्रकार की अधमता ईर्ष्यालुता अथवा क्षुद्रता का कार्य मेल नही हो सकता क्योकि उसके मूलभाव म सदव व्यापक प्रमाण मानवी और दवी विस्तार की प्रवत्ति सचेत रहा करती है। धय अथवा साहस तो उसम होना ही है क्योकि मृत्यु भय उसे छूता तक नही। वह ऐसा मस्तिष्क है जो मानव जीवन को विराटता का एक स्वल्पाश मानता है और जिसकी दृष्टि समग्र काल तथा सम्पूण सत्ता की ओर लगी है। तब न्याय की सहज प्रतीति म बाधा हो क्या रही क्योकि जिसे भय तृष्णा अथवा इन्द्रियभोग प्रभावित नही कर सकते उसको भला कौन न्यायच्युत कर सकता है? एसी प्रकृति की रचना म बौद्धिक गुणो का भी बहुत हाथ होता है। वह आशुमेध और स्थिर बुद्धि होता है क्योकि जिस विद्याभ्यास निरन्तर क्लेशकर हो वह ज्ञानप्रेमी कसे हो सकता है? उसम एक प्रकार का मानसिक सन्तुलन रहता है अथवा वह नियतमानस हुआ करता है। इस गुण के कारण वह सहजभाव स वस्तुजगत की प्रकृति के अनुरूप आचरण करना जानता है। (प्लेटो ज्ञान के क्षेत्र म कर्त्ता और कम के सम्बन्ध को दो वस्तुओ के सजातीय साम्य की भाँति अकित करना पसन्द करता है। वह बराबर इसी ढग से कहता है कि जो आत्मा सरलतापूवक ज्ञान सचय कर सकती है वह वस्तुजगत क साथ प्रबलत और स्वभावत समरस होती है। ज्ञानाजन, अपने मस्तिष्क को वस्तुससार के अनुकूल करना ही तो है। ज्ञानाजन म प्रत्यक व्यक्ति को विदित होता है कि मस्तिष्क कुछ बातें तुलनात्मक दृष्टि स सरलतापूवक अनुकूल पाता है यद्यपि अधिक वस्तुए कष्टसाध्य होती हैं। जो मस्तिष्क समानुपातिक होता है उसम अधिकतम वस्तुओ के साथ मेल या अनुकूलता की तत्परता हुआ करती है। सोफिस्ट (Sophist) म बताया गया है कि आत्मा दो प्रकार के दोषो या दुगुणो स ग्रस्त हो सकती है जो दहिक रोग और दहिक विकृति के समान हैं। पहला दुव्यसन या पाप है दूसरा अज्ञान। इसका वणन करते हुए कहा गया है कि वह आत्मा की एक दशा है जिसम विचार का आवेश तो है परन्तु विचार लक्ष्यभ्रष्ट हो जाया करता है क्योकि आत्मा

और सत्य के बीच मानसिक सतुलन या सुडौलपन का अभाव है, अज्ञान मानसिक अनुपातरहित दशा है। परन्तु दार्शनिक प्रकृति की सहजप्रवृत्ति वस्तुओ को ग्रहण करना है और उनके रूप तथा मूलभाव के साथ सगति है।) इस व्याख्या के पश्चात प्लेटो विश्वासपूर्वक अपनी धारणा को व्यक्त करता है कि ऐसी दार्शनिक प्रकृति से सम्पन्न व्यक्ति को कौन राज्य-सचालन का भार सौंपने में आनाकानी करेगा बशर्ते इस प्रकृति में ऊपर गिनाये सभी गुण लक्षणो का अनिवार्यत समावेश हो।

प्लेटो ने दार्शनिक प्रकृति की अपनी धारणा के अनुसार उसका सागोपाग वर्णन किया है। यह सदाशयपूर्ण आदर्श प्रकृति का चित्र है अर्थात मानव स्वभाव का ऐसा विवरण है जो सम्पूर्ण गुणसम्पन्न और उन गुणो को व्यावहारिक रूप देने में स्वच्छन्द है। माना कि हम दार्शनिक शब्द के उपयोग में जो आशय समझते हैं उससे प्लेटो की दार्शनिक प्रकृति विषयक कल्पना भिन्न है। परन्तु रिपब्लिक' में आरम्भ से ही आत्मा में दार्शनिक तत्त्व तक क्रमिक विकास का जो वर्णन दिया गया है वह प्लेटो की दार्शनिक प्रकृति के लक्षणो से बराबर मेल खाता है। प्लेटो के अनुसार इस तत्त्व की कल्पना का मूलभाव आत्मा मे निहित है जो उसे अपनी सीमा से परे जाने की और उस वस्तुतत्त्व से युक्त होने की प्रेरणा देता है जिसका वह सगोत्री है। अतएव वह मनुष्य के अन्त करण में स्थित ऐसा स्रोत है जिसमे विभिन्न प्रकार के गुण प्रस्फुटित होते हैं। वह विनम्रता और समाजप्रियता का स्रोत है जिससे मनुष्य का मनुष्य से परिचय होता है और उनमे परस्पर एकता की भावना पनपती है। सौन्दर्य प्रेम का स्रोत भी यही है जिसमे साहित्यिक तथा कलात्मक सुरुचि का भी समावेश है। जो सुन्दर है आत्मा उसमे अपने ही स्वरूप की झलक देखती है और उसके सम्मुख वह आत्मीयता पाती है। अन्तत वह सत्य प्रेम का स्रोत है जिसका अर्थ बोधवृत्ति और दृश्यमान जगत से समरसता है। यद्यपि साधारण आधुनिक मनोविज्ञान प्लेटो से सहमत नहीं होगा कि एक स्रोत से इन तीन विभिन्न वस्तुओ का स्फुटन हो सकता है तथापि बार्कर ने सुपरिचित तथ्य प्लेटो के कथन का स्पष्ट और प्रमाणित करते है। उदाहरणार्थ यदि हम दूसरे मनुष्य को समझना चाहते है अथवा चाहते हैं कि मनुष्य स्वभाव का बोध हो सके तो इसके लिए उसके प्रति हमारी सहानुभूति ही प्रमुख वस्तु है। सहानुभूतिरहित मनुष्य मूढ मनुष्य है। मनुष्य-स्वभाव के महान ज्ञाता वही व्यक्ति हुए हैं जिनका समूची मानव जाति के साथ स्वैक्य था जो उसके प्रति सम्वेदनशील थे। इसी तरह वस्तुओ के अध्ययन में चाहे वे

नितान्त भावात्मक ही क्या न हो हम तभी प्रगति कर सकते हैं जब उनकी ओर हमारा लगाव हो, उनमे रुचि हो और यह रुचि भी सहानुभूति का ही एक प्रकार है।

साराश यह है कि मनुष्य के भीतर का दार्शनिक तत्त्व प्रमुखत मानवी तत्त्व है। इसी क कारण मनुष्य को मनुष्य कहते है। अत उसका आशय है–पूण मनुष्यत्व या पूण मानवता, सवगुण सम्पन्न मनुष्य स्वभाव। इस कल्पना के समान उदाहरण धार्मिक विचारो म मिलते हैं। यू टेस्टामण्ट मे ईश्वर प्रेम और मनुष्य प्रेम का चित्रण किया गया है जिसके फलस्वरूप समस्त गुणो का प्रादुर्भाव होता है और पूण मानव विकसित हाता ह। दशन स समस्त गुणो की निष्पत्ति प्लटो की कल्पना ह जिसके समकक्ष स त पाल दया या करुणा के द्वारा समस्त गुणा के प्रकट होने की धारणा व्यक्त करता ह। सच ता यह है कि दशन की कल्पना म वैज्ञानिक और धार्मिक दोना भावतत्त्व अपने उत्कृष्ट रूप म सन्निहित हो जात है। प्रकृति के नियमा से समरस होने की कामना और प्रकृति के अनुकूल जीवनयापन की इच्छा इसका मूलभाव है। प्लटो की दृढ मान्यता है कि ईश्वरीय प्रज्ञा ने विश्व का सजन किया है। इसलिए प्रकृति के साथ एकरस हाने का आशय है—ईश्वर से एकरस होना। यही कारण है कि वह इस भाव को धार्मिक भावना की भाषा म व्यक्त करता ह।

३ दार्शनिक प्रकृति म शासन की योग्यता है—इस प्रामाणिक तथ्य का विरोध एडीमण्टस ने ठीक उसा तरह किया है जिस तरह रिपब्लिक' का प्रत्येक पाठक करना चाहेगा। वह कहता है कि यह बात काफी तकसगत जान पडती है परन्तु सभी तथ्य इसके विपरीत हैं। यदि आप दशनज्ञ कहलानेवाल व्यक्तियो को ध्यानपूवक देखें जो शिक्षा क उद्देश्य के अतिरिक्त दशनशास्त्र का अध्ययन किया करते है तो इस अध्ययन क कारण श्रेष्ठ दशनज्ञ भी सवथा अनुपयोगी सिद्ध होते है और बहुसख्यक दशनज्ञ सनकी या बदनाम हो जाते हैं। यही बात धार्मिक भावना क विषय म भी इतनी ही सचाई के साथ कही जा सकती है। कुछ लाग कहना चाहेग कि ईश्वरीय प्रेम के नाम पर जो सन्तपन पनपता है, उससे मानवजाति को कोई लाभ नही होता अथवा ईश्वर भक्ति के उन्माद म महत्त्वाकाक्षा क्रूरता धमा धता या निकृष्ट रूप मे पाखण्ड और प्रवचना का समावेश हो जाता है।

सुकरात दशनज्ञा के बारे मे कथित आरोपा का खण्डन करने के बजाय उन्हें सहष स्वीकार कर लता है। इन्हीं बातो की सत्यता से प्रेरित होकर वह कहता

है कि कर्म और चिंतन (विचार विमर्श) के सम्बन्ध विच्छेद के फलस्वरूप मानव जाति को सारे दुष्कर्म या पाप भोगने पड़ते हैं। वह उनके विषय में स्पष्टीकरण देने का प्रयत्न करता है। बहुत थोड़े से सच्चे दार्शनिक अनुपयोगी होते हैं, दार्शनिक प्रकृति के सौभाग्यशाली अधिकांश दार्शनिक भ्रष्टाचारी हुआ करते हैं और प्रपंची लोग दार्शनिक का नाम धारण कर ठगा करते हैं।

प्लेटो शुरू में हमारे समक्ष थोड़े से सच्चे दार्शनिकों की दशा का चित्र जहाज के रूपक में प्रस्तुत करता है। इस रूपक में एथेंसवासी—जनजहाज का स्वामी है, वही नाविक है और राज्यसत्ता उसकी है—तथा वही सर्वेसर्वा है। प्लेटो का वर्णन ध्यान देने योग्य है, जहाज में वह सबसे बड़ा और बलशाली मनुष्य है परन्तु वह बहरा और अदूरदर्शी है नौविद्या में वह अनभिज्ञ है। फिर भी वह सम्पन्न व्यक्ति है उसका हृदय निर्मल है। आगे वह जनता के सम्बन्ध में जो कुछ कहता है, उससे इसका मिलान कर लेना चाहिए 'उनके साथ कठोरता का बर्ताव मत करो। यह उनका दोष नहीं है कि वे दर्शन की बुराई करते हैं क्योंकि उन्हें इसका सच्चा अर्थ बताने का कभी यत्न नहीं किया गया।' जन्म और बुद्धि से स्वयं आभिजात्य होने के कारण प्लेटो जनता के प्रति कुछ दयाभाव कुछ सहानुभूति का प्रदर्शन करता है। वह राजनीति और दर्शनशास्त्र के दुष्टतार्किकों से घृणा करता है। लोकमत के नेता और राज्य विशारद ही उस जहाज के नाविक हैं। उनका सिद्धान्त यही है कि जहाज खेने के लिए नाविक-कला सीखने की कोई जरूरत नहीं है बल्कि वे मानते हैं कि नाविक-कला सचमुच कभी सिखायी ही नहीं जा सकती। उस जहाज को खेने की योग्यता एक ही यात्री में है जो सैद्धान्तिक ज्ञान और आदेश-दक्षता दोनों प्रकार की योग्यता रखता है और यही व्यक्ति सच्चे दार्शनिक का प्रतीक है। जहाज के दूसरे यात्री उसे आकाश में तारे गिननेवाला समझते हैं। दार्शनिक की अनुपयोगिता का यही सरल स्पष्टीकरण है। वह इसीलिए अनुपयोगी है क्योंकि संसार उसका उपयोग नहीं करना चाहता। प्लेटो कभी इसे स्वाभाविक नहीं समझता कि चिकित्सक अपने नागरिक बन्धुओं के पास जाकर कहता फिरे 'मुझे तुम्हारी चिकित्सा करने दो।' स्वाभाविक सम्बन्ध तो यह है कि जिन्हें कुछ जरूरत है वे उसके पास जायें जो कुछ दे सकता है।

किन्तु सच्चे दार्शनिक की यह अनुपयोगिता राज्य के नष्ट भ्रष्ट होने के कारणों में सबसे गौण है। अत्यन्त गम्भीर कारण उन बहुतेरे मनुष्यों का नैतिक पतन है जिन्हें दर्शन विद्या की सहज देन है। इसका वर्णन करने के पहले प्लेटो फिर

दार्शनिक प्रवृत्ति विषयक अपनी धारणा को दुहराता है। पूर्ववर्ती चर्चा में इसके सम्बन्ध में जो कुछ वह कह चुका है उसी को अधिक ओजस्वी भाषा में फिर रखता है। दार्शनिक प्रवृत्ति का सारभूत प्रयोजन यही है कि उसमें दृश्यमान विविधता के अन्तरंग में झांकने का अदम्य आवेग रहता है और इस प्रकार वस्तुतत्त्व तक पहुँचने का वह प्रयास है। आत्मा और वस्तुतत्त्व में निश्चित प्रकार की सजातीयता है और दार्शनिक प्रवृत्ति तब तक चैन नहीं लेता जब तक आत्मा अपनी मूलवस्तु के साथ एकाकार नहीं हो जाता। फिर क्या कारण है कि दार्शनिक प्रकृति के बहुतर लोग पथ भ्रष्ट हो जाते हैं? उसके स्वभावगत गुण ही उसके विनाश में सहायक होते हैं क्योंकि वे उसको वास्तविक जीवन दर्शन से हटाकर पार्थिव वस्तुओं में ही उसे भटका और उलझा देते हैं। सौन्दर्य, शक्ति, सम्पदा तथा सत्तासम्बन्ध सम्बन्ध सूत्र जैसी जीवन की बहिर्मुखी वस्तुएं उसके संहार में योग देती हैं। अगर हम इस घटना को सामान्य प्राणिजगत के व्यापार का एक अंग मानकर समझें और अन्यान्य जीवों के समान आत्मा को भी मानें तो इस प्रक्रिया का ठीक अनुमान हो सकता है। संसार की सभी वस्तुएं जीवन धारण के लिए एक परिवेश में रहने को विवश हैं और उसी के अनुरूप उनका सम्वर्धन होता है। अशक्त जीवों की अपेक्षा प्रतिकूल आहार से बलिष्ठ जीव अधिक गम्भीर दुष्परिणाम के भागी हुआ करते हैं। इसी तरह प्रकृतिदत्त उत्कृष्ट गुणशाली आत्माएं दूषित वातावरण में अत्यधिक आहत होती हैं। संसार के भीषण अपराधी व्यक्ति निर्बल अथवा क्षुद्र प्रकृति के लोग नहीं थे, वे महान प्रकृति के भ्रष्ट रूप थे। इस स्थिति को मान लेने के बाद हमें यह जानना होगा कि हमारी कल्पना की दार्शनिक आत्मा का जन्म किस प्रकार के परिवेश में हुआ। उसका जन्म लोकमत के वातावरण में हुआ और यह लोकमत उस विधान सभा में न्यायालयों में नाट्यगृहों में सेना में—प्रत्येक स्थान में जहाँ मनुष्य एकत्र होते वहाँ हैं मिलता रहता है। यह लोकमत अजय और अनुत्तरदायी है। कोई व्यक्तिगत आत्मा लोकमत में अपनी स्वतन्त्रमति को प्रतिष्ठित नहीं कर सकती जब तक उस प्रकृति की कोई अलौकिक देन न हो। यह लोकमत कानून का मूलस्रोत है, व्यावहारिक दृष्टि से इससे बड़ा शिक्षादाता दूसरा नहीं हो सकता और कहने योग्य कोई दूसरी शिक्षा है भी नहीं। लोकमत ही एकमात्र महान कुतर्क पण्डित है और जिन नौसिखिये लोगों पर तरुणों को पथभ्रष्ट करने का दोष लोकमत मढ़ता है वे वास्तव में उसी समाज के मूक आदेशों को सूत्रबद्ध करते और दोहराते हैं जो उन्हें इस प्रकार लांछित करता है। इस प्रसंग में प्लेटो

दुष्टतार्किकों के प्रति घृणास्पद करुणा के स्वर में बोलता है, उन्हें वह आतंकवादी जनता मानता है। इसके पहले वह जनसमुदाय को जहाज के स्वामी का प्रतीक बतला चुका है। वह उन्हें अब एक नीवकाय और बलिष्ठ पशु के समान अंकित करता है जिसमें सत्प्रकृति की मात्रा बहुत कम है परन्तु जिसको वह सचमुच अरुचिकर नहीं मानता। अपने पालकों को यह पशु तब तक हाथ रखने देता है जब तक वे उसकी तुनुकमिजाजी का ध्यान रखते हैं और उसे बहलाने का हर तरह यत्न करते रहते हैं।

जनमत के तथाकथित नेता इस प्रकार के मत को केवल सूत्रबद्ध करते हैं। जो कुछ वे बोलते हैं, उसका उन्हें कोई ज्ञान नहीं रहता। यद्यपि वे अच्छाई और बुराई, न्याय और अन्याय का हवाला करते हैं तथापि इस जनता की पसन्दगी और नापसन्दगी के दूसरे नाम से अधिक सार्थक नहीं समझना चाहिए। जनता कभी दार्शनिकों का झुण्ड नहीं हो सकती बल्कि वह हमेशा दार्शनिक सिद्धान्तों को अविश्वासनीय मानेगी और उनका विरोध करेगी। ऐसे वातावरण में जन्म लेने के बाद दार्शनिक प्रकृति का क्या भविष्य हो सकता है चाहे उसे प्रकृतिप्रदत्त सभी गुण भले ही प्राप्त हों।

इस प्रश्न का समाधान प्लेटो जिस परिच्छेद में करता है उसका संकेत अलकीबियाडीज (Alcibiades) की ओर माना जाता है। निश्चय ही वह किसी मनुष्य की बात करता जान पड़ता है। हम जानते हैं कि सुकरात के विशिष्ट मित्रों में अलकीबियाडीज भी एक था। सुकरात के लिए यह एक कलंक की बात मानी जाती है कि उसके परम मित्र बुरी तरह पतित निकले। एथेन्स के सामाजिक वातावरण में जन्म लेनेवाले व्यक्ति का विवरण देकर सुकरात कहता है मान लीजिए कोई मनुष्य प्रकृति के वरदानों और वैभवशाली पुरुष के पास जाकर यह सत्य प्रस्तुत करता है कि उसमें विवेकबुद्धि नहीं है उसे उपलब्ध करना उसके हित में है और इस प्राप्ति के लिए उसे सतत परिश्रम करते रहना चाहिए। तब क्या होगा? यदि वह पुरुष ध्यान देकर इस परामर्श को सुनता है तो समाज के नेता तत्काल विद्रोह करने पर उद्यत हो जायेंगे और इस परामर्शदाता के प्रभाव को नष्ट करने के लिए प्रत्येक उपाय करने में कसर न रखेंगे क्योंकि उन्हें भय है कि कहीं इस शुभचिन्तक के कारण वह गुणवन्त पुरुष यथार्थतः बलवान न हो जाय। समाजनायक इस सद्गुणी पुरुष को अपनी इच्छाओं की कठपुतली बनाना चाहते हैं। इसी तरीके से जो मनुष्य प्रकृतिप्रदत्त गुणों के कारण समाज के हितचिन्तक बन सकते थे वे सामान्यतः उसके संहारक बन

जाते हैं। समाज अपने भावी श्रेष्ठ गुणजों को कुछ अचेतभाव से और कुछ योजना पूर्वक पथभ्रष्ट किया करता है।

तीसरी बात यह है कि वही लोग दर्शन से विमुख हो जाते हैं जिन्हें उसके अनुयायी होना चाहिये। तथापि उसकी यश-पताका आज भी फहरा रही है और दर्शनज्ञ की कीर्ति अनेक व्यक्तियों की महत्वाकांक्षा तथा प्रतियोगिता का विषय बनी हुई है। इस कथन से यह विदित होता है जैसा आइसोक्रेटस (Isocrates) के विचारों से भी जाना जा सकता है कि एक युग था जब दर्शन विद्या के नाम पर मनुष्य समुदाय में युद्ध हुआ है। विभिन्न वर्गों के मनुष्य दर्शनज्ञ की उपाधि के लिए आतुरभाव से आकांक्षी हुए हैं क्योंकि इस उपाधि से मनुष्य का श्रेष्ठत्व चरितार्थ हुआ करता था। (अंग्रेजी भाषा में इसका पर्यायवाची नाम तो नहीं है परन्तु संस्कृति (Culture) के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का उत्तेजनापूर्ण आग्रह रहा है यद्यपि दर्शन के समान उस वैभवशाली सम्बन्धों का सौभाग्य नहीं मिला।) उन लोगों में प्लेटो का भी नाम है जो दर्शनज्ञ की उपाधि से विभूषित होने के अभिलाषी रहे हैं। दर्शन की सम्यक धारणा को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से और उसे विकसित रूप देने के लक्ष्य से अभिभूत होने के कारण प्लेटो को दूसरे दर्शनज्ञों का कोपभाजन बनना पड़ा था। भले तत्कालीन साहित्य में उसे दुष्ट तार्किक (Sophist) कहा गया था और दर्शनज्ञ का नाम उसे वर्जित था परन्तु सचमुच प्लेटो ही के अटूट प्रयास का यह फल है कि दर्शनज्ञ शब्द में श्रेष्ठतम भावना का समावेश हो सका है। इसके बाद वह बहुत जोरदार चित्रात्मक शैली में अपात्र अभिलाषियों के द्वारा दर्शन शब्द के अपहरण का वर्णन करता है। रिपब्लिक में यह अत्यन्त व्यक्तिगत परिच्छेद है। हम ठीक तरह से यह नहीं मालूम कि वह किन खास लोगों की बात कर रहा है लेकिन उसके पाठकों को शायद उन व्यक्तियों की जानकारी होगी जिनके विषय में वह विचार कर रहा था। अनुमानतः वे लोग हल्के किस्म के वकील और वितण्डावादी रहे होंगे जो अपने धन्धे के रंग में बुरी तरह रंग हुए थे। प्लेटो के वर्णनानुसार उन लोगों की आत्मा उनके धन्धे के कारण भुग्न पड़ गयी थी। (प्लेटो इन लोगों को 'दुकान का रंग' नामक दुर्गुण से ग्रस्त बतलाता है। आरम्भ में इस वाक्यांश का प्रयोग उस विकलांगता के लिए किया जाता था जो किसी यन्त्र के निरन्तर संचालन से शरीर के किसी भाग में उत्पन्न हो जाती थी। इसलिए यान्त्रिक कलाओं के प्रति ग्रीक जाति घृणा करने लगी थी। यहाँ मनुष्य की आत्मा की जड़ता का मिलान 'दुकान के रंग' से किया गया है जैसा थियेटेटस (Theaetetus) में उल्लेख

है। उसमे बताया गया है कि अदालत की गुलामी के फलस्वरूप धीरे धीरे मनुष्य की आत्मा क्षुद्र और कुटिल हो जाती है।)इस प्रकार के लोग अपने धंधे में बराबर चुस्त चालाक होने के कारण दर्शनशास्त्र में घुस पड़ते हैं। दूसरे रूपक में कहें तो ये क्षुद्र जीव दर्शन से विवाह कर लेते है क्योंकि इस दीन का हाथ और कोई पकड़ना नही चाहता। इसी अनमेल विवाह की सन्तान उन अटपट मतवादों और कल्पनाओं के रूप में जन्म लेती है जो संसारभर में दार्शनिक सिद्धान्तो के नाम से चक्कर लगाते रहते हैं। इसी कारण से दर्शन को लाछना भोगनी पड़ती है और वह अनुपयोगी ही नही बल्कि छल-पाखण्ड कहलाने लगती है।

उन कतिपय कारणों का उल्लेख भी है जो सच्ची दार्शनिक प्रवृत्ति के अवशिष्ट भाग को आज तक सँजोकर रख हुए हैं जिनसे दर्शन का हित-साधन होता है। कभी कभी सस्कृत-स्वभाव के सुशिक्षित पुरुष को निर्वासित कर दिया जाता है और इस कारण वह नैतिक पतन के खतरे से बच जाता है। कभी कभी प्रतिभावान् मस्तिष्क का जन्म छोटे से राज्य में होता है जो वहाँ के राजनीतिक जीवन को घृणित समझता है। कुछ व्यक्ति दर्शन की ओर इसलिए आकर्षित होते हैं क्योंकि फिलहाल जिस कला या पेशे में लगे है उससे उन्हें अरुचि हो जाती है। कुछ लोग रुग्णतावश राजनीति के चक्कर में फँस नही पाते और शायद कुछ ऐसे भी है जिन्हें एक प्रकार की दैवी प्रेरणा, दैवी बोधचिह्न के समान राजनीति से दूर रखती है जैसे सुकरात स्वत उससे दूर रहा। इन सारी असाधारण परिस्थितियों के निर्माण (अन्तिम परिस्थिति को छोडकर) का अवसर ही नही आयेगा यदि ससार अपेक्षित गति से चलता रहे। चूँकि प्रतिकूल वातावरण के बावजूद भी दार्शनिक बने रहते है इसलिए जो सच्चे दार्शनिक हैं उन्हे अपने चरित्र को निष्कलक और पवित्र रखने में ही लगे रहना चाहिये। तभी उनके यशस्वी क्षण की प्रतीक्षा सफल होगी। एडीमण्टस कहता है कि जो मनुष्य इस ढंग का जीवन बिताता है वह मृत्यु के पूर्व महान पुरुषार्थ का उदाहरण बन जाता है। सुकरात इससे सहमत है परन्तु इसे श्रेष्ठतम उपलब्धि नही मान लेना चाहिये क्योंकि जब उसे योग्यतानुकूल नगर में स्थान मिलता है तभी वह अपना और सामान्य जन जीवन का हित करके साधक हो सकता है।

४ इसके पश्चात साधारण तौर पर यह बताया गया है कि ससार और दर्शन के बीच असगति किस प्रकार दोनो के लिए अनिष्टकर है और किस प्रकार इसका निवारण किया जा सकता है। इसके पूर्व चर्चा मे यह दिखाया गया है

कि यथार्थत दर्शन क्या वस्तु है अर्थात् वह मानवजीवन की पूर्णता है और मानव समाज की यथातथ्यता क्या है ? प्रस्तुत भाग म उन तत्त्वा के समन्वय का परिचय मिलता है जिनके भीषण वैषम्य का विवरण अभी-अभी समाप्त हुआ है। इसमे सयोगवश कई और परिच्छेद जुडकर समन्वय भावना की ही अभिव्यक्ति करते है। सुकरात और थ्रेसीमेकस म मत्री सम्बन्ध की घोषणा की जाती है। स्वय सुकरात तर्कशीलता क चरम शिखर पर सुशोभित होकर सत्यनिष्ठ मनुष्या क वत्तमान जीवन-काय को शाश्वत प्रक्रिया का केवल स्वल्पाश जसा अकित करता है। घोषणा की जाती है कि यह विशाल विश्व जसा हम समझते हैं उतना बुरा नही है। दर्शन के प्रति लोगो म जो शत्रुभाव है वह उनकी अज्ञानता स उत्पन्न होता है। यदि उन्हे ठीक ढग स दर्शन की महत्ता का बोध कराया जा सकता वे उसे प्रसन्नता से ग्रहण करेंगे। मानव समाज के बडे समुदाय म दर्शनज्ञा के प्रति अविश्वास होने का कारण यह है कि दर्शन के नाम पर कृत्रिम शब्दजाल और जटिल विचार का गोरखधधा सुसम्बद्ध वेश म रखा जाता है। सच्चा दर्शन वचन और कम सिद्धात और आचरण का स्वाभाविक सामजस्य है। स्मरणीय है कि दर्शनज्ञ कहलानेवाले लोग साधारण व्यक्तिया के सम्बन्ध मे तकवितक किया करते हैं। किन्तु सच्चा दर्शनज्ञ अन्तरात्मा की सहज प्रेरणा से सभी मनुष्या के ससग मे शान्ति अनुभव करता है क्योकि वह शान्ति के राज्य म स्वय निवास करता है उसकी प्रज्ञा के समक्ष यह चिरन्तन विश्व सतत भाव से उपस्थित रहता है, वहा अनाचार नही होता उस भोगना नही पडता, वह सनातन नियम या विधि का ससार है। वह मूर्तिमान विवेक है। अतएव यदि कहा ऐसा पुरुष मिल जाये जो अपनी स्वप्नदृष्टि के परिपूर्ण नियम को जनसमूह के चरित्र और सस्थाओ म उडेल दे जिस तरह कोई महान शिल्पी मनुष्य स्वभाव की मिट्टी लेकर अपनी उत्कृष्ट कल्पना के अनुरूप उसे ढाल देता है तो हम आदर्श तथा यथार्थता के सामजस्य की सचमुच उपलब्धि हो सकेगी। यह चाहे जितना कठिन काम हो, इसे असम्भव नही कहा जा सकता क्योंकि सच्चा दर्शनज्ञ मिलना असम्भव नही है जिसम महान् आत्मबल हो जिसके ह्रास की सम्भावना नही। तब यह कैसे असम्भव होगा कि मानवजाति उसके विचारा को अनसुना कर दे ?

५ दर्शन और समाज के बीच सामजस्य की सम्भावना का यह साधारण सकेत कर चुकने क बाद उस अध्ययन क्रम और जीवन पद्धति का प्रश्न शेष है जिसके आधार पर दार्शनिक प्रकृति को प्रशिक्षित किया जा सकेगा ताकि ऐसे

व्यक्ति समाज के सहारक बनने के बजाय उसके उद्धारक बनें। सुकरात की शैली म यह प्रश्न उपस्थित है कि राज्य किस प्रकार दशन की व्यवस्था करे ताकि उसका ध्वस न हो पाये ? प्रश्न का यह ढग मनुष्य स्वभाव म निहित उस दुधारी और विकराल शक्ति के स्वरूप का प्रबल और विचित्र आभास देता है जिसे सुकरात निरूपित कर रहा है।

□ □

ज्ञान का सर्वोपरि लक्ष्य–श्रेयस

दार्शनिक प्रकृति के अनुकूल परिवेश की व्यवस्था करने म समाज की विफलता स्पष्ट कर चुकने के पश्चात फिर हम शिक्षा के प्रश्न पर विचार करना होगा। चर्चा के इस छोर से सप्तम अध्याय के अत तक इसी प्रश्न का समाधान खोजने का प्रयत्न किया गया है। आत्मबोध और शारीरिक शक्ति सम्बन्धी प्रारम्भिक शिक्षा का जो विवरण पहले दिया जा चुका है उसकी त्रुटि को यथास्थान पूर्ण करने के लिए शिक्षा प्रणाली का खाका तयार करना जरूरी है। उस शिक्षा म विशेषत कौन सी त्रुटि है जिसकी पूर्ति आवश्यक है? त्रुटि यह है कि दार्शनिक प्रकृति की उत्कर्षगामी अवस्था के योग्य पर्याप्त पोषक पदार्थ उसम नही मिलते। दार्शनिक प्रकृति के निरूपण म द्वितीय स चतुर्थ अध्याय और पचम से सप्तम अध्याय क बीच सारभूत विचारधारा बहती है। लेकिन परवर्त्ती अध्याया म इस प्रकृति की कल्पना और तदनुकूल समुचित शिक्षा की धारणा इतनी अधिक उत्कर्षगामी हो गयी है जिसस भ्रम हाता है कि कही प्लेटो सारी बातें नये सिर से दोहराने का यत्न तो नही कर रहा है और पिछले अध्यायो म जिस विषय मे वह ध्यानमग्न दिखायी देता था उसे वह भूल गया अथवा उसकी अवहेलना कर रहा है।

द्वितीय से नवम अध्याय तक दार्शनिक प्रकृति विषयक जो नाना प्रकार की बातें कही गयी हैं वे सब एक ही कल्पना के सूत्र म पिरोयी हुई है। आत्मा के दर्शनतत्त्व की इसी कल्पना के कारण वह अपनी सुपरिचित और सजातीय वस्तु के आकर्षण का अनुभव करती है और उसी के तारतम्य मे उसे सुख मिलता है। मनुष्य के अभ्यन्तर का दर्शनतत्त्व विविध अर्थवाही होते हुए भी अपने से बाहर किन्तु अपने ही जैसी व्यापक वस्तु का आकर्षण है। दूसरे व्यक्तियो के प्रति आकर्षण कला या प्रकृति की सुन्दर वस्तुओ का आकर्षण अथवा सत्य का

आकर्षण–सभी विभिन्न प्रयोजनो मे वही भासमान है। इन सभी भिन्न भिन्न वस्तुओ म प्लेटो को आत्मा के एकमात्र भावावेश की न्यूनाधिक विकसित अवस्थाएँ दिखायी देती हैं। परम उच्चावस्था वह है जिसम पहुँचकर आत्मा केवल अन्य बन्धु बान्धवो के प्रति रागात्मक अनुभूति ही नही पाती सौन्दर्य के माध्यम से केवल आकर्षक वस्तुओ की समीपता ही नही चाहती वरन चतुर्दिक दृश्यजगत् के अन्तर्गत सत्य की प्रतीति करना चाहती है। और इस सत्यदर्शन से आत्मा को वैसा ही परम सन्तोष मिलता है जैसा स्वजनो के मिलन से हुआ करता है। तो समस्या यह है कि आत्मा की इस अवस्था के अनुकूल पोषक तत्त्व देनेवाली शिक्षा प्रणाली तैयार करना है। यह उन इने गिने व्यक्तियो के लिए जरूरी है जिनका दर्शन-तत्त्व इतना विकसित हो चुका है कि उन्हे अधिक रुचिकर पोषण की आवश्यकता का अनुभव होता है। बहुत बडी संख्या तो उन्ही लोगो की है जिनकी आत्मस्थ दर्शन-वृत्ति सुनागरिकता के जीवन म प्रवेश करके अपने नागरिक बन्धुओ का कल्याण करके तूष्णीम होती है। लेकिन इनम थोडे-से ऐसे भी होते हैं जो आन्तरिक सद्वृत्तियो की प्रेरणा स संस्थाओ के मूल मे कम नियमो अथवा सिद्धान्तो के शोध म अनुरक्त हैं जबकि बहुसंख्यक लोग विभिन्न मात्रा म केवल संस्था भक्ति मे अटके रह जाते हैं। इन्ही व्यक्तियो और समाज के हिताय यह नितान्त महत्त्व का प्रश्न है कि इन्हे समुचित प्रणाली मे प्रशिक्षित किया जाय अन्यथा इनका भावावेश इन्हें कुपथ म ले जायगा। कौन सी अध्ययन और जीवन प्रणाली ऐसी है जो इन व्यक्तियो को सचमुच समाजोद्धारक बना सकती है?

इस प्रश्न पर जिस परिच्छेद म विचार हुआ है उसम 'रिपब्लिक' के दूसरे किसी परिच्छेद की अपेक्षा इस विषय के सम्वाद के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती भागो का सम्बन्ध स्पष्ट है। दूसरे से चौथे अध्याय की आलोचना इसी परिच्छेद म की गयी है। उन अध्यायो की चर्चा से आगे हम कितनी प्रगति कर सके हैं—यह भी बताया गया है। पत्नी मण्डल और शासको की नियुक्ति इन दो कठिनाइयो से सुकरात लगातार चिन्तित बना रहा है और इसीलिए जानबूझ कर पूर्ववर्ती अध्यायो म इनके प्रतिपादन को वह टालता रहा। पचम अध्याय म फिर पत्नी मण्डल के विषय म अधिक चर्चा की गयी तथा यही शासको की नियुक्ति के प्रश्न की ओर फिर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है। सुकरात खुलेतौर पर तीसरे अध्याय के उस वाक्य का उल्लेख करता है जिसमें शासकों के चयन और नियुक्ति के विषय का संक्षिप्त विवरण है परन्तु श्रेयस से उसका प्रयोजन नहीं

है। यहाँ जिस विशेष प्रकार की प्रगति वाञ्छनीय है श्रेयस शब्द में उसका समावेश है। इस शब्द का प्राथमिक अर्थ कलात्मक कृति से जुड़ा है जिसमें यथारूपता का आशय प्रमुख है उसकी शुद्धता अथवा सूक्ष्मता का नहीं। केवल रैखिक आभासपूर्ण कृति के विरोधी अर्थ की ध्वनि इससे निकलती है और अरस्तू लगातार महज रूपरेखावित कलाकृति के प्रति विरोध व्यक्त करने के लिए इस शब्द का प्रयोग करता आया है। समूचे परिच्छेद में पहले किये गये और आगे आने वाले विषय निरूपण की विषमता पर विभिन्न दृष्टियों से बल दिया गया है। पूर्ववर्ती वर्णन अधूरा था, वह खाका भर था, उसमें सभी विचार नहीं उभरे थे। पहले अध्यायों में इस पूर्णता का अभाव कहाँ रह गया था? प्रधान विषयों में इस अभाव का पता चलता है अभिभावकों के चयन और उनकी नियुक्ति-प्रणाली के वर्णन में तथा न्याय और दूसरे गुणों के प्रतिपादन में प्लेटो, शासकों की नियुक्ति के विषय से आरम्भ करता है।

बिलकुल प्रारम्भ में शासकों के चयन का सिद्धान्त यह था कि वस्तु की रक्षा करने के लिए वही पुरुष सुयोग्य है जो उसे अत्यधिक प्रेम करता है। तदनुसार राज्य के अभिभावक की श्रेष्ठतम योग्यता का प्रमाण यह था कि उसे राज्य के प्रति सहज स्नेह होना चाहिये। योग्यता की परीक्षा के लिए नाना प्रकार के भावनात्मक संकट सुख भोग पीडा तथा भयभीति के प्रयोग उस पर किये जाते थे। इन सभी का लक्ष्य यह था कि वह व्यक्ति जिस राज्यनिष्ठा को ग्रहण कर चुका है उसे त्यागने के लिए आतुर हो जाये और वह राज्यनिष्ठा यह थी कि अपने आचरण की प्रत्येक क्रिया मे वही करना योग्य है जो राज्य के हित में श्रेयस्कर है। यदि इस सारे परीक्षण मे वह स्थिरमति सिद्ध हो गया तो उसे अभिभावक का पूर्ण दायित्व सौंपा जाता था। किन्तु इस प्रकार से चयन केवल अस्थायी था। तर्कपद्धति का रुझान अब इस प्रश्न को फिर सामने लाता है कि अभिभावक के समग्र प्रयोजन का पूरा ध्यान रखकर कौन से व्यक्ति श्रेष्ठतम योग्यता सम्पन्न माने जायें और हम यह विदित हो चुका है कि केवल दर्शनज्ञ ही इस पद के अधिकारी हो सकते है। इसका आशय यह हुआ कि अभिभावकों के चरित्र का परिपूर्ण और कठोरतम प्रशिक्षण करना पडेगा जिसकी हमे पहले जरूरत नही दीखी थी। तात्पर्य है कि मनुष्य स्वभाव के दर्शन-तत्त्व के जिस रूप को हम शुरू से देखते आये हैं वह शासनकर्त्ता में प्रचुर मात्रा में दृढ होना चाहिये, उसमें विकासगामी योग्यताएं हमारे पूर्व अनुमान से कही अधिक विशद होनी चाहिये। इसी तत्त्व के गर्भ मे मनुष्य-स्वभाव का अन्तस्थ कल्पनात्मक आवेग

जन्म लेता है जिसमें अटूट गुण सामर्थ्य रहती है और जिसकी शक्ति छिपा हुआ करती है। अब हम समझ सकते हैं कि अभिभावकों के चयन में केवल चारित्रिक दृढ़ता को ही पर्याप्त नहीं माना जा सकता क्योंकि उनमें इस गुण के विपरीत दीप्तिवाली क्षमता की आवश्यकता को भी हमें पहचानना है। व्यवस्थाप्रिय, ठोस और दृढ़व्रती स्वभाव के साथ साधारणतः कल्पनाशील प्रकृति का समन्वय नहीं हुआ करता। कल्पनाशील व्यक्ति शीघ्रतापूर्ण धैर्यहीन तथा उत्कर्षकामी होता है जिसे भुलाया नहीं जा सकता। तथापि दृढ़व्रती क्षमता अपरिहार्य है जिसे हमने अभिभावक के चरित्र का मूलाधार पहले ही मान लिया है। इसलिए अब फिर यही समस्या है कि परस्पर विरोधी गुणों में सामंजस्य किस तरह होगा? हमारा ध्येय यह है कि हमारे अभिभावकों में दार्शनिक चरित्र की बौद्धिक अस्थिरता तथा उच्चाकांक्षा के साथ सत्प्रकृति के सारभूत गुण—व्यवस्था और दृढ़ता का समन्वित किया जाय। इसीलिए अभिभावकों के चयन और शिक्षण के दावे में इस नवीन और विपत्तिजनक चरित्र-लक्षण के परीक्षण तथा प्रशिक्षण के प्रबन्ध द्वारा प्लेटो त्रुटियों की पूर्ति करता है। अतएव सुखद और दुःखद प्रयोगों के साथ हम बौद्धिक क्षमता की जाँच को जोड़ना पड़ेगा तथा यह देखना होगा कि अभिभावक में इन प्रमाणों को झेलने का साहस भी है या नहीं। इसके अतिरिक्त पूर्वनिरूपित शिक्षा प्रणाली में इस विषय का इस तरह समावेश करना पड़ेगा कि वह सौन्दर्य प्रेम तथा ऐसे ही अन्य गुणों के सतही अर्थ में सिमटकर न रह जाय बल्कि ज्ञानपिपासा के प्रस्तुत प्रयोजन की पूर्ति कर सके।

पहले के अध्यायों में मानवी नैतिकता का जो विवरण दिया गया है उसमें एक त्रुटि रह गयी थी। हमने उसके स्वरूप को प्रयोगाश्रयी मनोविज्ञान का एक पहलू जैसा मान लिया था। हमने इन्द्रियसुलभ अवलोकन से आत्मा के तीन प्रमुख तत्त्वों को स्वीकार किया था और यह बताया था कि इन तीनों की निश्चित अवस्थाएँ चार प्रधान गुणों के रूप में व्यक्त मानी जाती हैं तथा उनमें परस्पर एक नातेदारी है। परन्तु जैसा उस समय भी कहा जा चुका है इन गुणों का वर्णन अपर्याप्त था। अब हम मनुष्यों के नैतिक स्वभाव की समग्र और पूर्णरूप में मनोहर व्याख्या करना चाहते हैं। (इस परिच्छेद में यह ध्यान देने योग्य है कि हमारे कल्पित अभिभावकों को सहजभाव से बिना पूर्वसंकेत दिये हमारे समान ही साधारण व्यक्ति माना गया है। उनके योग्य शिक्षा पद्धति हमारे विचाराधीन है और उनके विषय में हम हो विचार विमर्श कर रहे हैं। प्रमाणित होता है कि अभिभावकों की शिक्षा प्राथमिक रूप से हमारे लिए ही है।)

इस समूचे परिच्छेद का निष्कर्ष यह है कि चाहे हम रिपब्लिक को राजनीतिक और सामाजिक सुधार का ग्रन्थ मानें अथवा मानव जीवन की ऐसी आदर्श धारणा का प्रदर्शन कहें जिसे हम अपने आपके लिए प्रयोगार्थ ठीक समझें यह जरूरी है कि मनुष्य विषयक पूर्ववर्ती कल्पना और उसकी आवश्यकताओं का हम गहन चिन्तन तथा उसकी त्रुटियों की पूर्ति करना पड़ेगी। कारण यह है कि मनुष्य स्वभाव में कम से कम ससार के प्रभावशाली व्यक्तियों के स्वभाव में एक ऐसी वस्तु निश्चित रूप से है जो केवल चरित्र निर्माण से तूष्णीम नहीं होती जैसा पिछले अध्यायों में नैतिकता की प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक समझा गया था।

अगला सवाल यह है कि ज्ञान की सामग्री को किस वस्तु का योग और चाहिये जो पिछले अध्यायों में वर्णित प्रशिक्षण की अभावपूर्ति कर सकता है? गुणों की प्रारम्भिक वर्णना को पूर्ण कल्पना में ढालने के लिए और अभिभावक की प्रारम्भिक रूपरेखा को उसके सम्पूर्ण अर्थ में प्रस्तुत करने के लिए किस प्रकार के ज्ञान की अपेक्षा है? एक ही उत्तर है श्रेयस का ज्ञान। यदि अभिभावक न्याय के हित को परखने में समर्थ नहीं होता है तो वह न्याय का निर्बल प्रहरी होगा। जब तक मनुष्य विभिन्न प्रकार के शुभ में से यथार्थ शुभ के बोध को पहचानने का अभ्यास नहीं करता तब तक ऐसे विविध शुभों की प्राप्ति सम्पत्ति मात्र है ज्ञान नहीं। श्रेयस का ज्ञान उनकी नैतिकता विषयक समूची अपरिपक्व धारणाओं को अपने में अन्तर्धान कर लेगा जिन्हें हम अब तक देख चुके हैं। ज्ञान का परम लक्ष्य यही है। इसी में कल्पनात्मक भावना की समग्र चरम आकांक्षाएं तूष्णीम होती हैं। शिक्षा के जिस विकासोन्मुख रूप का अब वर्णन किया जायगा वह ऐसी शिक्षा होगी जो क्रमानुसार श्रेयस की धारणा बनाने में सफल हो।

श्रेयस की धारणा को प्लेटो के दर्शन और सामान्यतः ग्रीक दर्शन में नैतिक और ज्ञान विषयक दर्शन में जो उचित स्थान मिला है उसे हृदयंगम करना इन दर्शनों के सम्यक्बोध की दृष्टि से नितान्त आवश्यक है। इस प्रसंग में प्लेटो श्रेयस का जैसा प्रतिपादन करता है उसमें एकदम स्पष्ट होता है कि उसे तीन प्रकार की भावनाएँ एक दूसरे से नित्य सहवर्ती लगती है यद्यपि हम उनमें परस्पर सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। श्रेयस एकदम यह सब है प्रथम, जीवन लक्ष्य है अर्थात् समस्त आकांक्षाओं का चरम ध्येय हेतु। द्वितीय ज्ञान की उपाधि या शर्त है अर्थात् ऐसी वस्तु है जिससे जगत बोधयुक्त होता है और चित्तसुधी बनता है। तृतीय विश्व का सर्जनात्मक और पोषक मूलकारण है। परस्पर असम्बद्ध

दिखायी देनेवाली इन भावनाओं को प्लेटो किस प्रकार एक ही धारणा के अन्तर्गत गूँथ सका ?

आमतौर पर सत् या श्रेयस शब्द का व्यवहार सदाचार के विविध अर्थों में किया जाता है जैसे सज्जन। इस एकदम भुलाकर ही हम प्रस्तुत सन्दर्भ में इस शब्द के निश्चित आशय को समझ सकते हैं। ग्रीक भाषा में सज्जन का वह अर्थ कभी नहीं समझा जाता जो हम बोलचाल में समझते हैं। सज्जन से किसी विशेष कार्य में दक्षता या कौशल का सन्दर्भानुसार अर्थ किया जाता है बल्कि कुशल या अच्छे योद्धा के अर्थ में ही ग्रीक भाषा का 'सज्जन' शब्द काम में आया करता है। इस ग्रीक शब्द में नैतिक गुणों का भाव निहित नहीं है। ग्रीकजन और ग्रीक दार्शनिक सत् या श्रेयस से इष्ट वस्तु का अर्थ करते हैं जिसे हम नितान्त प्राप्तव्य मानते हैं जिसे हम अत्यधिक इच्छित वस्तु समझते हैं। मानवी कामना की वांछित वस्तु की धारणा से हम सुपरिचित हैं परन्तु एकाएक हम उसके अर्थ को ग्रहण नहीं कर पाते। इसे समझने का उत्तम उपाय यह है कि सत् या वांछित वस्तु वही है जिसे कोई मनुष्य किसी भी क्षण प्राप्त करने के लिए इतना उत्सुक है कि उसे छोड़कर अन्य कोई वस्तु वह नहीं चाहता। यदि कोई मनुष्य धन पाने के लिए या देशरक्षार्थ अथवा प्रतिशोध के निमित्त अपने प्राण तक देने को तत्पर है तो उस क्षण धन, देश अथवा प्रतिशोध उसकी दृष्टि में एकमात्र 'सत्' वस्तु है क्योंकि इसके लिए वह अपना सर्वस्व त्यागने को तैयार है। अतएव जिसे हम 'सत्' समझते हैं वह प्रत्येक दिन हमारे लिए नये-नये रूप में उपस्थित हुआ करता है किन्तु प्रत्येक क्षण कुछ न कुछ ऐसा होता है जिसे हम इस आशय का सत् स्वीकार किया करते हैं। ग्रीक दर्शन और सार्वजनिक विचार में चरम सत्य के समान यह मान्यता थी कि मनुष्य का जीवन 'सत्' के आधार पर टिका है अर्थात् उसका स्वतः एक श्रेयस है। मनुष्य के विषय में ही नितान्त मौलिक तथ्य है—वह सदैव किसी निश्चित वस्तु के निमित्त ही जीता है चाहे वह इससे बचने का कितना ही प्रयत्न क्यों न करे।

ग्रीकजन की इस मान्यता के साथ प्लेटो और अरस्तू का निश्चित मत यही था कि मनुष्य विवेकशील प्राणी है जो उपरोक्त कथन का रूपान्तरमात्र है। हम 'विवेकशील व्यक्ति' से सामान्यतः उस मनुष्य का अर्थ समझते हैं जो अपने आपको बुद्धू या मूर्ख नहीं बनाता। इस तरह के अन्य वाक्यांशों द्वारा ग्रीकजन विशिष्ट अभिप्राय का बोध पाते थे। ग्रीकजन विवेकशील प्राणी से केवल यह

आशय करते थे कि मनुष्य किसी वस्तु को अपना ध्येय बनाने के लिए विवश है। वह उपाय और उद्देश्य का प्राणी है। वह अपनी स्वभाव रचना को वस्तु की प्राप्ति का साधन समझता है और इसी की प्रेरणा स प्रत्येक काय करता है। ग्रीक नीतिदशन का मूलभाव यही है। यही कारण है कि प्लेटो और अरस्तू तक और सत मे अभेद्य सम्ब ध मानते हैं। यह किसी विशेष सत् या अच्छी वस्तु किसी उचित जीवन ध्येय और किसी विशेष प्रकार के तक का सम्बन्ध नही है जो विशिष्टरूप स विवेकशील हो जसा विवेकशील शब्द और सत शब्द की ध्वनि से व्यक्त होता है अपितु शुद्ध तक और शुद्ध सत क सम्ब ध का सकेत है। मनुष्य की विवकशीलता अथवा तकशक्ति का आशय यह है कि वह आदशग्राही प्राणी है जो आदश की उपलब्धि के लिए विवश है। आदश वह ध्येय है जो किसी विशेष क्षण किसी विशेष वस्तु म समाहित नहीं है किन्तु फिर भी अशत उसम उपलब्ध है। आदश की कल्पना का अभिप्राय यह है कि वह कभी पूणत प्राप्य नही होता कि तु इसके साथ ही वह निरन्तर प्राप्त होता रहता है। मनुष्य की ध्येयवस्तु चाहे जितनी और चाहे जब बदलती रहे वह स्वय पूणत वर्त्तमान मे कभी नही रहता। जिस क्षण उसका ध्यान किसी वस्तु म रमा है उसी क्षण उसके परे किसी अ य पदाथ की ओर उसका विचार चला जाता है और वह तर्क की प्रेरणा ही से ऐसा करता ह। इसी एक बात के कारण मनुष्य नतिक जीव कहलाता ह। उसकी नीतिमत्ता की योग्यता क मूल म उसकी तकशक्ति निवास करती ह और यही तकशक्ति किसी लक्ष्य के हिताथ जीवित रहन के लिए विवश है। इसी मौलिक कल्पना स ग्रीकजाति के समक्ष हमेशा नीतिदशन सम्बन्धी यह समस्या प्रकट हुई ह कि उस यथाथ लक्ष्य का स्वरूप स्थिर किया जाये जिसस मनुष्य का जीवन साथक हो। इससे स्पष्ट ह कि ग्रीक विचारकों की दृष्टि मे नतिक जीवन और विवेकशील जीवन म कोई भेद नही था। (यह उसी जीवन का प्रयोजन हो सकता ह जिसम तकशक्ति को सम्यक रूप से अवसर दिया जाये।) नतिक जीवन का केवल एक ही अभिप्राय हो सकता ह कि मनुष्य प्रत्येक काय यथाथ सत् की दृष्टि से उसी की अन्तर्ज्योति के अनुसार करता ह। जिस मनुष्य की समग्र कार्यावलि मे नितान्त सततभाव से यथाथ सत् विद्यमान रहता ह वही श्रेष्ठ मनुष्य ह। इस प्रकार श्रेयस्कर जीवन अत्यन्त विवेकशील जीवन ह क्योंकि इसी प्रकार के जीवन म ज्ञान तथा कम का गहन सहृति सम्भव है और इसी को जीवनलक्ष्य अथवा केन्द्रीय सिद्धान्त का साधन माना जाता ह जिसे ग्रीकजाति सत् या श्रेयस के नाम स सम्बोधित करती ह।

इसी विचाराश मे विभिन्न समझे जानेवाले जीवन के नैतिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोणो का मेल ग्रीक दर्शन मे हो जाता है। हम समझते हैं कि आधुनिक दर्शन से तुलना करने पर ग्रीक नीतिदर्शन ज्ञान पर विशेष बल देता है और बुद्धि को अतिशय महत्ता की वस्तु मानता है। इस प्रकार की धारणा का प्रमुख कारण यह है कि हम उसमे बौद्धिक शब्दावली का सतत उपयोग पाते हैं और इस पर ध्यान ही नही देते कि तर्कशक्ति अथवा बुद्धि की कल्पना का सम्बन्ध सदैव सत या श्रेयस के साथ जुड़ा हुआ है। ग्रीक विचारक तर्कशक्ति को ही मनुष्य की नैतिक सत्ता का वास्तविक आधार मानते थे। जैसा पहले बतलाया जा चुका है वे तर्कशक्ति के अस्तित्व से ही मनुष्य मे उस योग्यता का बोध पाते हैं जिसके कारण वह किसी निश्चित वस्तु के लिए जीवन धारण किये रहता है। तर्कशक्ति और विवेकशीलता के लिए प्रयुक्त ग्रीकभाषा के शब्दों में बहुत कुछ वही आशय भरा है जो 'प्राज्ञ' तत्त्वज्ञानी' और आदर्श' से आग्ल दर्शन मे व्यक्त होता है। जिसे विवेकशील प्राणी कहते हैं, आंग्ल भाषा म उसे तत्त्वज्ञानी कहा जाता है। फिर भी, यह सही है कि ग्रीक नीतिदर्शन उत्कट रूप से बौद्धिक है और नैतिक तथा कलात्मक पहलू उसमे विशेषत प्लेटो के दृष्टिकोण मे अन्तर्लीन हो जाते हैं।

मनुष्य जीवन के अध्ययन की दृष्टि से हम देख चुके हैं कि मनुष्य मे निहित तर्कशक्ति के कारण ही निश्चित लक्ष्य के लिए जीवन सार्थक माना जाता है। मानव कर्म की बात छोड़कर जब हम प्रकृति को विज्ञान का लक्ष्य मानकर विचार करते हैं तो हम ग्रीक विचारकों को भी तर्कशक्ति का तत्त्वत वैसा ही प्रयोग करते देखते हैं। चूँकि तर्कबुद्धि के आश्रय से ही वस्तुबोध सम्भव है, इसलिए विश्व म उसके अस्तित्व से ग्रीक विचारक यह अभिप्राय करते हैं कि प्रकृति अथवा कला का प्रत्येक पदार्थ किसी श्रेयस लक्ष्य को अपने मे निहित पाता है और उसे व्यक्त करता है। प्लेटो और अरस्तू के नीतिदर्शन तथा विज्ञान-दर्शन पर हेतुवादी दृष्टिकोण का विशेष प्रभाव है। उनके लेखन म बुद्धि तथा श्रेयस या सत प्राय परस्पर सम्बन्धयुक्त विचार माने गये हैं। जहाँ कही बुद्धि है, वहीं श्रेयस उसका ध्येय है। यह विचार केवल मनुष्य-जीवन के लिए ही नही है समग्र ससार मे प्रयुक्त किया गया है।

किन्तु इस विचार के गलत मतलब लगाने म हमें सावधान रहना चाहिये। विश्व का हेतुवादी दृष्टिकोण प्रकृति के अभीष्ट को समझाकर यह सिद्ध करना चाहता है कि मनुष्य के प्रयोजन के लिए ही समूची प्रकृति बनी है। इस

अपरिष्कृत रूप मे प्रचारित होने के कारण हेतुवाद यह धारणा बनाने म सहायक होता है कि किसी भी वस्तु का अभीष्ट आशय अथवा हित नू यवत है यदि वह मनुष्य की सवा क योग्य सिद्ध नहीं होता। जो कुछ हमारे लिए हितकारी है उसके सम्बन्ध म हमारा ध्यान बहुत सकीर्ण हुआ करता है। इसीलिए हेतुवादी दृष्टिकोण त्रुटिपूर्ण सकीर्णताओं का मिथ्या द्योतक हो जाता है जिसका वैज्ञानिक मनीषा निरन्तर विरोध करती रहती है। किन्तु यथार्थ दार्शनिक प्रयोजन के निमित्त हेतुवाद बिल्कुल भिन्न वस्तु हो जाता है। प्लेटो और अरस्तू विश्व म मनुष्य को सर्वोपरि श्रेष्ठ वस्तु नही मानते थे। इसीलिए व विश्व को मनुष्य के ही हिताय निर्मित किया हुआ स्वीकार नहीं करते। इन मनीषियो न तर्कशक्ति के व्यापार को प्रत्येक वस्तु म प्रत्यक्ष प्रमाण के समान पाया। यह सीधी सी बात है कि प्रत्येक वस्तु का एक निश्चित कार्य है उसे एक ही काम सौंपा गया है, दूसरा नही और उस वस्तु के विविध अग इसी एक निर्धारित लक्ष्य से सम्बद्ध हैं। किसी भी जटिल पदार्थ का उदाहरण ले लीजिये (और सभी वस्तुएँ जटिल हैं अर्थात् कोई भी पदार्थ, जो अनेक अवयवों का एक समुच्चय है उसे समझाने या समझने के लिए केवल यह देखना होगा कि उसके विभिन्न अवयव किस प्रकार सम्पूर्ण वस्तु से निबद्ध हैं। अर्थात् यह ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक अवयव सम्पूर्ण वस्तु के किस प्रयोजन का निर्वाह करता है किस प्रकार उनम स प्रत्येक अवयव सम्पूर्ण वस्तु के श्रेयस अथवा लक्ष्य की पूर्ति म जुटा है। वस्तु के श्रेयस अथवा लक्ष्य का अन्तर्भूत सिद्धान्त स्वीकार किय बिना हम उस वस्तु को समझ ही नहीं सकते क्योंकि इसी अन्तर्निहित सिद्धान्त की मान्यता के कारण हम उस सम्पूर्ण वस्तु कहन म समर्थ होते हैं। प्लेटो और अरस्तू के अनुसार ज्ञान की प्रगति इसी सम्बन्धित प्रतीति म निहित है कि प्रत्येक वस्तु का निश्चित कार्य है और प्लेटो की भाषा म, विश्व इस वस्तुतथ्य की प्रभा है जो इस निरन्तर घोषित करती है।

इस धारणा को उत्तम रीति से समझने के लिए किसी एक कलाकृति का उदाहरण ले लीजिए। प्लेटो ने 'जार्जियस' (Gorgias) म जहाज का उदाहरण लिया है जिसे बनानेवाला निरुद्देश्य ढग से काम शुरू नहीं करता। वह छोटे छोटे टुकडो को एक निश्चित क्रमानुसार एक सुविचारित ध्येय की दृष्टि से जमाता है। कुशल जहाज निर्माता वही है जो सभी भागो को व्यवस्था मे बाँधता है ताकि उनका सम्मिलित उपयोग निर्धारित अभीष्ट म सहायक हो। इस अभीष्ट की पूर्ति जहाज का श्रेयस या सत् है। वस्तु का श्रेयस वह होता अथवा रहता

है जिसके निमित्त वह है या वह कुछ करता है और यदि जहाज कुशलतापूर्वक सन्तरण करता है तो वह अपने ध्येय या उद्देश्य अथवा श्रेयस में सफल होता है। अतएव यह सम्भव नहीं है कि जहाज-निर्माता के कार्य का प्रत्येक स्वल्प भाग जहाज के श्रेयस से परखा जाता है अर्थात् जिस निश्चित कार्य के लिए जहाज निर्माता जहाज बना रहा है उस समूची वस्तु के अस्तित्व की सार्थकता में उसका श्रेयस आँका जाता है। इसलिए मानवी कला में प्रतिफलित विवेक अथवा कलात्मक विवेक निश्चित श्रेयस को किसी सामग्री के माध्यम में अभिव्यक्त करके स्वतःमूर्त होता है। उत्कृष्ट कलाकृति वही होगी जो अंग अंग से ऐसे लक्ष्य, श्रेयस अथवा सिद्धान्त की परिपूर्ण व्यंजना करती है। इस हेतुवादी दृष्टि कहते हैं जिसके अनुसार एक निश्चित कर्तव्य पालन, एक निश्चित कार्यान्वय अथवा एक निश्चित लक्ष्य या श्रेयस सर्वत्र अपनेआपको प्रकट करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इस दृष्टिबिन्दु से हम किसी वस्तु में उसके कर्तव्य अथवा श्रेयस को जितना अधिक पहचान सकेंगे उतना ही अधिक हम उसका बोध होगा। जो मनुष्य जहाज के कर्तव्य से अनभिज्ञ हैं उसके लिए वह सचमुच अबोध्य वस्तु कही जा सकती है। विश्व की ऐसी वस्तुएँ सबसे बड़ी संख्या में हैं जिनके प्रति हमारा मनोभाव सचमुच इसी प्रकार का है। हमारी समझ में नहीं आता कि वे किस काम की हैं। हम उनके श्रेयस को जान नहीं पाते।

सम्पूर्ण अस्तित्व भर में वही कल्पना प्रयुक्त होती है चाहे प्रकृति हो, कला और नैतिक जीवन हो क्योंकि इन सभी में बुद्धि विद्यमान मिलती है। कला और नीति में इस दृष्टिकोण का प्रयोग बहुत स्पष्ट दीखता है परन्तु प्रकृति में भी थोड़े से प्रतिबन्धों के साथ इसे देखा जा सकता है। कारण यह है कि मनुष्य प्रकृति का अवलोकन कर सकता है, उसका निर्माण नहीं। इसलिए वह जिस सिद्धान्त का प्रयोग कला तथा नैतिक जीवन के क्षेत्र में व्यावहारिक रूप से करता है, प्रकृति के क्षेत्र में उसका अनुमानमूलक उपयोग होता है। परन्तु उसकी तर्कशक्ति दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से सक्रिय होती है। पौधे या पशु के विषय में मनुष्य आरम्भ में ही और अनजाने तौर पर यह मान कर चलता है कि वह सश्लिष्ट वस्तु अथवा एकता प्रकट करनेवाली वस्तु है, एक सम्पूर्ण रचना है। वह उसको अंगों या भागों में बाँटकर उसका विश्लेषण करने लगता है और विश्लेषण की समूची प्रक्रिया में तथा फिर उसके भागों को सकलित करने में पौधे या पशु की समग्रता का मूलभाव बराबर उसके ध्यान में बना रहता है। इसके साथ पशु या पौधे के अन्तर्भूत सिद्धान्त की चेतना भी उसे निरन्तर रहती

है। जीव एक प्राकृतिक पदार्थ है जिसके अवयव निश्चित उद्देश्य के लिए माध्यम या हेतुमात्र हैं व निर्धारित अभीष्ट के यन्त्र जैसे हैं। इस प्रकार जीवधारी की कल्पना का आन्तय हेतुवाद को प्रतिष्ठित करता है। अतएव आधुनिक विज्ञान, एक विशेष प्रकार के हेतुवाद का चाहे जितना खण्डन करे हेतुवाद की भावना के अतिरिक्त, उसकी कोई गति नहीं। उदाहरणार्थ वनस्पतिशास्त्र के ग्रन्थ में यही भावना प्रत्येक पृष्ठ में प्रदर्शित होती है क्योंकि वनस्पतिशास्त्री आद्यान्त इसी प्रश्न को सम्मुख रखता है कि उसे वस्तु के मूलकर्म का रहस्य खोजना है। किन्तु जब विज्ञानवेत्ता हेतुवाद का खण्डन करते हैं तब उनके वक्तव्य की सचाई निश्चित सीमा तक ही मान्य हो सकती है। प्रत्येक वस्तु का एक निश्चित व्यापार या वृत्ति है—इस पूर्वानुमान का हम यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि प्रत्येक विशिष्ट पदार्थ का लक्ष्य किसी दूसरे विशिष्ट पदार्थ के हित में कार्यशील होना है, इस पूर्वानुमान के कारण हम इस अनुसन्धान के परिणामों को पहले से ही न मान बैठें। यह कहना एक बात है कि यदि हमारे अनुमान में प्रकृति के भीतर एक सार्थकता है तो हम प्रकृति के क्रियाकलाप का केवल भाष्य कर सकते हैं किन्तु यह बिलकुल भिन्न बात है कि वस्तुजगत में हमें जो सार्थकता एकदम या सतही तौर पर मिलती है वही सच्ची है।

जिस विचारदृष्टि से सर्वत्र साधन और साध्य ही दिखायी देता है वह ग्रीक दर्शन का सुस्थिर दृष्टिकोण है। ग्रीक शब्दावली में सरल ढंग से इसे एक प्रश्न के रूप में कहा जा सकता है श्रेयस या सत क्या है? इस विषय को संक्षेप में इस प्रकार कहेंगे श्रेयस शब्द का अर्थ वस्तु के मूलभाव या मूलकर्म का संकेत करता है जिसके लिए उसका अस्तित्व है। इस शब्द के भावार्थ में कोई मूलभूत परिकल्पना निहित है जिससे वस्तुजगत की प्रकृति या स्वभाव प्रकट होता है अर्थात विश्व में एक तर्कशक्ति क्रियमाण है वही मनुष्य और प्रकृति में भी है। यह तर्कबुद्धि विश्व में सर्वत्र इस खास ढंग से स्वप्रकाशित है जहाँ जहाँ अनेक तत्त्व सहअस्तित्व में मिलते हैं वहाँ एक निश्चित प्रकार की एकता दिखायी देती है एक निश्चित सिद्धान्त दृष्टिगोचर होता है जो उन तत्त्वों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करता है, जिससे वे जैसे हैं वैसे प्रतीत होते हैं और जिसके प्रकाश में हम उनका बोध प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए प्लेटो की दृष्टि में श्रेयस नैतिकता का मूलभूत तत्त्व है वही बोध का आधारभूत स्रोत है। इन्हें दो भिन्न भिन्न वस्तु नहीं समझ लेना चाहिए दोनों एक और समान वस्तु होते हुए भी, वह विभिन्न पदार्थों में प्रकट हुआ करती हैं।

अब देखना है कि मनुष्य जीवन और नैतिकता मे इसका प्रयोग किस प्रकार हो सकता है। प्रारम्भ मे इसका अभिप्राय यह है कि मानव समाज तथा व्यक्ति के जीवन को इस प्रकार अनुकूल स्थिति म ढाला जाये ताकि वह निश्चित लक्ष्य का साधन बन सके और इसीलिए मनुष्य समाज तथा वैयक्तिक आत्मा को जीव धारी मान लेना पडेगा। चतुर्थ अध्याय के आरम्भ म अभिभावको का पूरी रखने के विषय मे प्रश्न उठाया गया है और वही समाज के बारे म भी समाधान है यदि सम्पूर्ण वस्तु म श्रेयस का विचार स्थिर हो जाता है तभी उसके एक अवयव या भाग का श्रेयस विचारणीय है। इसी तरह अष्टम अध्याय म अपव्ययी धनिक के सर्वनाश का वर्णन किया गया है जो जनमण्डल का सदस्य केवल नाममात्र के लिए है और इसी कारण वह विजातीय वस्तु जसा हो जाता है। प्लेटो अष्टम अध्याय मे मानव-समाज के अध पतन का विवरण देते हुए यही कहता है कि उसका मूलकारण सजातीयता का क्रमिक ह्रास है। इस अभिप्राय का सम्बन्ध सद्गुण स जुडा है। वस्तु के उस लक्षण को गुण या सद्गुण कहते हैं जिसके कारण वह निराले ढग स शुभ या श्रेयस बन जाती है और इसका आशय यह है कि वह अपने निर्धारित कार्य को कुशलतापूर्वक निभाती है। सदाचारी मनुष्य की पहचान यह है कि वह अपना कार्य उचित प्रकार स करता है और जो मनुष्य अपना कार्य समुचित ढग से करता है वही ससार म समुचित आसन म कर्तव्य पालन म निपुण है। समाज के विषय म यही मान्यता है कि उसम प्रत्येक मनुष्य का स्थान और कर्म निर्धारित है। जीवधारी के बारे म यह अभिप्राय स्वीकृत है कि उसका प्रत्येक अवयव अपने कार्य तथा स्थान पर नियत है—यही बात वैयक्तिक आत्मा को लागू है। आत्मा का सद्गुण यही है कि उसका प्रत्येक अवयव या भाग अपने कार्य म कुशल है और प्रत्येक अवयव का जो कार्य है वह सम्पूर्ण आत्मा के श्रेयस या हित म परखा जाता है। आपका अमुक कार्य श्रेयस्कर है अथवा नही, इसकी जाँच एक ही प्रश्न के सही उत्तर स हो जाती है क्या ईमानदारी से आप यह कह सकते हैं कि आपका कार्य समष्टिरूप से आपके लिए श्रेयस्कर या हितावह है?

इस प्रकार श्रेयस्कर की धारणा का नैतिक प्रयोग सिद्धान्त की धारणा से मिलता-जुलता है। सिद्धान्तप्रिय पुरुष वह है जो अधिकाश मनुष्यों की अपेक्षा एक अभीष्ट को जीवन का लक्ष्य मानता ह, वह अटल एकाग्रचित्त पुरुष है जिसके कर्म, विचार और इच्छाएँ एक निश्चित लक्ष्य मे समर्पित हैं। कहा जा सकता है कि इस वर्णन के अनुसार कोई भी शुभ या अशुभ प्रबल इच्छा का व्यक्ति भी

इसी श्रेणी म गिना जा सकता है। उसका समाधान यह है कि विश्व की बुद्धिसगत व्यवस्था मे समाज म और ससार म प्रत्यक मनुष्य एक वास्तविक तत्त्व है। तदनुसार उसका जीवन जिस अभीष्ट स प्रभावित होता है जिस श्रेयस के निमित्त वह जीवित है वह अपनआप उसी अनुपात म श्रेयस्कर है जिसम वह व्यापक अभीष्ट म योग देता है और अ तत ससार की व्यवस्था अथवा उसके अभीष्ट या श्रेयस म योगदान करता है। प्रत्यक चित्र प्रत्यक जहाज प्रत्येक मनुष्य जीवन, प्रत्यक व्यवस्थित और सुसगठित सम्पूण वस्तु एक लघु विश्व जसा माना जा सकता है। इसी प्रकार यदि सम्पूण विश्व को हम देख सकें तो वह एक या सम्पूण वस्तु है जिसम शष वस्तुएज अगा के समान आबद्ध होकर काय शील है। यह अभिप्राय टिमेयियस म विस्तृत ढग से व्यक्त हुआ है और उस सम्वाद का एक प्राणवान भाग है। वहाँ भौतिक विश्व क स दभ म ही इसका प्रयोग किया गया है पर तु समाज और मनुष्य जीवन म भी यह प्रयुक्त है और रिपब्लिक मे इसी प्रकार से इसका प्रयोग हुआ है।

अत मनुष्य का जीवन नैतिक दृष्टि स उसी अनुपात म श्रेयस्कर है जिस मात्रा म उसका अभीष्ट अपनी व्यक्तिगत सत्ता से पर व्यापक लक्ष्य का अनुरागी होता है। जितनी एकाग्रता जितना परिमाण और जितने विस्तृत हिता म वह तल्लीन होगा उतना ही उसका अभीष्ट श्रयस्कर है। हमारे जीवन का बहुत बडा भाग अभीष्टरहित हुआ करता है और इसीलिए प्राय हम तुच्छ बन रहते हैं। हम लगता है कि कोई परम मूल्यवान वस्तु है कोई श्रेयस है पर तु हम अज्ञानवश उस जानन पहचानन म असमथ रहते हैं। हम नहीं जानत कि कहाँ जा रहे है या क्या कर रहे हैं और इसी कारण हमारे अधिकाश साधन, हमारी अभिलाषा की तत्कालपूरक शुभ समझी जानेवाली वस्तुएँ हम सचमुच कोई लाभ नही दती। यही हाल हमारे उन कार्यों का है जिन्ह हम न्याय और सम्मान के अपने अधकचरे सत से नापकर किया करते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि हम इन अभिभावको का श्रयस का उचित ज्ञाता बनाने म सावधान रह जिन्हें दूसरा पर शासन करने का भार सौंपना है और जो जनमण्डल के नतिक अभीष्ट का निर्धारण करनेवाल हैं। जिस मनुष्य को न्याय अथवा सम्मान क श्रेयस का दृष्टिबोध नही होता। (ससार म उसका क्या स्थान है ?) वह बहुत प्रवीण अभिभावक नही हो सकता क्योंकि श्रेयस क प्रति उसकी आस्था दृढ नहीं है। अब यह समझ म आ सकता है कि श्रयस की कल्पना से मानव जीवन के सक्षिप्त और आशिक विवरण की त्रुटियो की पूर्ति करना और उन्ह परिष्कृत रूप देना

क्या आवश्यक है। मनुष्य अपने कार्य के प्रयोजन को जितना खुलकर देख सकेगा जीवन का उतना ही निर्मल दर्शन उसे होगा और वह रूपरेखात्मक न होगा वरन रचना और योजनासहित सम्पूर्ण वस्तु की प्रतिकृति होगी।

मनुष्य जितना अधिक इस भावना से अभिभूत होगा उसका जीवन उतना ही प्रभावान् होता जायगा और दूसरे लोग उसके आचरण से उतना ही अधिक प्रभावित होंगे। वस्तुओं के श्रेयस को हम जितना समझते हैं उसी अनुपात में उनका ज्ञान हमें होता है। समस्त वस्तुएँ निश्चित लक्ष्य में एकस्थ होती हैं और प्लेटो के कथनानुसार सर्वोत्कृष्ट श्रेयस सूर्य के समान है जो बुद्धिग्राह्य विश्व को प्रकाश देता है। परमार्थ या चरम ध्येय की प्रतिबिम्बित ज्योति ही बुद्धिगम्यता है। यही प्रभा जगत्व्याप्त है और विभिन्न माध्यमों से निसृत होकर हमें मिलती है। संसार की प्रत्येक वस्तु अपनी योग्यता के अनुसार उस श्रेयस को उजागर करती है अथवा श्रेयस का आभास है। अतएव प्लेटो की कल्पना का सामान्य भाव हम इस तरह व्यक्त कर सकते हैं कि यदि मनुष्य श्रेयस के प्रकाश में जीवन बिताये तो उसे अपनी मर्यादा के अनुसार उसकी उपलब्धि होती है। साराश यह है कि वस्तुजगत की परिमिति में अपने समाज में, संसार में अपनी स्थिति की नित्य प्रतीति कर सकना जीवनधारण की सार्थकता है। अपनी स्थिति का उचित ज्ञान होने से मनुष्य सहज भाव से समझ सकता है कि वह जो कुछ है किस प्रकार वह उसका श्रेष्ठ परिचय हो और जो कुछ वह करता है किस प्रकार वह उसका श्रेष्ठ कर्म हो। इससे स्पष्ट दिखायी देता है कि प्लेटो के मन में नैतिकता और ज्ञान कितने घनिष्ट सम्बन्ध-सूत्र में जुड़े हुए हैं। मनुष्य जीवन के इस आदर्श को हम दूसरे ढंग से भी प्रकट कर सकते हैं। यह अपनेआपका और अपने निजी जीवन का यथासम्भव पूर्ण ज्ञान तथा बोध है अथवा संसार के एक अंग की हैसियत से अपने समुचित कर्तव्य का यथासम्भव पूर्णनिर्वाह है। दोनों दृष्टियों से प्लेटो की कल्पना का मूल स्वरूप यह है कि समस्त जीवन एक सम्पूर्ण वस्तु है जिसके सभी अंग परस्पर आश्रित हैं और इनके कार्यों को समरूपता देने वाला एक निश्चित सिद्धान्त है। संसार अथवा उसके एक भाग का यथोचित बोध पाने के लिए उसे श्रेयस के प्रकाश में परखना होगा अर्थात यह समझना होगा कि उसके विभिन्न अवयव समान ध्येय में किस प्रकार सकेन्द्रित होते हैं। दूसरी ओर यह भी जानना होगा कि पूर्णरूपेण श्रेयस्कर होने का आशय अपने निर्धारित कर्तव्य का पालन करना है। इसका सदैव यही अभिप्राय होता है कि

अपनी मूलसत्ता के गुणानुकूल जो कुछ करें वह श्रेष्ठ काय हो और सम्पूर्ण वस्तु के एक अवयव के नाते उसके श्रेयस मे यह काय योगदान करता रहे।

हम देख चुके हैं कि जीवन का लक्ष्य ही श्रेयस है। जब मनुष्य किसी निश्चित लक्ष्य के लिए जीवन समर्पित करके जीता है तब हम स्मरण रखना होगा कि ग्रीक भाषा मे लक्ष्य के पर्याय शब्द का प्राथमिक आशय अतिम प्राप्त वस्तु नही है आरम्भ से अन्त तक इष्टवस्तु की समापन क्रिया का पूर्ण आविर्भाव है काय की चरम परिणति है। मनुष्य का लक्ष्य इतना ही हो सकता है कि प्रकृतिदत्त योग्यता के अनुसार अपूर्ण ढग से ही सही वह अपनेआपको पूर्ण विकसित करे। इसलिए जब हम श्रेयस को जीवनोद्देश्य कहते हैं तो हम किसी एक वस्तु की प्राप्ति करके आत्मसतोष नही कर लेना चाहिए। यह तो आदश है जो कभी प्राप्त नही हो सकता अन्यथा वह आदश नही रहेगा। अरस्तू और प्लेटो दोनो की कल्पना के आदश को यह समान रूप से लागू है उपयोगितावादी आनन्द अथवा अन्य किसी भी आदश का अभिप्राय भी इसी प्रकार है। प्रत्येक व्यक्ति का चरम आदश धन स्वास्थ्य सत्ता अथवा ज्ञान नही है बल्कि कोई भिन्न वस्तु है जो इन सभी चीजो को श्रेयस्कर बनाती है। इस बात का प्रमाण यह है कि कोई व्यक्ति कभी अतिम रूप से सन्तुष्ट होकर नही बैठ जाता और न कहने लगता है—'बस, हो गया मेरा श्रेयस।' जीवन सम्बन्धी एक और दूसरे मतवाद की भिन्नता से इस विचार का कोई सरोकार नही है। असल म मनुष्य जिस विशेष भाव से चरम श्रेयस की कल्पना करता है और इस श्रेयस को अपने समग्र जीवन से सम्बद्ध करता है उसी मनोभाव म वह स्थिर रहता है।

जैसा प्रारम्भ म बताया जा चुका है प्लेटो श्रेयस को केवल जीवन ध्येय वस्तुजगत के बोध का मूल ही नही मानता बल्कि ससार म प्रत्येक पदाथ के भाव या अस्तित्व का उद्गम समझता है। सत या श्रेयस वस्तु का विधाता है उन्हें पोषित करता अथवा स्थित रखता है। इससे प्लेटो का जो आशय है वह चतुथ अध्याय के पूर्वोल्लिखित परिच्छेद म दिया गया है जहा वह इस प्रश्न का उत्तर देता है कि अभिभावक सुखी होगे या नहा। मनुष्य-समाज के अवलोकन से सहज ही यह बात स्पष्ट होती है कि समाज का सदस्य अपने काय व्यापार के अनुरूप ही मान्य होना है जसे हाथ या पैर शरीर मे अपनी क्रिया से ही पहचाने जाते हैं। कारण वस्तु का व्यापार ही उसकी सत्ता है एक को दूसरे से पृथक नही किया जा सकता। यह पूछें कि अमुक वस्तु क्या है तो उत्तर मे

उस वस्तु का व्यापार या काय ही बताया जाता है। वस्तु की सत्ता उसका धर्म है। जब मनुष्य वह काय छोड देता है जिससे उसका मनुष्यत्व है, तब वह मनुष्य ही नही रह जाता। यदि वह नागरिक कर्त्तव्यों का पालन नही करता तो वह नागरिक नहीं कहला सकता, जिस प्रकार शरीर से कटा हुआ पैर फिर पैर की सत्ता खो देता है। इसी सहज सिद्धान्त के कारण प्लेटो कहने लगता है कि श्रेयस वस्तु के भाव या सत्ता का उदगम है। वस्तु की यथार्थता उसकी सार्थकता है यह सार्थकता ससार-व्यवस्था मे उसके नियत व्यापार से परखी जाती है उसका नियत व्यापार चरम श्रेयस मे आका जाता है जो इस जागतिक व्यवस्था का मूल सिद्धान्त है। इस प्रकार वस्तु का भाव इस व्यवस्था से अनुशासित है अपने सदरूप की प्रतीति इस व्यवस्था को ग्रहण करने के अनुपात मे होती है। यदि वस्तु इस व्यवस्था के बोध से विमुख होती है तो वह व्यवस्था के बाहर हट जाती है और तब वह अपनी सत्ता का इतना बडा विसजन कर बैठती है।

श्रेयस की यही कल्पना दूसरे सम्वादो मे भी प्रकट हुई है। 'जार्जियस (Gorgias) का उल्लेख किया जा चुका है। फिड्रो' मे श्रेयस को ससार की महाप्रेरणा कहा गया है जो बिल्कुल सही अर्थ मे ससार का सजन करती है और उसे सयुक्त रखती है। पार्थिव कारणो से यह भिन्न कारण है परन्तु प्लेटो पार्थिव कारणो को ऐसी परिस्थितियाँ मानता है जिनके अभाव मे यह मूलकारण अपना अस्तित्व खो देता है। फिलेबस (Philebus) मे इसी को आत्मप्रकाश या परमाभिव्यक्ति अकित किया गया है जो तीन प्रमुख रूपो मे प्रादुर्भूत होती है सत्य शिव सुन्दर। किन्तु इन सभी रूपाभासो में वह विश्व का एकमात्र व्यवस्था सिद्धान्त ही रहता है। इसी तरह टमिइयस (Timaeus) मे चित्रमयी भाषा मे विश्व सजन का वणन करते हुए प्लेटो सृष्टा के दहात्मक और पुराणात्मक रूप को उन्ही लक्षणो से विभूषित करता है जो रिपब्लिक' मे उसने श्रेयस के स्वरूप को प्रदान किये है। विधाता के नाते उसने ससार को यथासम्भव सत् या श्रेयस बनाया है क्योकि वह स्वय पूर्ण श्रेयस है और इसी कारण सम तथा सदय है। उसने इस इन्द्रियगम्य जगत को बोधगम्य ससार के अनुरूप बनाया है परन्तु इसका मतलब यह नही है कि यथार्थत दो ससार हैं। आशय यही है कि इन्द्रियाँ जिस ससार का आभास पाती है वह वास्तव मे बोधगम्य अन्तभूत व्यवस्था का आविर्भाव मात्र है। टिमेइयस' (Timaeus) के अन्तिम चरण मे हम देखते हैं कि सृष्टा और भासमान जगत का अन्तर लुप्तप्राय होता जाता है और स्वय भासमान जगत ईश्वर के रूप मे मनुष्य की इन्द्रियो को प्रत्यक्ष होता

है। जिस प्रकार रिपब्लिक में कहा गया है कि श्रेयस या सत की परिपूर्ण व्याख्या सम्भव नहीं है उसी प्रकार टिमेइयस में बताया गया है कि निश्चित और सम्यक भाषा में देवो का विवरण तथा विश्व की उत्पत्ति समझाना असम्भव है। शैली में अन्तर होने पर भी दोनों सम्वाद एकमत से यह बात स्पष्ट करते हैं कि दृश्यमान जगत, अपूर्ण ढंग से सही उन सिद्धान्तों का रहस्य उद्घाटित करता है जिनके अनुसार वास्तव में वह निर्मित किया गया है और इन बोध गम्य रूपों की व्यवस्था उस आधारभूत परमस्रष्टा तथा प्रतिपालक सत्ता के सामीप्य को सुलभ बनाती है। टिमेइयस और रिपब्लिक दोनों में बताया गया है कि मनुष्य जिस विश्व का स्वयं एक अवयव या अंग है उसके तादात्म्य में ही उस परमानन्द का अनुभव होता है। टिमेइयस में सगुण और रिपब्लिक' में निर्गुण दृष्टि से विश्व की परम सत्ता का वर्णन किया गया है जिनमें से प्लेटो निर्गुण शैली को अपेक्षाकृत यथार्थ मानता है। यद्यपि वह अपने दार्शनिक विचारों को व्यक्त करने के लिए ग्रीक धर्मशास्त्र की शब्दावली का उपयोग करने में आगापीछा नहीं करता तथापि वह बार बार सूचित करता रहता है कि यह भाषा सत्य को यथावत व्यक्त करने में असमर्थ है। रिपब्लिक में श्रेयस की विधा नीति तथा विज्ञान के सम्बन्ध में उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितनी ईश्वर की कल्पना नीति और प्रकृति विषयक आधुनिक दर्शन में है बशर्ते यह दर्शन ईश्वर की कल्पना को अपनी विचारपद्धति का मूलसिद्धान्त मानता हो। इस रिपब्लिक' में प्लेटो ईश्वर नहीं विधा कहता है। उसने विधा या सिद्धान्त को वही आसन तथा कार्यभार प्रदान किया है जो ईश्वर को भी लागू हो सकता है परन्तु फिर भी वह बराबर सिद्धान्त अथवा विधा कहकर ही उसे सम्बोधित करता है। इस अन्तर को छोड़कर प्लेटो की कल्पना को ग्रहण करने का सुगमतम उपाय यही है कि उसकी तुलना स्वो प्रकृति की कतिपय धारणाओं से कर ली जाय जसे जगदप्रभा या वस्तुप्रभा की कल्पना से उसका मिलान किया जा सकता है।

अब हम श्रेयस' की कल्पना का रिपब्लिक में परिचय देनेवाले परिच्छेद को संक्षेप में दोहराना चाहते हैं। पहले तो श्रेयस या सत के आरम्भिक और जाने माने अभिप्रायों की चर्चा होती है। साधारणत यह माना जाता है कि श्रेयस या सत का और जो भी आशय हो उसी के कारण समस्त वस्तुओं की प्रतिष्ठा है। वह ऐसी कोई चीज नहीं समझी जानी चाहिये जिसे सम्पत्ति स्वास्थ्य एवं अन्य पदार्थों में जोड़ा या घटाया जा सकता है। प्रत्येक वस्तु में निहित वह ऐसा तत्त्व है जो उसे वस्तुता देता है। सभी मनुष्य दार्शनिक और अन्य विचारक समान

भाव स हम स्वीकार करत हैं। प्लेटो दा प्रचलित मन्तव्या का उल्लख करता है जिनके अनुसार ससार म सुग्राह्य का पता चलता है। कुछ लोग विषयभोग का श्रयस मानत हैं क्योंकि उनकी धारणा है कि हम सुख का अनुभव करना चाहते हैं आनन्द पाना चाहते हैं। दूसर कुछ लाग बुद्धि या प्रज्ञा को श्रेयस मानत हैं क्योंकि व वस्तुजगत के आन्तरिक बाध म आनन्द मानत हैं। इन दोना मत-वादों का इस परिच्छेद म सक्षिप्त वर्णन किया गया है यद्यपि फिलबियस म चर्चा का विषय यही है। प्लेटो इन दोना दृष्टिबिन्दुओ की त्रुटियो का परिचय मात्र देता है। जो लोग विषयभोग को जीवनोद्देश्य मानते हैं उन्हे विवश होकर शुभाशुभ या पापपुण्य का भेद करना पड़ता है और इस भेददृष्टि के आने ही आनन्द के अतिरिक्त हम अनुभूति के दूसरे मानदण्ड मानना पडत हैं। इसलिए जो लोग बोध को ही यथार्थ श्रेयस या सत् समझते हैं उन्हे श्रेयस की परिभाषा मे उसी कल्पना का समावेश करना पडता है जिस वे परिभाषित करने की धुन म हैं। जब व पूछते हैं किसका बोध ? तो उत्तर म श्रयस का बोध ही कहना पडता है। इस तरह दोनो मतानुयायी असगति म फँसे हुए हैं। किन्तु इस असामजस्य के भीतर भी एक बात निश्चित है कि जनमानस सचमुच कुछ जानना चाहता है और जब व श्रेयस की बात करते है तब उनके अभिप्राय म कोई यथार्थ वस्तु रहती है। बहुतेरे नैतिकता के बहिरग मात्र से सन्तोष ग्रहण करने को तैयार हैं उन्हे इसी म कुछ महत्त्व स्थायी दीखता है। लेकिन वास्तव म अनेक व्यक्ति नैतिकता के बाह्यावरण को श्रेयस या सत् के बदले ग्रहण करने को राजी न होंगे क्योंकि व यथार्थत अपना श्रेयस चाहते हैं। किन्तु यही चीज है जिसके विषय म व अँधेरे म हैं। प्रत्येक आत्मा इस अनुमान म रहती है कि श्रेयस सरीखी कोई वस्तु है—जिस वस्तु की तुलना म अन्य कुछ भी प्राप्तव्य नहीं बचता। तथापि प्रत्येक आत्मा यह ठीक नहीं जानती कि वह है क्या और उसके विषय म उसे निश्चित अथवा स्थायी विश्वास नहीं होता। इसी अनिश्चय के कारण हम वस्तु-जगत् के अन्तर्निहित सत् या श्रेयस की परख म चूक जाते हैं। जब हम यथार्थ अथवा चरम सत् स अबोध रहते हैं तब साधारण शुभ वस्तुओ की धारणाओ पर भी इस अज्ञानता की प्रतिक्रिया होती है तथा हमारे ध्येय धुंधले हो जाते हैं। अतएव यह सुनिश्चित है कि जो लोग हमारे शासक बनेंगे उन्हें इस चरम श्रेयस के विषय मे रत्तीभर अज्ञान नहीं होना चाहिये।

विभिन्न मतवाद और मान्य विश्वासो के प्रारम्भिक परिचय के बाद सुकरात से अनुरोध किया गया है कि वह स्वय इस विषय म क्या विचार करता है

क्योंकि वही एक ऐसा महामनीषी है जिसने श्रेयस की प्रकृति के अनुसंधान में जीवन खपा दिया। उत्तर में वह कहता है कि अकस्मात समूचे मनोभाव को व्यक्त कर देना मेरी शक्ति के परे है। तत्काल इतना ही सम्भव है कि अनुरूपता के सहारे ही मैं श्रेयस सम्बन्धी अपनी कल्पना को स्पष्ट कर दूं। मैं श्रेयस को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता परन्तु मैं श्रेयस की सन्तति समक्ष कर सकता हूं। तदनन्तर जो वक्तव्य आता है वह प्लेटो की गम्भीर मान्यता का द्योतक है। यह संसार को किसी बोधगम्य तथा अतीन्द्रिय व्यवस्था का मूतरूप, उसकी प्रतिच्छबि या उसका सादृश्य मानना है जैसा साधारण मानवबुद्धि को भी भान होता है। इसके बाद सूर्य के विषय में परिच्छेद आरम्भ होना है जो केवल दृष्टान्तसूचक उपमा मात्र नहीं है अपितु प्लेटो के विचार में इन्द्रियगम्य संसार और इसी के द्वारा अभिव्यक्त अतीन्द्रिय सिद्धान्तों की घटनाओं का साधर्म्य है। इस तुलना में बोधग्राह्य संसार सत् या श्रेयस है जो सूर्य के समान भासमान है। प्लेटो सूर्य और सत् की उपमा का विस्तार करने के लिए प्रकाश और दृष्टि के मतवाद का आश्रय लेता है जो मिथ्या था। फिर भी सत् या श्रेयस की कल्पना के विषय में जो कुछ वह कहना चाहता है उसमें इस भूल से कोई त्रुटि नहीं आती। संक्षेप में उसका कथन यह है प्रथमतः सत् या श्रेयस मस्तिष्क में प्रज्ञा का तथा वस्तु की बोधगम्यता का मूलस्रोत है जैसे सूर्य नेत्र की दृष्टि और वस्तु की दृश्यता का स्रोत है। सत् या श्रेयस का प्रतिबिम्ब अथवा प्रतिच्छाया सत्य है। सत् जितनी प्रबलता अथवा दुबलता से प्रतिबिम्बित होगा उसी अनुपात में संसार बोधगम्य और आत्मा प्रज्ञावान् होगी। जिस प्रकार प्रकाश के अभाव में भी रंग और दृष्टि का अस्तित्व रहता है उसी तरह हम वस्तु और चित्त को स्वयंभूत बोधगम्य तथा प्रज्ञावान् मान सकते हैं। किन्तु प्रज्ञा और सत्य की यथार्थ सत्ता तब तक सम्भव नहीं है जब तक सत् या श्रेयस चित्त तथा जगत को ज्योतिर्मय न कर दे। द्वितीयतः जिस प्रकार सूर्य केवल प्रकाश और दृष्टि का ही नहीं प्रत्युत वास्तविक जगत के प्रजनन तथा वृद्धि का भी स्रोत है उसी प्रकार सत् या श्रेयस केवल सत्य तथा ज्ञान का ही नहीं अपितु जीवन और जगत के अस्तित्व का मूलस्रोत है।

इस प्रकार यह परिच्छेद सत् या श्रेयस को संसार में उचित आसन पर विराजमान करता है। जिस प्रकार विश्व इन्द्रियों के लिए सत् की प्रतिच्छबि और उपज है उसी तरह प्रज्ञा के लिए भी वह सत् का प्रतिबिम्ब और उससे सम्भूत वस्तु है। अतएव कहना होगा कि समग्र विश्व सत् का प्रतिबिम्ब है चाहे उसे हम इन्द्रियग्राह्य कहें अथवा प्रज्ञासुलभ चाहे वह मत हो या अथवा गहनगूढ़। □□

प्रज्ञा की चार अवस्थाएँ

मोटे तौर पर ज्ञान में सत् के स्थान और कार्य का वर्णन करने के पश्चात् प्लेटो विकास की अवस्थाओं के परस्पर भेद का विशद विवरण देता है। मानव चित्त इन अवस्थाओं में से निकलकर अज्ञान से ज्ञान में प्रवेश करता या कर सकता है। अन्धकारपूर्ण और अबोध्य स्थूल जगत् के इस छोर से प्रचण्ड ज्योति स्थान केन्द्र तक चित्त अग्रसर हो सकता है। वह मानसिक दशाओं की उत्कर्ष शील गति और विचार वस्तु के तदनुरूप अनुक्रम को सहज प्रतीक द्वारा स्पष्ट करता है। एक लम्बमान सरल रेखा की कल्पना कीजिए और उसे चार भागों में विभाजित कर दीजिए। मान लीजिए इस रेखा का आरम्भिक छोर अशेष अन्धकार में निकलता है और दूसरा छोर अखण्ड प्रकाश में प्रवेश करता है। खण्डों में विभाजित रहने पर भी यह रेखा सतत या अटूट है। इस प्रतीक का चयन करके प्लेटो सतत् प्रक्रिया अथवा सातत्य को व्यक्त करना चाहता होगा। कुछ भी हो यह स्मरणीय है कि दृश्यमान और बोधगम्य संसार अकस्मात् खण्डित नहीं होता और रेखा के दो प्रमुख खण्ड संसार के इन दो तथाकथित भागों के समान हैं।

इस रेखा के चार खण्ड परम तेजस्विता के सार का आभास देते हैं। इस ढंग से उन अवस्थाओं को समझाने का प्रयत्न किया गया है जिनमें प्रवेश किये बिना मानवचित्त विश्व का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। यह उन विभिन्न और क्रमानुगत रूपों को प्रस्तुत करने का प्रयास है जिन्हें नाना मुख मानवचित्त के समक्ष यह जगत् प्रकट करता है। जब हम यह कहते हैं कि मस्तिष्क की विचारगत वस्तुएँ विभिन्न अवस्थाओं में हैं तो हम यह न समझ बैठें कि वास्तविक पदार्थों की चार पृथक्-पृथक् श्रेणियाँ हुआ करती हैं वास्तव में संसार के

प्रति चार विभिन्न दृष्टिकोण अथवा पदार्थ के चार विभिन्न स्वरूप अभिप्रेत हैं। हम जिसे एक पदार्थ समझते हैं वही भिन्न भिन्न व्यक्तियों की दृष्टि में बिलकुल अलग अलग स्वरूपों में ग्रहण किया जाता है। उदाहरणार्थ विज्ञानविद् वनस्पतिशास्त्री और वनस्पतिशास्त्र के ज्ञान से विहीन मनुष्य एक ही पुष्प को सम्पूर्ण दृष्टि से देखते हैं परन्तु दोनों एक दूसरे से सर्वथा भिन्न ढंग से उस पुष्प का ज्ञान प्राप्त करते हैं। वनस्पतिशास्त्री उस पुष्प को वनस्पतिशास्त्र के सिद्धान्तों की प्रतिच्छवि मानता है। वस्तुओं के इन दृष्टिकोणों में जो अन्तर है उसे प्लेटो दृढ़तापूर्वक लगातार व्यक्त करने में नहीं थकता सतहीपन और गहनता में तथा धूमिलता एवं ज्योति में मात्रा का भेद है। आशय यह है कि ज्ञान की प्रगति को हम सर्वथा सतही तरक्की से वस्तुजगत् के नितान्त समभेदी दृष्टिकोण तक की उन्नति मान सकते हैं। इसीलिए प्लेटो प्रत्येक उत्कर्षगामी और प्रत्येक निम्नगामी अवस्था के सम्बन्ध को परछाई तथा स्वयं वस्तु के बीच का सम्बन्ध बतलाता है। ज्ञान विषयक प्रतिपादन में यही रूपक बहुत अधिक भाग में प्रयुक्त हुआ है। इसका मतलब यह है कि निम्नावस्था में मस्तिष्क जितना ग्रहण करता है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक वह उच्चगामी अवस्था में ग्रहणशील हुआ करता है। यद्यपि ठोस पदार्थ अपने प्रतिबिम्ब या परछाई से कहीं अधिक इन्द्रियग्राह्य रूप रखता है। विज्ञान की दृष्टि इन ठोस पदार्थों को चरम सत्य नहीं समझती जबकि हम उन्हें संसार की वास्तविक वस्तुएं कहते हैं। विज्ञान कहता है कि वस्तुमात्र सत्त्व सिद्धान्त का मूर्तरूप हैं जिनका ज्ञान ही स्पृहणीय है कोई विशेष पौधा या पशु नहीं बल्कि स्थायी और समतत्त्व सम्पूर्ण चराचर में भासमान है और यही ज्ञान का लक्ष्य है। ऐसा लगता है कि विज्ञान इस पार्थिव संसार को भुला रहा है और वस्तुमात्र के साधारण दृश्यरूप से जो कुछ हमें विदित होता है उससे अपेक्षाकृत अधिक जानकारी देता है।

जो मानवचित्त अपनी बोधशक्ति का परिपूर्ण विकास करते हैं उन्हें न्यूनाधिक मात्रा में इन विभिन्न अवस्थाओं को पार करना पड़ता है। अत्यधिक मेधावी अथवा अल्पतम गुणी चराचर को प्रतिबिम्ब के समान स्वीकार करके विकास पथ पर चलना शुरू करते हैं। अलग अलग दूरी तक विभिन्न अवस्थाओं में भिन्न भिन्न चित्त अग्रसर होते हैं और एक ही चित्त विभिन्न अवस्थाओं की ओर बढ़ता है परन्तु उसके भिन्न भिन्न भाग समान मात्रा में अग्रसर नहीं होते। मानसिक विकास की इस विधि को पहचान लेने के बाद प्लेटो अपने शिक्षादर्श को व्यक्त करता है। इस शिक्षा में भिन्न भिन्न मस्तिष्क की अवस्थानुसार चिन्तन के उचित

ध्येय का समावेश होना चाहिये और उनकी योग्यता के अनुकूल उन्हें धीरे धीरे और सरल ढंग से वस्तुमात्र के नितान्त यथार्थरूप से अवगत कराना चाहिये। यदि शिक्षा में इस प्रयोजन का अभाव है तो वे मस्तिष्क निम्नावस्था में ही पड़े रहेंगे जिन्हें इससे बहुत आगे बढ़ जाना चाहिए था और तब वे सत्य के अपेक्षाकृत उथले या सतही रूप को सम्पूर्ण सत्य मानकर इसी भ्रम में फँसे रहेंगे।

मानसिक विकास की चार अवस्थाओं को (नीचे से ऊपर की ओर) अनुमान, निश्चयात्मक भावना, प्रज्ञा तथा आदर्श के नाम दिये गये हैं। पहली दो अवस्थाएँ इन्द्रियगम्य और दूसरी दो बोधगम्य श्रेणी में इसके पूर्व उल्लिखित की जा चुकी हैं।

१. जगत् के नितान्त सतही अवलोकन को प्लेटो द्वारा अनुमान की संज्ञा दी गयी है जो अल्पतम ज्ञान का साधन हुआ करता है। ग्रीक भाषा के जिस शब्द का पर्यायवाची अनुमान है, उसके दो अर्थ हैं। उसका नियमित अर्थ अध्याहार या अटकल है। जिस व्युत्पत्तिसम्मत अर्थ में प्लेटो ने इसका उपयोग किया है उसका आशय रूपज्ञान है। वह ऐसी मानसिक दशा है जिसमें वस्तुओं का केवल प्रतिभाव मात्र आविर्भूत होता है। इन दोनों अर्थों में एक सम्बन्ध बना हुआ है। अनुमान से हमारा अभिप्राय अनिश्चित विश्वास होता है जो वस्तु के बहिरंग अथवा उसकी सतही आकृति का विचार करने से उत्पन्न होता है। प्लेटो इन दोनों अर्थों का उपयोग करता है ताकि मानसिक ग्रहण के अनुरूप वस्तु का निश्चित लक्षण अथवा गुण और द्रष्टा का विशेष मनोभाव अभिव्यक्त हो सके। मानसिक स्थिति में बहुत कम स्थैर्य होता है। उसकी पकड़ में आये हुए पदार्थ प्रतिमूर्ति, परछाईं अथवा परावर्तित रूप हुआ करते हैं।

प्रश्न यह है कि वस्तुओं की इस निम्नतम श्रेणी को वह परछाईं या परावर्तित रूप क्या समझता है? परछाईं प्रतिबिम्ब तथा स्वप्न अयथार्थता के बहुत जाने माने प्रकार हैं। इनके और वास्तविकता के बीच का वैषम्य नये नये विचारकों का ध्यान एकदम खींचता है और यही हाल उन लोगों का है जो इस प्रकार के नवीन जिज्ञासु हैं। वस्तु और उसकी परछाईं में क्या भिन्नता है? परछाईं वस्तु की रूपरेखा में मेल खाती है परन्तु यह भी बहुत अस्पष्ट और अनिश्चित होती है। यद्यपि वस्तु उसका ठोसपन उसका गठन उसका रंग— सब का परछाईं में लोप हो जाता है। वस्तु में उसका परावर्तित रूप किस बात

प्रति चार विभिन्न दृष्टिकोण अथवा पदार्थ के चार विभिन्न स्वरूप अभिप्रेत हैं। हम जिसे एक पदार्थ समझते हैं वही भिन्न भिन्न व्यक्तियों की दृष्टि में बिलकुल अलग अलग स्वरूपों में ग्रहण किया जाता है। उदाहरणार्थ विज्ञानविद वनस्पतिशास्त्री और वनस्पतिशास्त्र के ज्ञान से विहीन मनुष्य एक ही पुष्प को सम्पूर्ण दृष्टि से देखते हैं परन्तु दोनों एक दूसरे से सर्वथा भिन्न ढंग में उस पुष्प का ज्ञान प्राप्त करते हैं। वनस्पतिशास्त्री उस पुष्प को वनस्पतिशास्त्र के सिद्धान्तों की प्रतिच्छवि मानता है। वस्तुओं के इन दृष्टिकोणों में जो अन्तर है उसे प्लेटो दृढतापूर्वक लगातार व्यक्त करने में नहीं चूकता मनहीपन और गहनता में तथा धूमिलता एवं ज्योति में मात्रा का भेद है। आशय यह है कि ज्ञान की प्रगति को हम सर्वथा सतही तरक्की से वस्तुजगत् के नितान्त मर्मभेदी दृष्टिकोण तक की उन्नति मान सकते हैं। इसीलिए प्लेटो प्रत्येक उत्कर्षगामी और प्रत्येक निम्नगामी अवस्था के सम्बन्ध को परछाई तथा स्वयं वस्तु के बीच का सम्बन्ध बतलाता है। ज्ञान विषयक प्रतिपादन में यही रूपक बहुत अधिक भाग में प्रयुक्त हुआ है। इसका मतलब यह है कि निम्नावस्था में मस्तिष्क जितना ग्रहण करता है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक वह उर्ध्वगामी अवस्था में ग्रहणशील हुआ करता है। यथार्थ ठोस पदार्थ अपने प्रतिबिम्ब या परछाई से कहीं अधिक इन्द्रियग्राह्य रूप रखता है। विज्ञान की दृष्टि इन ठोस पदार्थों को चरम सत्य नहीं समझती जबकि हम उन्हें संसार की वास्तविक वस्तुएं कहते हैं। विज्ञान कहता है कि वस्तुमात्र सत्त्व सिद्धान्त का मूर्तरूप हैं जिनका ज्ञान ही स्पृहणीय है कोई विशेष पौधा या पशु नहीं बल्कि स्थायी और समतत्त्व सम्पूर्ण चराचर में भासमान है और यही *ज्ञान का लक्ष्य है। ऐसा लगता है कि विज्ञान इस पार्थिव संसार को* भुला रहा है और वस्तुमात्र के साधारण दृश्यरूप से जो कुछ हम विदित होता है, उससे अपेक्षाकृत अधिक जानकारी देता है।

जो मानवचित्त अपनी बोधशक्ति का परिपूर्ण विकास करते हैं उन्हें न्यूनाधिक मात्रा में इन विभिन्न अवस्थाओं को पार करना पड़ता है। अत्यधिक मेधावी अथवा अल्पतम गुणी चराचर को प्रतिबिम्ब के समान स्वीकार करके विकास पथ पर चलना शुरू करते हैं। अलग-अलग दूरी तक विभिन्न अवस्थाओं में भिन्न भिन्न चित्त अग्रसर होते हैं और एक ही चित्त विभिन्न अवस्थाओं की ओर बढ़ता है परन्तु उसके भिन्न भिन्न भाग समान मात्रा में अग्रसर नहीं होते। मानसिक विकास की इस विधि को पहचान लेने के बाद प्लेटो अपने शिक्षादर्श को व्यक्त करता है। इस शिक्षा में भिन्न भिन्न मस्तिष्क की अवस्थानुसार चिन्तन के उचित

ध्येय का समावेश होना चाहिये और उनकी योग्यता के अनुकूल उन्हें धीरे धीरे और सरल ढंग से वस्तुमात्र के नितान्त यथार्थरूप से अवगत कराना चाहिये। यदि शिक्षा में इस प्रयोजन का अभाव है तो वे मस्तिष्क निम्नावस्था में ही पड़े रहेंगे जिन्हें इससे बहुत आगे बढ़ जाना चाहिये था और तब वे सत्य के अपसाकृत उथले या सतही रूप को सम्पूर्ण सत्य मानकर इसी भ्रम में फँसे रहेंगे।

मानसिक विकास की चार अवस्थाओं को (नीचे से ऊपर की ओर) अनुमान निश्चयात्मक भावना, प्रज्ञा तथा आत्मज्ञान के नाम दिये गये हैं। पहली दो अवस्थाएँ इन्द्रियगम्य और दूसरी दो बोधगम्य श्रेणी में इसके पूर्व उल्लिखित की जा चुकी हैं।

१ जगत के नितान्त सतही अवलोकन को प्लेटो द्वारा अनुमान की संज्ञा दी गयी है जो अल्पतम ज्ञान का साधन हुआ करता है। ग्रीक भाषा के जिस शब्द का पर्यायवाची 'अनुमान' है, उसके दो अर्थ हैं उसका नियमित अर्थ अध्याहार या अटकल है जिस व्युत्पत्तिसम्मत अर्थ में प्लेटो ने इसका उपयोग किया है उसका आशय रूपज्ञान है। वह ऐसी मानसिक दशा है जिसमें वस्तुओं का केवल मूर्तिभाव मात्र आविर्भूत होता है। इन दोनों अर्थों में एक सम्बन्ध बना हुआ है। अनुमान से हमारा अभिप्राय अनिश्चित विश्वास होता है जो वस्तु के बहिरंग अथवा उसकी सतही आकृति का विचार करने से उत्पन्न होता है। प्लेटो इन दोनों अर्थों का उपयोग करता है ताकि मानसिक ग्रहण के अनुरूप वस्तु का निश्चित लक्षण अथवा गुण और दृश्य का विशेष मनोभाव अभिव्यक्त हो सके। मानसिक स्थिति में वस्तु कम स्पष्ट होता है उसकी पकड़ में आये हुए प्रायः प्रतिमूर्ति, परछाईं अथवा परावर्तित रूप हुआ करते हैं।

प्रश्न यह है कि वस्तुओं की इस निम्नतम श्रेणी को वह परछाईं या परावर्तित रूप क्या समझता है ? परछाईं प्रतिबिम्ब तथा स्वप्न अयथार्थता के बहुत जाने माने प्रकार हैं। इनके और वास्तविकता के बीच का वैषम्य नये नये विचारकों का ध्यान तत्क्षण खींचता है और यही हाल उन लोगों का है जो इस प्रकार के नवीन जिज्ञासु हैं। वस्तु और उसकी परछाईं में क्या भिन्नता है ? परछाईं वस्तु की रूपरेखा में मेल खाती है परन्तु यह भी बहुत अस्पष्ट और अनिश्चित होती है। यथार्थ वस्तु उसका ठोसपन, उसका गठन उसका रंग— सब का परछाईं में लोप हो जाता है। वस्तु से उसका परावर्तित रूप किस बात

म भिन्न है ? परछाइ की ओर परावर्तित रूप यथार्थ वस्तु को अधिक निश्चित आकार म व्यक्त करता है। उसकी रूपरेखा बहुत कुछ निर्धारित और शुद्ध होती है उसका रग भी बहुत कुछ बना रहता है पर तु परावर्तित रूप के केवल दो आयाम होते हैं। अनुमान एक मनोदशा है जिसम एक पदार्थ का सम्बन्ध दूसरे स उसी प्रकार फलित होता है जैसा यथार्थ वस्तु स उसकी परछाइ या परावर्तित रूप।

इस दृष्टि के समक्ष एक प्रशस्त क्षेत्र तुरन्त प्रकट हो जाता है परन्तु कौन-सी विशेष मनोदशाएँ प्लेटो के ध्यान म थी ? उसके भावार्थ का उदाहरण हम गुहा रूपक म मिलता है जिसके बन्दी प्रतिमूर्तियो की परछाइयाँ मात्र देख सकते हैं। इस रूपक की भाषा म कदाचित एथेन्स के कानून म न्याय की कल्पना का साकार देखना प्रतिमूर्ति का दृष्टान्त है परन्तु प्लेटो के अनुसार यह भी बहुत अपूर्ण साकारता होगी। यदि किसी विधि विशेषज्ञ को अवसर मिले तो एथेन्स के कानून की वास्तविकता स एक डग इधर उधर होना सचमुच उस कानून की अशुद्ध व्याख्या करना हो जायगा क्योंकि वास्तविकता से डिगना परछाइ को सच मानना होगा। अगर कोई व्यक्ति इस अशुद्ध व्याख्या म विश्वास करके उसे ही यथार्थ न्याय मान ले तो उसकी मनोदशा को अनुमान कहा जा सकता है। उस न्याय का बोध दोहरे विद्रूपात्मक माध्यम स उपलब्ध होगा, पहले तो एथेन्स के कानून की शकल म और दूसरे प्रवक्ता के शब्दों स।

दशम अध्याय स दूसरा उदाहरण लेकर इस ओर समझ लिया जाय जहाँ प्लेटो अनुकृतिकलाओं पर आक्षेप करने के उद्देश्य से इस विचार को विस्तृत रूप देता है। इन कलाओं और चित्रकला के प्रभाव का कारण यह है कि कलाकार यथार्थ वस्तु को प्रत्यक्ष प्रस्तुत नहीं करता, उसकी अनुकृति अथवा उसका दूरस्थ आभास चित्रित करता है। वह यथार्थवस्तु की जगह यथाभास का चित्रकार है। उसका मिलान उस मनुष्य से किया जा सकता है जो दर्पण म वस्तुछाया को दिखाता है। यदि कोई व्यक्ति चित्र की रंगिमा और दृश्यभूमिका स प्रभावित होकर उसे यथार्थवस्तु मान ले तो कहना होगा कि वह अनुमान की मनोदशा म है। जिस घडी मनुष्य जान ले कि परछाइ सिर्फ परछाइ है चित्र केवल चित्र है उसी क्षण वह उस वस्तु विशेष के सन्दर्भ म अनुमान की मनोदशा स निवृत्त हो जाता है। कलाएँ इस सरल ढंग की भ्रान्ति का सृजन नहीं करतीं परन्तु दशम अध्याय म प्लेटो सिर्फ इसी कारण उन पर कठोर आक्षेप करता है कि उसके मतानुसार कलाएँ नित्यश एक भिन्न प्रकार के भ्रान्तिमूलक विचारों का जन्म देन

उत्तेजित करने के लिए प्रयुक्त की जाती है। चित्रकला को वह अनुकरणात्मक कलाओं का सुगम उदाहरण समझता है और इसमें उसी सिद्धान्त का प्रयोग करता है जो उसने शब्दों को समझाने के लिए अपनाया था। वह काव्य तथा अत्युक्तिपूर्ण भाषण को इस प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाले मौन मानता है। कवि हम अपनी अनुभूति की प्रतिच्छवि देता है किन्तु उसकी कविता पढ़ने के बाद हमारा यह ख्याल हो जाय कि हम उस वस्तु के सम्बन्ध में सब कुछ जान गये तो हम उसी प्रकार भ्रम में रहेंगे जैसा चित्र को यथार्थ वस्तु मान लेना होगा। इसलिए जब प्लेटो प्रतिमूर्ति की बात उठाता है तब वह चित्रों या प्रतिमाओं के विषय में नहीं सोचता बल्कि शब्दजनित प्रतिच्छवि उसके ध्यान में है। शब्दों के प्रभाव के प्रति प्लेटो की आशुक्षुब्धता उसका विशेष लक्षण है। ऐसा जान पड़ता है कि वेतनभोगी दुष्ट तर्कवादियों द्वारा चतुराई में शब्दों का दुरुपयोग करने की सम्भावना से वह काफी परेशान रहता था मानो शब्दशक्ति पर अपने प्रभुत्व की चेतना से उसे प्रतीत होता रहता था कि शब्दों का कुटिल प्रयोग कितना अनिष्टकर हो सकता है। उसका विश्वास है कि मनुष्य के मस्तिष्क और तथ्यों के परस्पर संयोग की दृष्टि से भाषा में ही प्रतिमूर्ति प्रस्तुत करने की शक्ति है। अत्युक्तिपूर्ण वाग्मिता में कविता की अपेक्षा यह क्षमता बहुत अधिक है—इन दोनों का संयोग उसके मन पर छाया हुआ था और दोनों कलाओं की शक्ति भाषा के प्रयोग पर निर्भर है और ग्रीक जाति की दृष्टि में भाषा के समान प्रभावोत्पादक अन्य कोई वस्तु नहीं थी।

किन्तु यह सोचना गलत होगा कि प्लेटो भाषा की शक्ति को अशुभ और शुभ की क्षमता से हीन मानता था। तीसरे अध्याय में हम प्रतिमूर्ति के रूपक को हितकारी अर्थ में प्रयुक्त देखते हैं और हम विस्मित होते हैं कि कला का एक कार्य आत्मसंयम, धैर्य, उदारता आदि की प्रतिमूर्तियों को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करना है जिससे मस्तिष्क इन सद्गुणों को स्वीकार करना सीख जाय। प्लेटो कहता है कि जो विद्वान अपनी शब्दशक्ति से परिचित हैं उसमें इनके प्रतिबिम्ब दर्पण या जल में पहचान लेने की योग्यता होना चाहिये। समर्थ कलाकार सद्गुणों की प्रतिच्छाया और सौन्दर्य की आकृति देख सकता है। इस परिच्छेद में सौन्दर्यबोध की कल्पना अनुमानशक्ति की शिक्षा के रूप में की गयी है। कला में अकित यथार्थता के प्रतिरूपों का अभिप्राय समझने की शिक्षा आत्मा को इसी से मिलती है। इसका मूल तथ्य यही है कि प्रतिमूर्तियों का आत्मा के जिस पक्ष पर प्रभाव पड़ता है उसका समुचित विकास हो। यह ऐसी मनोदशा है जिसे हम

शिशुओं में और अविकसित जातियों में प्रधानतया पाते हैं और कतिपय व्यक्तियों में जीवनभर देखते हैं। इसके विपरीत दशम अध्याय में वह अनुकरणात्मक कला का दोषपक्ष और उसके स्रष्टा को उजागर करता है। उसके वक्तव्य का मुख्य प्रयोजन यह है कि कलाकार हम वस्तुमात्र का केवल बाह्यरूप ही दिखला पाता है। कला विषयक उसकी सामान्य धारणा इस प्रकार व्यक्त की जा सकती है : कला का उचित कार्य मूलतः महान् और सौन्दर्यमयी वस्तु या भावना की प्रतिमूर्तियाँ आत्मा के सम्मुख प्रस्तुत करना है। इस प्रक्रिया से आत्मा वास्तविक जीवन में जो कुछ महान् और सौन्दर्यमय है उसे पहचानने में समर्थ होती है। जब कला की प्रेरणा से जनसमूह दृश्यवस्तु को उससे अधिक यथार्थ अदृश्यतत्त्व का स्थान देने लगता है तब कला कर्तव्यच्युत हो जाती है।

प्रायः सभी लोग बहुतेरी वस्तुओं के विषय में अनुमान दशा में रहा करते हैं। जब प्लेटो परछाइयों और परावर्तित रूपों को यथार्थवस्तु मान लेने की भाँति का उल्लेख करता है, तब हम उसके विचारों की एक सामान्य कल्पना करना जरूरी है। समाज में अनेक प्रकार की धारणाएँ घूमती रहती हैं। लोग उन्हें जाने अनजाने अपनी धारणा बना लेते हैं और जिसे हम ज्ञान कहते हैं उसके स्वरूप में इन धारणाओं का बहुत बड़ा भाग शामिल रहता है। लेकिन जब हम इन धारणाओं को परखते हैं तब हम पाते हैं कि वे तथ्य के विकृत तथा अपूर्ण प्रतिमान हैं जो दूसरे व्यक्तियों के मस्तिष्क से और हमारी मिथ्या कल्पनाओं तथा दुराग्रहों से छनछन कर हमारे पास पहुँच गयी हैं।

ग्रीक भाषा के जिस शब्द को अनुमान कहा गया है उसका शाब्दिक अनुवाद कल्पना है। परन्तु एक शब्द को दूसरे शब्द से अनुवाद कर देना ठीक नहीं है। ग्रीक शब्द कल्पना के सतही अर्थ का द्योतक है और उसके गहन अर्थ को व्यक्त नहीं करता। अंग्रेजी भाषा में कल्पना के दो पक्ष हैं। एक अर्थ प्लेटो के प्रतिबिम्बसूचक आशय को प्रकट करता है। जब हम कहते हैं कि कोई बात कोरी कल्पना है अथवा मनुष्य अपनी कल्पना का दास है तब हमारा अभिप्राय अत्यन्त सतही कारणों का वर्णन करता है परन्तु जब हम कहें कि कोई कवि बड़ा कल्पनाशील पुरुष है तब हम उक्त अभिप्राय के बिलकुल विपरीत आशय को प्रकट करते हैं। हम कहना चाहते हैं कि वस्तुजगत के दर्शन से कवि के चित्त में गहन सत्य के विविध रूप अवतरित होते हैं जो सामान्य व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। महान् कवि भी विषयवस्तु को सचमुच इन्द्रियग्राह्य रूप में ही देखता है परन्तु वह इन्द्रियों से प्राप्त सूचना को गहरी दृष्टि से परखता है और कल्पना के आशय

से सत्य की उपलब्धि करता है, जिस सत्य को चिन्तन के द्वारा दूसरे मनुष्य ग्रहण करते हैं। प्लेटो कल्पनात्मक बोध के दुरुपयोग की सम्भावना से इतना अधिक चिन्तित है जितना उसके यथासम्भव सदुपयोग से नहीं। उस कल्पना और चिन्तन के संयोग का कितना सराहनीय फल होता है इसका स्थायी प्रमाण स्वयं प्लेटो है। यह भी सन्देह से परे है कि हम लोग अन्ततः एक कृत्रिम संसार में रहना पसन्द करते हैं और प्रतिबिम्ब को ही यथार्थता मानते रहते हैं, प्रतिबिम्ब को देखकर उसके सहारे यथार्थवस्तु को जानने का प्रयत्न बहुत ही विरल होता है।

गुहारूपक में प्लेटो ने बहुत बड़े जनसमुदाय की मानसिक दशा की कल्पना का प्रयत्न किया है। उनके चित्त का एक बड़ा भाग परछाइयों से ही घिरा रहता है और इनका ऐसा असर उन पर पड़ता है कि वे केवल इन परछाइयों को यथार्थ वस्तु मानते रहते हैं। भ्रान्ति इसी दृष्टिकोण में है क्योंकि जब मनुष्य परछाईं को परछाईं समझने लगे तो भ्रान्ति भंग हो जाती है। ऐसे लोगों के मन असमंजस में फँसे रहते हैं। इस रूपक में उन बँदियों को ही अत्यधिक सम्मानित तथा पुरस्कृत किया गया है जो परछाइयों के गुजरने का अनुक्रम याद रखना सीख लेते हैं क्योंकि यही लोग यह भविष्यवाणी करने में सबसे समर्थ होते हैं कि आगे कौन सी परछाईं आनेवाली है। इससे यह स्पष्ट किया गया है कि इन लोगों की निर्णयात्मिका बुद्धि कितनी अनुमानबद्ध अथवा अनिश्चित है। जिस अनुपात में हमारा ज्ञान यथार्थवस्तु के प्रत्यक्ष अनुभव से विहीन होगा, वस्तुजगत् के सीधे सम्पर्क का जितना अभाव होगा, उसी मात्रा में हमारे विश्वास अशुद्ध या अनिश्चित होंगे।

(२) अनुमान के पश्चात् की अवस्था को निश्चय भावना का नाम इसलिए दिया गया है क्योंकि इस दशा में अनुमान के विपरीत बहुत कुछ निश्चय या विश्वास रहता है। जब लोग वस्तुजगत् के व्यक्तिगत सम्पर्क में आते हैं तो उन्हें उन चीजों के विषय में अधिक निश्चयात्मक ज्ञान होता है जैसा दूसरों से उन वस्तुओं के सम्बन्ध में मिले ज्ञान से नहीं हो सकता। इसलिए निश्चय भावना वह मनोदशा है जिसमें हम जीवन की वस्तुओं का यथार्थ स्थूल ज्ञान प्राप्त करते हैं यद्यपि यह ज्ञान भी एकमात्र यथार्थता नहीं है, तथापि हमें उनके विषय में बहुत अधिक निश्चय या विश्वास प्राप्त होता है।

यह स्मरणीय है कि अनुमान और निश्चय भावना दोनों ही सम्मति के अनुविभाग हैं। इसलिए सम्मति के सम्बन्ध में प्रकट किया गया विचार इनको भी लागू है। सम्मति मनोदशा में सत्य तथा यथार्थता दोनों अनेक पृथक्-पृथक् और

ऊपरी तौर पर स्वतन्त्र पदार्थों के रूप म रहते हैं प्रत्येक पदार्थ का निजी लक्षण तथा आसार हुआ करता है चाहे वे पदार्थ यथावत हो या परावर्तित उदाहरणार्थ न्याय विषयक ज्ञान चाहे पुस्तकों से प्राप्त हो परस्पर चर्चा से हो अथवा निजी अनुभव से उपलब्ध हो प्रत्येक स्थिति म यह सत्य है कि जब तक सम्मति की दशा म हैं तब तक ' न्याय क्या है के उत्तर म हम खास कानून, अधिनियम अथवा संस्थाओं की ओर संकेत किया करते हैं। फिर भी जब हम उधार ज्ञान कारी के दायरे स या कल्पनाजनित वस्तुज्ञान से अपने प्रत्यक्षज्ञान के क्षेत्र म पहुचते हैं तो हम स्पष्ट अन्तर दिखायी देता है। निश्चय भावना अनिश्चिय की मन स्थिति स एक प्रकार की निश्चितता म प्रवेश करना है।

जिस प्रकार अनुमान की समुचित दशा और अनुचित दशा होती है अर्थात् एक म सत्याश रहता है और दूसरी म सत्यभाव इसी प्रकार सभी सम्मति क भेद होते है। इसे स्मरण रखना आवश्यक है क्योंकि उचित सम्मति सदगुण का सार अभिभावक का गुण लक्षण है। यही कारण है कि पचम अध्याय म जब प्लेटो सम्मति की चर्चा घृणास्पद ढग से करने लगता है तो आश्चर्य होता है। असल म अनुमान को मनोदशा कहने का अभिप्राय उससे छुटकारा पाना है जब हम उससे सर्वथा सन्तुष्ट हो जाते हैं और उसे अन्तिम निर्णय जसी बात समझने लगते हैं। परछाई अथवा परावर्तित रूप तब क्लेशप्रद हैं जब हम उन्हे परछाई न समझकर कुछ और वस्तु मानना शुरू कर देते हैं। दृष्ट का विकृत रूप ही भ्रान्ति है परन्तु जो दृष्ट हम भ्रान्ति जसा लगता है उसम उचित अभिप्राय व्यक्त करने की क्षमता भी निहित है। सामान्यत यही बात सम्मति के लिए प्रयुक्त होती है। जब तक सम्मति के विषय म चरम सत्य क समान विश्वास किया जाता है तब तक वह त्याज्य है। उचित सम्मति म चाहे सही सिद्धान्त अपूर्व रीति से ही मूर्त हुए हो वह मनोदशा फिर भी श्लाघ्य है और हमारे अनुभव का विपुल परिणाम इस परिधि से आगे नही जा सकता। इस मनोदशा म असन्तोषकारक लक्षण यही है कि यह कुछ विशिष्ट पदार्थों स सम्बद्ध है। इसी कारण जब हम देखते हैं कि इन पदार्थों के लक्षण हमारी धारणा स भिन्न और अस्थिर है बल्कि परिवेश के प्रभाव स इनके गुण बनते बिगडते है तो हमारी सम्मति का मानसिक स्वरूप डगमगाने लगता है। फिर सहसा यह प्रश्न मन म उठता है कि यदि न्याय या सौन्दय अथवा भार विषयक हमारी धारणा विभिन्न सम्बन्धो क सन्दभ मे विचित्र ढग से बदलती हैं और निरन्तर अस्थिर दशा म रहती हैं तो न्याय या सौन्दय अथवा भार का निश्चित भाव क्या हो सकता है ?

जब सम्मति के विषय परस्पर विरोधी होते हैं तब इसी भावना से मन को बाध्य होकर सत्य के अपाप रूपों की जिज्ञासा करना पड़ती है। हम कुछ जानी मानी बातों के आदी होने के कारण जो विश्वास बना लेते हैं, वह विफल हो जाता है। फलत बाधा तथा असमंजस का अनुभव करके किसी अन्य वस्तु की खोज म जुट जाते हैं। इस प्रकार हम उन रूपों, सिद्धान्तों अथवा कानून की शोध क लिए बाध्य हो जाते हैं जिनके कारण विभिन्न वस्तुएँ अपने यथारूप म प्रकट होती है अथवा जो हम परिवर्तनशील और विविध रूपमय जगत मे सन्निहित एकता क अनुसंधान म प्रेरित करते हैं।

(३) मानसिक विकास की आगामी अवस्था को प्लेटो जिस ग्रीक शब्द से व्यक्त करता है, उससे किसी प्रकार की निश्चित स्पष्ट धारणा नही बनायी जा सकती। ग्रीकजन इस शब्द स वही अभिप्राय समझते थे जो अग्रेजी शब्द 'इंटेलेक्ट' या हिन्दी शब्द मति मे निहित है। 'इंटेलेक्ट' या मति के समान उसका कोई निर्धारित आशय नही है और उसमे किसी विशेष मनोदशा का वर्णन नहीं होता। किन्तु उस शब्द का प्रयोग स्पष्टत विज्ञानविद् के उत्तम प्रतीक का ओर संकेत करता है। उस ग्रीक शब्द के उदाहरणों का चुनाव भी प्लेटो ने अपने युग के विज्ञानशास्त्रों की तत्कालीन विकासदशा म किया है। थोड़ी सी भिन्नता के होते हुए भी प्लेटो न जो कुछ इस शब्द के अभिप्राय म व्यक्त करना चाहा है और मस्तिष्क के वैज्ञानिक अभ्यास से आधुनिक विचारों को हम जिस आशय म प्रकट करते हैं—इन दोनों म मूलभूत समानता है।

इस अवस्था के दो लक्षण प्लेटो सम्मुख रखता है जिनके परस्पर सम्बन्ध का कोई प्रमाण नहीं मिलता (अ) यह इन्द्रियगोचर वस्तुओं से सम्बन्धित अवश्य है परन्तु इन वस्तुओं का अतीन्द्रिय का प्रतीक मानकर प्रयुक्त किया गया है। (आ) उपपत्तियों के आधार पर तर्कसंगत तथ्य पाने का यत्न किया गया है। इन दोनों दृष्टियों से अंकगणित तथा रेखागणित (ज्यामिति) ग्रीक शब्द या मति के प्रत्यक्ष प्रकार हैं।

(अ) अंकगणितज्ञ और ज्यामितिज्ञ वास्तव म उन रूपों क सम्बन्ध म कोई विचार नहीं करते जिन दृश्य रूपों का उपयोग वे किया करते हैं। ज्यामितिज्ञ त्रिभुज अथवा वृत्त की आकृति के विषय मे सोचता तो है, वह जो वस्तु बनाता है उसका उपयोग प्रतीकात्मक है। यद्यपि ऐसे प्रतीकों के बिना गणितशास्त्र का अध्ययन असम्भव है तथापि वस्तु केवल प्रतीक है। जिन दृश्यमान प्रतिबिम्बों का

वह उपयोग करता है वे सम्मति के विषयमात्र हैं—उनमे से प्रत्येक का पृथक स्वतन्त्र आसन है अपना लक्षण है। जिन विषयो के प्रतीक ये यथार्थ वस्तुएँ होती है उन्हो को प्लेटो रूप या आकृति कहकर पुकारता है जसे 'त्रिभुज की आकृति' अथवा 'स्वय त्रिभुज' क्योंकि इन दोनो का उपयोग बहुत अन्यमनस्कता से किया जाता है।

प्लेटो गणितशास्त्र के विषय मे जो कहता है वह समस्त विज्ञानशास्त्र को लागू होता है। सम्पूर्ण विज्ञान इन्द्रियगम्य विषयों को प्रतीक मानता है। वह सदैव मूलतत्त्व की चिन्ता मे खोज मे सलग्न रहता है और वह चतुर्दिक इन्द्रिय सुलभ वस्तुजगत को उस मूलतत्त्व का प्रतीक समझता है अथवा वस्तुमात्र को वह मूल सिद्धान्तो की अभिव्यक्ति मानकर चलता है। वनस्पतिविज्ञ तथा जन्तु विज्ञानी निश्चित पौधे अथवा पशु के सम्बन्ध मे चर्चा करता है परन्तु उसको एक ही वर्ग के किसी खास पौधे या पशु का चुनाव करने की परवाह नही रहती। इसीलिए हम विज्ञान को अमूर्त या भावात्मक कहा करते हैं। विज्ञानविद् शोधकार्य की प्रक्रिया मे जानबूझकर और आवश्यक रूप से अपने विषय या पदार्थ के बहुतेरे भाग की ओर ध्यान तक नही देता और उसके भीतर की कुछ निश्चित बातो पर ही विचार करता है। त्रिभुज की भुजाओ तथा कोणो के सम्बन्ध की परीक्षा करने मे ज्यामितिविद् त्रिभुज बडा है या छोटा उसका क्या रग है वह किस वस्तु से बना है आदि बातो को एकदम निरर्थक समझकर चलता है। किसी दूसरे व्यक्ति को इन बातो का ध्यान आता हो या इनकी ओर रुचि हो सकती है किन्तु उसे नही। तथापि इन्ही सभी चीजो के सयोग से दृश्यमान त्रिभुज का रूप बनता है। ज्यामितिविद का विषय बोधगम्य त्रिभुज है जिसके विपरीत दृश्यमान त्रिभुज को वह समक्ष रखता है मानो हम दो त्रिभुजो की बात कर रहे हैं और तब ऐसा भान होता है जसे बोधगम्य त्रिभुज कोई दूसरा त्रिभुज है जो दृश्यमान त्रिभुज की एक धुधली प्रतिच्छाया है। भाषा की इस विवशता अथवा अक्षमता से ही प्लेटो के आदर्शवाद की दुर्बोधता का अधिकाश उत्पन्न होता है। अतएव हम बहुत स्पष्ट रूप से यह समझ लेना चाहिए कि बोधगम्य त्रिभुज से हमारा अभिप्राय क्या है। निश्चय ही इन शब्दो से यह आशय कदापि नही है कि दृश्यमान और बोधगम्य नामक दो भिन्न भिन्न प्रकार के त्रिभुज हैं। केवल इतना ही अर्थ इसका होता है कि दृश्यमान त्रिभुज मे उसके दूसरे लक्षणो से निराला एक लक्षण है जिसके कारण वह त्रिभुज कहलाता है। त्रिभुजता के अतिरिक्त दूसरे लक्षणो के सयोग से दृश्यमान त्रिभुज ही बोधगम्य त्रिभुज है।

इन अतिरिक्त लक्षणों को ज्यामितिविद् गिनता ही नहीं अथवा प्लेटो के अनुसार इन्हें प्रतीकात्मक मानता है। विज्ञान अमूर्त को समझाता है—इस परिचित वाक्यांश से हमारा अभिप्राय वही है जो प्लेटो के इस कथन में निहित है कि विज्ञान स्थूल विषयों को केवल प्रतीक मानता है जिसे वे अपनी प्रत्यक्ष सत्ता के द्वारा भी प्रकट नहीं कर सकते। सम्पूर्ण विज्ञान यही पद्धति अपनाता है।

शिक्षा-पद्धति पर इस दृष्टि का जो प्रभाव पड़ता है उसे स्पष्ट करने के लिए इसी बात को अलग ढंग से कहा जा सकता है। विज्ञान का अध्ययन हमें विचार करने के लिए बाध्य करता है। प्लेटो के अनुसार विज्ञान हमें लाचार करता है कि हम इन्द्रियों को भुलाकर केवल अपनी मति के भरोसे पर चलें। सप्तम अध्याय में वह सभी प्रकार के विज्ञान सम्बन्धी अध्ययन के हित में इसी ढंग पर जोर देता है। प्रत्येक प्रकार के विज्ञान का अध्ययन करते समय हमें अपनी इन्द्रियों और उनके समग्र का भान तक नहीं होना चाहिये और अपनी यथाशक्ति से वस्तुजगत को परखना चाहिये अर्थात् केवल अपने ध्येयविषय सम्बन्धी मूलसिद्धान्त अथवा नियम का ध्यान रखकर शेष सभी बातों को अपने ध्यान से हटा देना चाहिये। यही कारण है कि प्रारम्भ में विज्ञान हमारे साधारण सम्बन्धों को अस्त-व्यस्त करता हुआ जान पड़ता है और हमारे मामूली अनुभव से कम यथार्थ लगता है।

(आ) आगे प्लेटो कहता है कि मति उपपत्तियों या उपकल्पनाओं के आधार पर विवेचन करती है। उपपत्ति एक नियम या मत है जिसे अस्थायी रूप से हम सत्य मान लेते हैं और यदि तथ्य उसके अनुकूल नहीं निकलते तो उसे त्यागने के लिए हम राजी हैं। उपकल्पित दृष्टिकोण कामचलाऊ होता है जो पुष्टि या अपुष्टि की प्रतीक्षा में रहता है परन्तु प्लेटो और अरस्तू ने इस ग्रीक शब्द को भिन्न अर्थ में प्रयुक्त किया है। प्लेटो के विचार से उपकल्पना ऐसा सत्य है जो उच्चतर सत्य पर आश्रित होकर ही मूलतः या प्रथमतः सत्य कहला सकता है। वह असत्य नहीं होता अथवा उसे मिथ्या प्रमाणित करना सम्भव नहीं है बल्कि फिलहाल उसे स्वयंभूत माना जाता है। उपकल्पना शब्द के हमारे और प्लेटो के उपयोग में समानता यही है कि उसे उपाधिवाले (Conditional) अथवा अन्य वस्तु पर आश्रित माना जाता है। किन्तु प्लेटो की उपकल्पना अस्थायी नियम नहीं है सभी विज्ञानों के मूल में यही सत्य है। अंकगणित और ज्यामिति कुछ धारणाओं या उपकल्पनाओं पर आधारित हैं। अंकगणित की मूल धारणा है जिसके मूल लक्षण पूर्णाङ्क तथा अपूर्णाङ्क हैं। अंकगणितज्ञ को इन

समझाने की जरूरत नही पडती । यदि अक की सत्ता को अस्वीकार कर लिया जाय तो अकगणित के अध्ययन की सम्भावना ही नष्ट हो जायेगी । इसलिए अक को आरम्भ बिन्दु मान लेने पर अकगणितज्ञ निश्चित विधि म उसका उपयोग करके अकगणित विषयक सत्य का अनुसधान करता है । यही बात ज्यामितिविद की है । वह भी ज्यामिति आकार को अपना आरम्भबिन्दु मानता है जिसके साथ कुछ नितान्त प्रारम्भिक लक्षण रहते हैं । जब वह अपनी उपधारणाओ स्वयसिद्ध प्रमाण और परिभाषाओ के समथन स सत्य प्रस्तुत करता है और हम उसे अस्वीकार कर दते है तो वह इतना ही कहेगा कि आपस तक करना असम्भव है । इन धारणाओ को प्रमाणित करना उस आवश्यक ही नही होता । भौतिकशास्त्री भी इसी प्रकार पिण्ड और गति की कल्पनाओ से विचार आरम्भ करता है जसे जीवविज्ञानवत्ता जीवन से अथशास्त्री सम्पत्ति से और नीतिशास्त्री नतिकता स । कतिपय अ य प्रारम्भिक रूपो और लक्षणो क साथ इ ही उपकल्पनाओ स विभिन विज्ञानो का नाता जुडा हुआ है और प्रत्येक विज्ञान की अपनी उपकल्पनाएँ होती है ।

प्लेटो इन धारणाओ को उपकल्पनाएँ कहता है क्योकि उसके अनुसार इनकी प्रामाणिकता अ य सत्य रूपो पर निभर है । इसका अभिप्राय क्या है ? वे असत्य नही है क्योकि वह इ हे भाव का रूप बतलाता है । इनको उपकल्पना मानने का कारण यह है कि वस्तु को पूणरूप म देख सकना उसके मूलभाव के एकत्व का बोध करना है जिसके नाना रूप अथवा प्रकार दष्टिगोचर होते है । यही उपकल्पनाए हैं । अकगणित और ज्यामितिज्ञ मूलभाव के सम्बन्धित रूपो को *इस प्रकार प्रस्तुत करता है मानो वे पूणत स्वतन्त्र वस्तुए हैं अर्थात व उ हे* मानते हैं पर उनके विषय म कोई विवरण नही देना चाहते । जिन सत्यरूपो म व आरम्भ करते हैं उ हे एक मूलभाव के परम्परान्वित तत्त्व प्रमाणित करना जरूरी होता है । इस प्रकार आरम्भ बि दुओ के उपकल्पनात्मक होने स 'मति' की अपूणता प्रकट होती है अर्थात् इन आरम्भिक सत्य रूपो को यथाथ अथवा पूण सम्ब धसूत्र जसा नही देखा जाता जबकि विज्ञान का आदश पूण सम्बन्ध और पूण व्याख्या है । वसे इन सबको एक ही वस्तु मानना चाहिये क्योकि यही सत्य है । ज्ञान क आदश की प्राप्ति तब तक नही हो सकती जब तक हम क्या प्रश्न करते रहेगे । *क्या* का प्रश्न असल म यह पूछना है कि अन्तत मूलाधार क्या है ? पूणज्ञान का आशय यही है कि समस्त वस्तुजगत एक निरपेक्ष नियम के आधीन दष्टिगत होता है । ठीक है कि मानव मस्तिष्क इस परम नियम का

दर्शन करने में सदा असमर्थ रहेगा, तथापि वह नित्य उसका आह्वान करता है माँग करता है और जब तक उसमें इस आग्रह की उत्कटता नहीं पनपेगी तब तक वह ज्ञान के आदर्श की उपलब्धि में असफल बना रहेगा। इसी छोर से प्रज्ञा की अंतिम अवस्था के विवरण का संकेत मिलता है।

(४) प्लेटो इसे शुद्ध आदर्श की अवस्था मानता है जिसे प्राप्त करना मनुष्य मेधा के परे है। परन्तु वह हमारे जीवन ध्येय के स्वरूप को अपनी दृष्टि से व्यक्त करता है और ज्ञान का पथनिर्देश भी इससे होता है। उसके कथनानुसार इंद्रियसुख से परे पूर्ण प्रज्ञादशा शुद्ध आदर्श में सन्निहित रहती है। उसमें उपकल्पना का अभाव होता है। विशिष्ट विज्ञानों के विविध सिद्धान्त उसमें उपकल्पना जैसे नहीं, यथार्थ माने जायेंगे। उनका आविर्भाव संसार के तर्कविवेक में होता है और प्रत्येक सिद्धान्त एक सीढ़ी है जो अगली सीढ़ी की प्राप्ति में सहायक होती है। *अनंत प्राप्ति का यह क्रम उस चरम नियम तक अग्रसर होता जायगा* जो सम्पूर्ण चराचर का मूलाधार है।

(अ) पूर्ण प्रज्ञा में इंद्रियग्रहण का कोई अंश नहीं रहता—यह दुर्बोध वक्तव्य है। इसका स्पष्टीकरण यह है एक त्रिभुज लीजिए जिसे ज्यामितिज्ञ प्रतीक मानता है। पहले ही हम देख चुके हैं कि ज्यामितिज्ञ उस विशेष त्रिभुज के विषय में नहीं वरन् स्वयं त्रिभुज का विचार करता है। इसलिए ज्यामितिज्ञ इंद्रियग्राह्य विषय का बहुतेरा भाग अपने विचार के लिए अनुपयुक्त पाता है क्योंकि वह उसकी अन्तर्दृष्टि की सीमा में नहीं आता। उसकी उपेक्षा ही महत्त्वपूर्ण है, त्रिभुज की यथार्थता उसका विषय है, उसका रंग, नाप आदि नहीं। अगर एक त्रिभुज इंच भर ऊँचाई का है और दूसरा एक फुट बड़ा हुआ तो इन त्रिभुजों को वह दो भिन्न प्रकार के त्रिभुज समझने की भूल कर सकता है। यह इतना सरल उदाहरण है कि शिक्षित व्यक्ति को भ्रम न होगा परन्तु जटिल विषयों में भूल सदैव सम्भव है। प्लेटो मानता है कि गणितशास्त्र मनुष्य को ऐसी भूल पहचानने में समर्थ बनाता है इसीलिए गणित की शैक्षणिक महत्ता पर वह बहुत बल देता है। प्रत्येक अर्थशास्त्री जानता है कि जिन जटिल समस्याओं में बहुसंख्यक जनसमूह का हिताहित निहित है, अपनी सम्पूर्ण सद्भावना के होते हुए भी उन्हें सुलझाना कितना कठिन है। प्लेटो का मत है कि सामान्य जीवन में हम प्रतीक को ही यथार्थता मानने की भूल निरन्तर करते रहते हैं। सम्भव है कि त्रिभुजाकृति विषयक दूसरे लक्षण ज्यामितिज्ञ उपेक्षित भले ही मानें परन्तु उन्हें स्वतन्त्र रूप से वैज्ञानिक अनुसंधान का विषय समझा जा सकता

है। दृष्टिविज्ञान का अध्यता त्रिभुजाकृति के रग, दूसरे लोग उसके रासायनिक गठन इत्यादि का अनुसधान करने म प्रवत्त हो सकत हैं। इसी तरह अय जटिल विषयो का हाल है। प्लेटो की दृष्टि म प्रत्येक विषय के प्रत्यक लक्षण का रूप हुआ करता है जिस तरह त्रिभुज है और उसकी त्रिभुजता का एक रूप है। अथवा कोई रग है और उस रग का एक रूप है। प्रत्येक विशिष्ट विषय अगणित प्राकृतिक नियमो का सगम होता है। प्लटो के ढग स कह तो प्रत्यक विशिष्ट विषय म अनक रूप परस्पर सचरण करत हैं। मान लीजिय कि विभिन्न विनानविद किसी एक विषय क समस्त लक्षणो का पता लगान पर तुल जाते हैं और जिस प्रकार ज्यामिति विद् त्रिभुज के त्रिभुजत्व का बोध प्राप्त कर लेता है उसी तरह इहें भी प्रस्तुत विषय के लक्षणो का सम्पूण बोध हो जाता है। तब वह विषय अनक प्राकृतिक नियमो का केद्र बन जाता है अथवा प्लटो क शब्दो म समस्त रूप उसम एकस्थ हो जाते हैं। यदि कोई विषय इस प्रकार सम्पूणत बोधग्राह्य हो गया तो वह नियमो अथवा रूपो म विघटित किया गया है। इस प्रकार वह तथ्य कुछ का कुछ हो जायगा क्योकि उसम अपेक्षा से कही अधिक वास्तविकता प्रकट होगा परतु इसके बाद भी वह पहले जसा तथ्य ही बना रहेगा यद्यपि अबोध व्यक्ति की दृष्टि म जो विषय था वह तिरोहित हो जायगा। अतएव पूणनान म इद्रियो का तत्त्व नही रहता। ऐसा नही होता कि इद्रिया ग्रहण करना बद कर देती हैं या हम उनकी सूचनाए मिलना बद हो जाता है। असल म विषय का प्रत्येक इद्रियगम्य लक्षण किसी बोधग्राह्य रूप का आविर्भाव जसा दिखायी देने लगेगा। फलत उसम किसी प्रतीकात्मक अथवा असम्बद्ध तत्त्व नही बचता और वह सम्पूणत बोध्य हो जाता है। ज्यामितिज्ञ त्रिभुज के विविध लक्षणो को दखकर भी त्रिभुजत्व म ध्यान लगाता है वह प्रतीक त्रिभुज के इद्रियजात प्रत्यक लक्षण की उपेक्षा इसलिए करता है ताकि कोई भ्राति अथवा अव्यवस्था उत्पन्न न हो। इसी तरह जब सम्पूण विषय का पूण नान हो जाता है तब उसके समस्त लक्षणो को भी इसी दृष्टि से देखा जायगा। ऐसी मनोदशा म विषय क विभिन्न लक्षण अव्यवस्थित सकलन नही रह जायेंगे जो निरतर परिवर्तित और नित्य स्वत विरोधी रूप म दिखायी देते हैं बल्कि तब विषय विविधि स्थायी तथा अविकारी रूपो या नियमो का सगम प्रतीत होगा। आशय यह है कि वह विषय रूप प्रणाली का एक अग है और उसक सभी सगम तथा उसकी सदृश्यताएँ स्पष्ट दिखायी देने लगगी। आदश यही है हमे भलीभाँति ज्ञान है कि ससार की हर वस्तु दूसरे स सम्बध रखती है उसकी सदृश्यता अय पदार्थों से रहती है।

पूर्ण प्रज्ञा की समुचित प्रतीति का एकमात्र उपाय यह है कि हम एक चित्त या मस्तिष्क की कल्पना करें जो प्रत्येक वस्तु के समस्त लक्षण उसके सार सम्बन्ध और वस्तुजगत से उसकी सहृदयताओं का पूर्ण बोध प्राप्त करने में समर्थ है। हमारी प्रज्ञा के आदर्श का यही एकमात्र सत्य वक्तव्य बना रहेगा यद्यपि हमारे अनुभव में आनेवाली वस्तुओं का बहुत बड़ा समूह सदैव अनिवार्यतः इन्द्रियगम्य होगा।

(आ) परिपूर्ण प्रज्ञा में उपकल्पना नहीं होती। प्लेटो एक रूपक द्वारा यह स्पष्ट करना चाहता है कि पूर्ण प्रज्ञा जगत को किस प्रकार ग्रहण करती है। पूर्ण प्रज्ञा को विश्व अस्तित्व की रूपमाला या रूपकोटि जैसा लगेगा जिसमें प्रत्येक रूप ऊपर और नीचे के रूप से अंतर्युक्त है तथा एक निर्दिष्ट नियम सत या श्रेयस इस समस्त रूपकोटियों का समर्थन करता है। वही सत् या श्रेयस है जिस पर शेष समस्त चराचर आश्रित है और जो समस्त विश्व के प्रत्येक विषय या वस्तु में प्रतिबिम्बित होता है अथवा प्रत्येक वस्तु का आगमन तथा कार्य परम लक्ष्य से निर्धारित होता है और उस सत् या श्रेयस कहते हैं। पूर्ण प्रज्ञा में सामर्थ्य है कि वह उच्च या निम्न रूप-वर्गों में अखण्डभाव से आती जाती रहे। इस तरह विश्व के किसी भी एक छोर से वह सम्पूर्ण वस्तुजगत् में आरपार जा सकती है। जिस मात्रा में हम सत्य के एक अंश का बोध हो जाता है उसके अन्तर्गत हम किसी भी छोर से दूसरे छोर तक जा सकते हैं और उसमें अपरिचित युक्त वस्तुओं में भी हमारा प्रवेश सहज हो जाता है। किसी वस्तु के सम्यक् बोध का प्रमाण यह है कि हम उसके किसी भी निर्धारित बिन्दु को पाकर उसका पूर्ण रूप प्रस्तुत कर सकें। इसी मनोदशा की सिद्धि का सम्पूर्ण आशय में आरम्भ कहा जा सकता है।

इस प्रसंग में प्लेटो एक नये शब्द का प्रयोग करता है जिसके अर्थ पर विचार करना चाहिए। वह कहता है कि जिस प्रतिभा या धीशक्ति के कारण प्रज्ञा की यह स्थिति प्रादुर्भूत होती है वह हेतुविद्या की शक्ति अथवा आध्यात्मिक विश्लेषण क्रिया की समीक्षा तथा उनके समाधान की शक्ति है। इस शब्द का वह ज्ञान की पूर्णावस्था के अर्थ में प्रयुक्त करता है। जिस परिच्छेद में इसका उपयोग आरम्भ किया जाता है उससे प्रस्तुत परिच्छेद का अभिप्राय भी स्पष्ट होता है। अपनी प्रस्तावित शिक्षाप्रणाली में विशिष्ट विज्ञानों के समावेश या प्रयोग की चर्चा करते हुए, यदि इनका अध्ययन निर्दिष्ट लक्ष्य की पूर्ति में लाभप्रद बनाना है तो हम इनके परस्पर सम्बन्ध को समझने का यत्न करना चाहिए। उसके द्वारा प्रस्तावित विज्ञान विषयक शिक्षा के उच्च स्तर में इस सिद्धान्त का निरन्तर

ध्यान रखना होगा। विज्ञान के भिन्न प्रकारों में जो समानताएँ या सम्पर्क बिन्दु हैं उनको सतत् स्पष्ट करते रहना पड़ेगा। मनुष्य की हेतुविद्यात्मक प्रकृति का प्रमाण यह है कि उसमें एक दृष्टिपात में ज्ञान की भिन्न भिन्न विशिष्ट शाखाओं के परस्पर सम्बन्ध को समन्वित रूप में देखने का सामर्थ्य है। इस कथन में दृढ़तापूर्वक यह प्रतिष्ठित किया गया है कि नानामुखी प्रगति का आशय ज्ञान के एकत्व की इन्द्रियग्राह्यता में अग्रसर होना है। जो व्यक्ति स्वभावत इस तथ्य को ग्रहण करने में सहज कुशल है, वही नैसर्गिक हेतुवादी है। हेतुविद्या का अभिप्राय इतना ही है कि ज्ञान की विभिन्न शाखा प्रशाखाओं के सादृश्य और उनकी परस्पर सम्वादशीलता की पहचान या प्रतीति सम्भव है (प्लेटो के अनुसार केवल विज्ञान की शाखाएँ ही नहीं बल्कि ज्ञान की समूची शाखाओं की ओर सकेत है।) इस अर्थ में हेतुविद्या शब्द पूर्णज्ञान का पर्यायवाची है। इस कल्पना पर आगे हम विस्तार से विचार करना पड़ेगा।



विज्ञान तथा दर्शन की शिक्षा

१ शिक्षा की वर्तमान दुर्गति

विचार की प्रस्तुत स्थिति में सुकरात कहता है कि शिक्षा और उसकी दुरावस्था का ध्यान रखकर मैं मानवजाति की यथार्थ दशा का वर्णन एक कल्पना प्रसूत रूपक के द्वारा करना चाहता हूँ। गुहारूपक नामक परिच्छेद में यह वर्णन किया गया है। विचार के आरम्भ में इस रूपक का बड़ा महत्व है यह समझने के लिए हम छठवें अध्याय की परिचर्चा का स्मरण करना होगा। बताया जा चुका है कि दर्शनवृत्ति में प्रवीण पुरुष ही मानव समाज के शासनकार्य में सर्वाधिक दक्ष होंगे परन्तु इस कठिन कार्य को व्यावहारिक रूप देने में कुछ खतरे और बाधाएँ हैं। इसके पश्चात् इस दर्शनवृत्ति की शिक्षा का समुचित उपाय करने और उसके परिपूर्ण विकास को फलदायी बनाने का विचार किया गया है ताकि ऐसी सुशिक्षित दर्शनवृत्ति-सम्पन्न व्यक्ति समाज को प्राप्त हो सकें। यह तभी सम्भव है जब शिक्षा से समूचे ध्येय की तुष्टि करनेवाला ज्ञान प्राप्त हो और ऐसा ज्ञान सत् या श्रेयस का ज्ञान ही हो सकता है। यहीं मनुष्य सुगम गत सम्पूर्ण ज्ञान और दर्शनपरक ज्ञान का सम्बन्ध समझाया गया है। इसके साथ उस प्रगति की अवस्थाओं का खाका खींचा गया है जिसके फलस्वरूप विश्व अपेक्षाकृत अधिक बोधगम्य और मस्तिष्क अधिक बुद्धिमान होता है। इसी तरह प्लेटो एकाएक पूछता है कि बुद्धि के इस मानदण्ड की दृष्टि से मनुष्य की वास्तविक स्थिति क्या है? यहाँ उसकी विषयवस्तु आदर्श जनमण्डल नहीं है वह मनुष्य को मानवजाति के मूल तथ्य की दृष्टि से देखता है और जैसे उन्हें सदा होना चाहिए वे ठीक वैसे ही हैं। यही कारण है कि पूर्ववर्णित अवस्थाएँ पारकर अन्धकार से प्रकाश में पहुँचने के बजाय प्लेटो ने उन्हें बुद्धि की निम्नतम अवस्था में जकड़ा हुआ दिखाया है।

उक्त गुहारूपक की कुछ बातें हमारे ध्यान देने योग्य हैं। सबसे पहली बात यह है कि समूची मनुष्यजाति अनुमान दशा में है। अधिक संख्या ऐसे ही लोगों की है जो इस प्रारम्भिक दशा को लाँघकर विश्व के अपेक्षाकृत यथार्थबोध की अवस्था में प्रवेश ही नहीं करते और जीवनपर्यन्त उसी में पड़े रहते हैं। अगर कोई मनुष्य इससे बाहर निकलता भी है तो ऐसा प्रयत्न साधित नहीं होता शिक्षापद्धति के फलस्वरूप भी ऐसा नहीं हुआ करता अथवा समाज के उपकार का भी कोई परिणाम इसे नहीं समझना चाहिए परन्तु ऐसे विरल उदाहरण मिलते हैं कोई नहीं जानता कैसे ? बन्दियों को केवल परछाइयाँ दीखती हैं और सत्य की झाँईभर उनके कान में पड़ती है प्रत्येक बन्दी अपने छायात्मक अनुभव में बुरी तरह जकड़ा रहता है। दूसरे शब्दों में प्रायः सभी मनुष्य अपने सम्बन्ध में और चतुर्दिक घिरे संसार के बारे में छलपूर्ण माध्यमों के कारण विकृत धारणा रखते हैं। यह विकृत दृष्टि अपनी विशेष वासनाओं और पूर्वग्रहों एवं दूसरे लोगों की भाषा तथा अत्युक्ति से ध्वनित उनकी वासनाओं और पूर्वग्रहों से बनती है। निरन्तर शिशुओं जैसी अबोधावस्था में स्थायीरूप से रहने के कारण उनकी दृष्टि में कोई विकास नहीं होता फर्क इतना है कि वे उस सत्य में विश्वास करते हैं जिसे वे अपनी आयु के अनुकूल दृढ़तापूर्वक देखते-सुनते रहते हैं। यह कुछ अभागे बहिष्कृत लोगों का हाल नहीं है हमारी अपनी दुर्गति है।

दूसरे, यह मनुष्य मात्र की केवल सहज दशा नहीं है बल्कि इससे उबरने की इच्छा तक उनमें नहीं रहती। इसके पार पहुँचने की रंचमात्र कल्पना भी उन्हें नहीं होती क्योंकि जिन बन्धनों में वे जकड़े हुए हैं उनके कारण ज्योति पक्ष से वे निरन्तर विमुख रहते हैं और ऐसी कोई शिक्षाप्रणाली नहीं है जो उन्हें बन्धनमुक्त कर सके। अगर किसी तरह कुछ लोग बन्धनों से छुटकारा पाकर यथार्थज्ञान की ओर बढ़ना शुरू भी करते हैं तो उन्हें हर कदम कष्ट क्लेशमय जान पड़ता है। तीसरे कभी कोई गुहाबन्दी प्रकाशोन्मुख हो भी जाता है तो अपने सहवर्तियों की दुर्दशा से करुणार्द्र होकर वापस आता है और अपने प्रकाश दर्शन का अनुभव उन्हें सुनाता है जिसे सुनकर वे उसकी हँसी उड़ाते हैं और हत्या कर देते हैं। अर्थात् अपने बीच ज्योतिर्मय दिशा में अग्रसर व्यक्तियों के साथ सहयोग करना तो दूर रहा समाज उनके प्रति उपेक्षा अथवा सक्रिय शत्रुता का व्यवहार करता है।

उपर्युक्त रूपक के प्रमुख लक्षण यही हैं। गुहा से छुटकारा पाने के बाद धीरे धीरे बन्दी प्रकाश की तीव्रता को सहने लगता है और इस प्रकार क्रमशः

उन अवस्थाओ नें प्रवश करता है जिनका सकेत विवाद के पूव अश में किया गया है। अपनी मूल बन्दीदशा से मुडकर वह प्रकाश के समक्ष आता है जिसका अभिप्राय यह है कि भ्राति, किम्वदन्ती और पूवग्रहा से उत्पन्न मिथ्या धारणाओ की अधेरी दशा को त्यागकर वह यथाथ विश्व तथा वस्तु के सत्य स्वरूप की पहचान करने को बाध्य होता है। यह कष्टमय प्रक्रिया है। दूसरी अवस्था म पहुचकर वह वैनानिक दष्टि से यथातथ्य जगत को परखने म समथ होता है यद्यपि यह भी क्लेशप्रद प्रक्रिया है किन्तु शिक्षा के फलस्वरूप विकास की निश्चित अवस्थाओ तथा गुफा से सूयप्रकाश मे पहुचने के उपायो मे सादश्य खोजना रूपक का बहुत अधिक महत्व देना होगा।

मानव दशा के इन वास्तविक तथ्यो का उल्लेख करके रूपक के बाद अगले परिच्छेद मे शिक्षा की वत्तमान पद्धति तथा उसकी यथाथ वाछित प्रणाली मे भेद स्पष्ट किया गया है। प्लेटो कहता है कि शिक्षा, अधे को सूझता बनाना नही है आंखो को प्रकाश की दिशा दिखलाना है जो तभी सम्भव है जब समूचे शरीर को समुचित स्थिति मे मोड दिया जाये। इसी प्रकार शिक्षा केवल मति को ज्योतिमय नही बनाती, अपितु आत्मा का सम्पूण दष्टिकोण ही बदल देती है। मस्तिष्क की अधता के प्रबल कारण वही बुभुक्षाएँ और विषयसुख हैं जो आत्मा के मूलभाव को कुण्ठित कर देते हैं। आत्मा पर इनका बोझ जन्मजात सचित कमभार के समान है जिसके निवारण के अनन्तर ही आत्मा इस पृथ्वी पर सूय मुखी हो सकती है।

इसके पश्चात् समाज और उसके प्रबुद्ध व्यक्तियो के सम्बन्ध की व्याख्या की गयी है। जो लोग बन्धनमुक्त होकर नान के प्रकाश का अनुभव कर चुकते हैं उन्ह उसी स्थिति मे ससार से निस्पृह होकर बने रहना सुहाता है क्योकि इस स्वच्छन्द ज्ञानदिशा मे पहुचने का कोई श्रेय समाज को नही है किन्तु समाजसेवी और समाज का परस्पर सम्बन्ध इसके विपरीत होना चाहिए। समाज और उसके घटक सदस्य आदान प्रदान के ढग पर ही सम्बन्ध रख सकते हैं प्रत्येक सदस्य को दूसरे के हित म अपनी शक्ति और बुद्धि का निरन्तर उपयोग करते रहना चाहिए। छोटे छोटे मामलो मे जिस प्रकार यह नियम लागू है उसी तरह समाज और प्रबुद्ध मस्तिष्क भी इससे अनुशासित रहेगे। उन्ह यह प्रतीति करानी चाहिए कि व अपने ही बलबूते पर इतन समय नहा हुए हैं उनके मानसिक उत्थान म समाज से पोषण मिला है और इसीलिए उन्हें समाज के प्रति कृतज्ञ रहकर उसका हितसाधन करना चाहिए। जो समाज उपयुक्त पोषण देकर दाशनिक का

उन्नत सम्पन्न करता है उस पर अपेक्षा करने का अधिकार है कि दर्शनज्ञ उसके शासनभार को वहन करें तथा समाज म क्रियाशील रहकर उसका कल्याण उपार्जित करें। निश्चय ही वे प्रसन्नतापूर्वक यह कर्त्तव्य निभाना चाहेंगे क्योंकि समाज के उपकार स उऋण होने क लिए वे सहजभाव से उत्सुक होंगे। शासन के काय को सुदक्षतापूर्वक सचालित करने म भी उनकी रुचि होगी क्योंकि उन्हे लगेगा कि पदजनित साधारण लाभा स बहुत अधिक मूल्यवती वस्तु उनको प्राप्त है। जिस राज्य क शासक अपनी समृद्धि लिप्सा से नही बल्कि सावजनिक कर्त्तव्य भावना स प्रेरित होकर शासन करते है वही श्रेष्ठ शासित राज्य है।

२ विज्ञान के विभिन्न प्रकार और उनकी शिक्षा

प्रश्न यह है कि गुहावासियो की प्रतीक दशा मे उद्धार का हम क्या उपाय कर सकते हैं? किस प्रकार शासनभार वहन करनेवाले और समाज को त्राण देनेवाले व्यक्तियो का अधकार से प्रकाश मे प्रवश हो? पहले यह निणय करना है कि उनको कैसी शिक्षा दी जाये? सुकरात अभिभावको को दी गयी शिक्षा के सक्षिप्त विवेचन से अपनी योजना स्पष्ट करता है। उन्हें सौन्दयबोध तथा देह बोध की आरम्भिक शिक्षा मिल चुकी है। आशा की जानी चाहिए कि इस आरम्भिक शिक्षा के प्रथम भाग के अभ्यास से चरित्र म सामजस्य और मधुर सम्बन्ध का आविर्भाव होगा। ससार का सौन्दय तथा व्यवस्था इतने प्रभावी ढग से प्रस्तुत की गयी कि उसका रग आत्मा पर अज्ञात भाव से चढ़े बिना नही रह सकता। परन्तु इस सारे प्रबन्ध म भी यथाथ ज्ञान का अभाव बराबर बना रहा। अतएव प्रश्न यही है कि ज्ञान की किन शाखाओ का शिक्षण देना चाहिए जिससे आत्मा सत् अथवा श्रेयस का सम्यक ज्ञान प्राप्त कर सके क्योंकि इससे अधिक उत्कृष्ट ज्ञातव्य कोई वस्तु नही है।

इसके पश्चात् महत्त्वपूर्ण परिच्छेद का आरम्भ होता है जिसम प्लेटो ने निश्चित रूप से बताया है कि प्रारम्भिक शिक्षाजनित मनोदशा तथा अभीप्सित पूणप्रज्ञा के बीच की अवस्था म विज्ञान की विविध शाखाओ का शिक्षण उत्तम साधन है। प्लेटो बतलाता है कि इन्द्रियग्रहण से आत्मा किस प्रकार अग्रसर होकर विचार के स्रोतो का अनुभव करती है और निश्चयपूर्वक विचारशक्ति को उपलब्ध करती है। इन्द्रियाँ दो प्रकार की वस्तुएँ ग्रहण करती हैं पहले विषयवस्तु को इन्द्रियाँ सहसा दृढतापूर्वक ग्रहण कर लेती हैं और इस क्रिया से विचारस्रोत उत्तेजित नही होता। वह उदाहरण देता है जब हम तीन अँगुलियाँ

देखते हैं तो दृष्टिपथ में आनेवाली यह सूचना किसी जिज्ञासा को जन्म नहीं देती क्योंकि इस प्रकार के इन्द्रियग्रहण में ऐसी कोई प्रेरणा नहीं होती जो साधारण चित्त को अंगुलि के विषय में प्रश्न करने को बाध्य करे। ऐसे ग्रहण समुच्चय की मनोदशा को प्रतिबोध कहा गया है, इस दशा में मनुष्य का ज्ञान पृथक् पृथक् विषय तक सीमित रहता है और मस्तिष्क विषयों के परस्पर सम्बन्ध जानने की चिन्ता न करके इतने में ही सन्तोष मान लेता है। फिर एक स्थिति आती है जब आत्मा परिमाण तथा कठोरता, कोमलता आदि गुणों के प्रति सचेत होती है। तब जो इन्द्रियग्राह्य पृथक् विषय पहले अपनेआप में पूर्ण जान पड़ता था, वह अनेक लक्षणों में बिखरता सा मालूम होता है और इन्हीं विकीर्ण विषयों से विचार की प्रेरणा मिलती है। मान लीजिए हम तीन अँगुलियों की आकृति का अवलोकन कर रहे हैं अथवा उनकी कठोरता या कोमलता या उनके रंग को देख रहे हैं, ये सभी इन्द्रियगम्य वस्तुएँ हैं जैसे पूर्ववर्णित विषय थे। अन्तर इतना भर है कि इन्द्रियाँ इन्हें ग्रहण नहीं करतीं, इन लक्षणों में स्थिरता नहीं है क्योंकि एकाएक यही लक्षण विपरीत लक्षण जैसे भी दिखायी दे सकते हैं। हम जानते हैं कि एक ही अंगुली छोटी और बड़ी कठोर और कोमल आदि विभिन्न सम्बन्धों में विदित होती है। इस खण्डनात्मक अर्थ के कारण ही चित्त इस प्रश्न पर विचार करने को प्रेरित होता है, इन्द्रियों से प्राप्त इनमें से प्रत्येक गुण क्या वस्तु है? यदि प्रत्येक गुण स्वतः और विशिष्ट वस्तु है तो वह विपरीत गुणसूचक नहीं हो सकती। जब हम देखते हैं कि इनमें से प्रत्येक के साथ विपरीत गुण का भ्रम जुड़ा हुआ है तो सहज ही सवाल होता है कि आखिर यह कठोरता या बड़ापन या इसी तरह के दूसरे लक्षणों का सचमुच क्या अर्थ है। इसीलिए हम विचार विषय और नेत्र विषय अथवा प्रत्येक दूसरी इन्द्रिय के साधारण भेद को सम्मुख पाते हैं। इस भ्रमात्मक और स्वतः खण्डनकारी भूमिका में प्रत्येक पृथक् विषय का विस्तार दिखायी देता है। फलतः प्रत्येक वस्तु सम्बन्धों के भेद से छोटी और बड़ी दोनों हो जाती हैं। इसी के साथ केवल बड़ी और केवल छोटी वस्तु का बोध विचार के माध्यम से होता है जो सुनिश्चित तथा सुस्पष्ट है। तब जो बड़ा है वह कभी छोटा नहीं और जो छोटा है वह कभी बड़ा नहीं हो सकता। अतएव हम 'मति' के अन्तर्गत वर्णित दृष्टि से देखते हैं कि मस्तिष्क जिन विषयों का ध्यान करता है वे इन्द्रियग्राह्य वस्तुएँ नहीं हैं जैसी कि हमें पहले जान पड़ती हैं। वास्तव में विस्तार, वजन और इसी तरह के अन्य लक्षणों के रूप में इन्द्रियगत विषयों के माध्यम से हम विभिन्न बोधग्राह्य नियमों का आभास मिलता है।

इस प्रसंग में इन्द्रिय विषय के सम्बन्ध में कही गयी बात सम्मति विषयों को भी समानरूप से लागू होती है जिसका वर्णन पंचम अध्याय में हो चुका है। केवल सहज दृष्टि या ध्वनि या स्पर्श द्वारा ग्राह्य धारणाओं को ही यह लागू नहीं है बल्कि हमारे सुखद या दुखद, शुभ या अशुभ आदि की धारणाएँ भी इसी प्रकार होती हैं। इस परिच्छेद में उस स्थिति का वर्णन किया गया है जिसमें अचिन्तित धारणा की दशा से, स्तम्भना और सम्मूढ़ता की दशा से निकलकर आत्मा अपेक्षाकृत अधिक विकसित दशा में प्रवेश करती है। कभी-कभी अनेक कारणों से मस्तिष्क कोरी सम्मति तथा कोरी भावना की दशा से असन्तुष्ट हो जाता है। ऐसा तब अधिकतर तीव्र भान होता है जब नैतिकता के क्षेत्र में सम्मति के विषय परस्पर विरोध करते हैं। आगे चलकर प्लेटो उस मनुष्य की स्थिति का वर्णन करता है जो न्याय तथा सम्मान के सम्बन्ध में निश्चित विश्वास रखता है और उसी के सम्मुख यह प्रश्न उठता है कि न्याय क्या है, सम्मान क्या है? जब वह रटा हुआ उत्तर देता है तो विवेक उसका खण्डन करता है और बतलाता है कि जिसे वह न्याय मानता रहा है वह असल में अन्याय भी हो सकता है। यदि इस नयी जिज्ञासुता का उचित समाधान करना उसके वश में नहीं रहता तो वह सोचने लगता है कि सचमुच न्याय अथवा सम्मान नामक कोई वस्तु होती नहीं है। इसी प्रकार के परिणाम जब सामान्य हो जाते हैं तो दर्शन शास्त्र के यश को बड़ा धक्का पहुँचता है। प्लेटो ने यह सारा विवरण इस इरादे से दिया है कि अभिभावकों की सम्मति दशा में उन्हें जिस एकनिष्ठता का प्रशिक्षण दिया गया था, वह परमावश्यक है। वह ऐसी श्रद्धावस्था है जो बाधाओं की उपेक्षा करके तब तक उपलब्ध ज्ञान को अटलभाव से सहेजकर रखती है जब तक ज्ञान की *आगामी सीढ़ी पर दृढ़तापूर्वक पैर न जम जायें। नैतिक विचारों के ग्रहण में जो* सम्मोह उत्पन्न हुआ करता है वह लगभग वैसा ही भ्रम है जैसा पार्थिव विषयों के लक्षणों के सम्बन्ध में इन्द्रियों को होता है। इसी प्रकार की बाधा किसी किसी के चित्त में उत्पन्न होती है जिसके निवारणार्थ प्लेटो शिक्षाप्रणाली में विज्ञान को उचित स्थान देने का प्रस्ताव रखता है। यदि मनुष्य के मस्तिष्क को चिन्तन करना जरूरी है तो *यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि उस उत्तम रीति से और श्रेष्ठ* पद्धति से विचार करने में निपुण बनाया जाये।

अभी कुछ इन्द्रियसुलभ विषयों के बारे में कहा गया है कि वे विचारोत्तेजक होते हैं यही बात अब शिक्षा की समस्या में लागू करना है। जानना यह है कि कौन से ऐसे अध्ययन विषय हैं जो विचारशक्ति को उत्तेजित तथा स्फूर्ति प्रदान

करने में उपयोगी है। सबसे पहले अंकगणित को लीजिए जिसकी विषयवस्तु संख्या है। हम देखते हैं कि प्रत्येक पार्थिव विषय एक तथा अनन्त है जिस प्रकार शृंखला में एक ही कड़ी है जिसके अनेक जोड़ उस जंजीर बना देते हैं। अतएव एकत्व तथा नानात्व एक ही वस्तु में सन्निहित हैं और एक के ज्ञान से विविधता का ज्ञान तथा विविधता के ज्ञान से एक का ज्ञान सम्भव होता है। यही बात आप अंकगणितज्ञ से कहें तो वह आपकी हँसी उड़ायगा और कहेगा कि इकाई तो इकाई ही रहती है इसके अलावा कुछ नहीं हो सकती। स्पष्ट है कि वह इन्द्रिय गम्य इकाई का ध्यान नहीं करता, किन्तु कोई दूसरी बात सोचता है। इस सत्य को ज्यामिति ज्योतिष तथा संगीत में भी परखा जा सकता है। इनमें से प्रत्येक अपने इन्द्रियगम्य विषय का खण्डन करता हुआ-सा दिखायी देता है तथा विचार दृष्टि में वही विषय निराला और अविचल है। इस प्रकार विज्ञानों के अध्ययन से मस्तिष्क यह कुशलता प्राप्त करता है कि वह इन्द्रियजनित भ्रान्ति तथा विरोधाभास से अलिप्त होकर स्वच्छन्द विचार कर सकता है। इसी कारण विज्ञान शिक्षा के परमकुशल साधन हैं और यही साधन आत्मा को निरी इन्द्रियबोध अवस्था से प्रज्ञा की ओर ले जाने में समर्थ हैं। इनका अध्ययन केवल इसी ध्येय को निरन्तर समक्ष रखकर करना चाहिए।

प्लेटो की दृष्टि में विज्ञान की वर्तमान शिक्षा बहुत शोचनीय दशा में है। केवल उपयोगिता के उद्देश्य से विज्ञान का अध्यापन सर्वथा अनुचित है। उसकी राय में विज्ञान के ऐसे उपयोग अत्यन्त मूल्यवान हो सकते हैं—जैसे सैनिक कार्य के आकांक्षी व्यक्ति को ज्यामिति का अध्ययन करके उस ज्यामितिबोध उपार्जित करना चाहिए। प्लेटो का अभिप्राय यह है कि विज्ञानों के अध्ययन को व्यवसाय शिल्प कला आदि के सीमित लक्ष्य से बाँधकर रखना वास्तविक शिक्षा नहीं है अथवा केवल अत्यन्त सूक्ष्म अंश में उसे शिक्षात्मक अध्ययन कहा जा सकता है। जब तक राज्य अथवा अन्य किसी प्रेरणा के द्वारा विज्ञानों के अध्ययन को इन सीमित प्रयोजनों से परे प्रोत्साहन नहीं दिया जाता, तब तक शिक्षा का मान दण्ड बराबर गिरता जायगा। निश्चय ही विज्ञानों का अध्ययन उपयोगी होना चाहिए पर उपयोगी किस लक्ष्य के लिए? स्वयं प्लेटो भी उपयोगितावादी है परन्तु वह कहता है कि व्यवसाय, नौका व्यापार, और ऐसे अन्य कार्य जीवन के अन्तिम ध्येय नहीं हैं। ध्येय है सामोत्कर्ष सम्पूर्ण शक्ति लगाकर आत्मा के विकास का यत्न, परिणामतः श्रेष्ठ मानव ज्ञान का प्रयास। लक्ष्यवस्तु के प्रति जो दृष्टि होगी उसी के अनुरूप अध्ययन की भावना में गम्भीर परिवर्तन आ जाता है।

प्लेटो के अनुसार विज्ञानों के अध्ययन का यथार्थ मूल्य दो प्रकार से आंका जा सकता है। प्रथम बड़ी बात तो यह है कि विज्ञान हमें विचार करने की कला सिखाता है। विचारना अर्थात् प्रश्न करना। हमारे अनुभव में जो बाधाएं और सन्देह विरोधाभास आते हैं वे हमें प्रश्न के लिए बाध्य करते हैं। विज्ञान का उद्गम ही इस तथ्य से हुआ है कि आत्मा इन्द्रियजनित अनुभव में ऐसी बाधाएँ देखती है और उसे इनके निवारण की आवश्यकता प्रतीत होती है। इन्द्रियों के स्थूल ज्ञान पर चिन्तन का फल विज्ञान है। प्लेटो के वर्णनानुरूप सम्भ्रम या सम्मोह का अनुभव यदि मनुष्य ने कभी न किया होता अथवा इस सम्मोह से छुटकारा पाने का उसने कभी उपाय न सोचा होता तो विज्ञान की जननी जिज्ञासुभावना का अस्तित्व ही न होता। गणित विज्ञान व्यवहार में आता जब तक कोई चिन्तक ऐसे एकत्व की स्पष्ट धारणा बनाने का सतत प्रयास न करता जो वस्तुओं के ऐन्द्रिय अवलोकन से सर्वथा भिन्न है। किसी विषय का विज्ञान तभी सम्भव है जब विषय-सामग्री इस प्रकार पृथक् और स्पष्टरूप में कल्पित की गयी हो। सभी विज्ञान ऐसी बाधाओं की बोध से उत्पन्न हुए हैं और इन बाधाओं के हल करने में सफल हुए हैं। स्वाभाविक है कि जो विज्ञान आज विद्यमान हैं वही मस्तिष्क को विचारणा का प्रशिक्षण देने के श्रेष्ठ साधन हैं। उनमें से प्रत्येक के अध्ययन से प्रत्येक अध्येता व्यक्ति के मस्तिष्क को उसी प्रक्रिया का अनुभव मिलता है जिसके प्रयोग से पूर्ववर्ती मस्तिष्क उस विज्ञान का स्वरूप निश्चित कर सके थे। इन विज्ञानों को मूर्तिमान मेधा कहना चाहिए—वे चिन्तन फल के प्रतीक हैं। यदि आप विचार या चिन्तन करने के अभिलाषी हैं तो आप उन विज्ञानों का अध्ययन कीजिए जिनमें भूतकालीन चिन्तन में सशरीर विराजमान है क्योंकि स्वतः विचार करने की बाध्यता के बिना आप कुछ नहीं कर सकते। प्लेटो के अनुसार विज्ञान की शिक्षा का यही सबसे बड़ा काम है।

मति या मेधा का सबसे प्रारम्भिक रूप एक तथा अनेक के बोधसूचक विज्ञान से सम्बन्धित है। इसीलिए प्लेटो अंकविज्ञान को बिलकुल शुरू में स्थान देता है क्योंकि वह इस अर्थ विरोध पर चिन्तन करने का परिणाम है। इसके बाद ज्यामिति है जो दो आयामात्मक आकारों का अध्ययन है। फिर घनात्मक ज्यामिति अर्थात् तीन आयामात्मक ज्यामिति और ज्योतिर्विज्ञान यानि गतिशील ठोस पिण्डों का अध्ययन तथा अन्त में ध्वनिविज्ञान (Harmonics) है जो गतिशील पिण्डों से उत्पन्न ध्वनि का अध्ययन है। वैज्ञानिक शिक्षा का यह पाठ्यक्रम प्लेटो ने निर्धारित किया है। विज्ञानक्रम का प्रत्येक अगला कदम विषय की जटिलता में

वृद्धि करता है और प्लेटो हर विषय के सम्बन्ध में सचेत करता है कि केवल इन्द्रियसुलभ स्थूलबोध ही अध्ययन लक्ष्य न समझा जाय उसके साथ मति या मेधा का पूर्णतया सक्रिय होना जरूरी है।

यहाँ तक हम शिक्षा में विज्ञानों के नितान्त प्रत्यक्ष उपयोग पर विचार कर चुके हैं। एक दूसरा उपयोग भी है जो प्लेटो की दृष्टि में पहले से अभिन्न है। पहले ढंग से विज्ञान मस्तिष्क को विचार करने की कला का अभ्यास देता है तो दूसरे प्रकार के फलस्वरूप मस्तिष्क धीरे धीरे मूलतत्त्व के रूपों अथवा सिद्धान्तों का बोध पाता है। यही पहली सीढ़ी है जो सत् के बोध की ओर बढ़ने में सहायक होती है क्योंकि एकमात्र सत् समग्र अस्तित्वपूर्ण वस्तुजगत का परम नियामक है। हमें यह अटपटा लगता है कि प्लेटो विज्ञानों के अध्ययन को सत के अनुसन्धान का उपाय बताता है और तब यह पूछना स्वाभाविक है कि भला संख्या विज्ञान ज्यामिति आदि के अध्ययन का विश्व के मूलतत्त्व से क्या सरोकार है? इस जिज्ञासा का समाधान यह है कि प्रत्येक विज्ञान सत्ता या अस्तित्व की किसी खास शाखा उसके प्रकार अथवा रूप का निरूपण करता है। यह सत्ता केवल एक है जो अनेक रूपों का धारण करती है। ज्ञान का आदर्श यह है कि सत्ता पद्धति के किसी एक बिन्दु से दूसरे तक पहुँचने का सामर्थ्य सहज प्राप्त हो। यद्यपि संख्या आकाश और गति सत के सच्चे प्रकट रूप नहीं हैं और जो भौतिक विज्ञान इन विषयों का प्रतिपादन करते हैं उनका साधारण अर्थ में कोई नैतिक प्रभाव नहीं होता तथापि संसार की प्रत्येक वस्तु अन्ततः दैवी प्रज्ञा का आविर्भूत स्वरूप है। इसलिए इन अभौतिक विज्ञानों के अध्ययन को हम सत के लक्ष्य की ओर एक सोपान समझें। इसे आधुनिक भाषा में व्यक्त कर सकते हैं जैसा कतिपय आधुनिक दार्शनिकों ने किया है। प्रकृति के नियमों का अध्ययन संख्या, आकाश और गति से आरम्भ होने पर भी वस्तुजगत के मूल कारण का अध्ययन है चाहे वह कितने ही आरम्भिक ढंग का रहे। प्रकृति सर्वत्र कारण तत्त्व को मूर्त करती है अर्थात ईश्वर का संकेत देती है। इस क्रिया का अभिप्राय ही यह है कि समस्त प्राकृतिक नियम (जिन्हें भारतीय दर्शन में ऋत् की संज्ञा दी गयी है) ईश्वर के नियम हैं। इसीलिए संख्या का अध्ययन भी ईश्वर के नियमों का अध्ययन है।

इस प्रकार विज्ञानों की शिक्षा प्लेटो की योजना में दोहरे प्रयोजन की पूर्ति करती है। पहला यह एक प्रकार का मानसिक व्यायाम है दूसरा इससे मस्तिष्क निर्दिष्ट ज्ञान के कुछ निश्चित प्रारम्भिक रूपों से परिचित होता है जो विश्व में

व्याप्त सत्ता के आविर्भाव की सूचना देते हैं। प्लेटो के अनुसार यह अध्ययन हेतु विद्या की प्रस्तावना है उसमे विश्वसंगीत की लय का आरम्भ होता है जिसे सुनने का अभ्यास मानव जाति को करना है।

प्लेटो अपने प्रस्तावित प्रत्येक विज्ञान का प्रतिपादन जिस तरह करता है उससे हम वस्तुओं के इन्द्रियग्राह्य पक्ष और केवल बोध्य अथवा विचार सुलभ पक्ष का भेद एकदम दिखायी देता है। यह भी हम देखते हैं कि वह दूसरे पक्ष को पहले से अपेक्षाकृत अधिक यथार्थ मानकर निरूपित करता है। 'रिपब्लिक' के सतही पठन से हमारी पहली धारणा यह होती है कि प्लेटो अवलोकन तथा प्रयोग की प्रचलित प्रक्रिया की उपेक्षा करता है और इस ढंग से लिखता है मानो हम केवल कुछ स्वयंसिद्ध सूत्रों पर विचार करके उनके परिणामों के भरोसे प्राकृतिक नियम निश्चित कर सकते हैं। ऐसा सोचने का कारण यह है कि आधुनिक विज्ञान पद्धति से परिचित होने के फलस्वरूप हम प्लेटो के विचारों का अध्ययन भी तदनुकूल आशा से आरम्भ करते हैं। इसके साथ जो विशिष्ट आधुनिक शब्दावली हमारे मन में बनी रहती है उसे भी हम प्लेटो के लेखन में देखना चाहते हैं। सच तो यह है कि प्लेटो ऐसी एक भी बात नहीं कहता जो आधुनिक विज्ञान की भावना के व्यावहारिक पक्ष से पुष्ट न की जा सके।

प्लेटो के दृष्टिपथ के अत्यन्त प्रभावशाली उदाहरण ज्योतिष तथा ध्वनि विज्ञान की चर्चा में मिलते हैं। जहाँ तक अंकगणित तथा ज्यामिति का सम्बन्ध है हम उसके तद्विषयक विचारों को स्वीकार करना चाहेंगे। इससे कौन असहमत होगा कि अंकगणित संख्या के मूलभाव का विज्ञान है। यदि हम कहें कि हमने संख्या को देखा है या छुआ है तो हम स्वतः मान लेंगे कि हमारे कथन का ढंग अशुद्ध है। हम संख्या का अभ्यास कराने के लिए गोलीयन्त्र का उपयोग करते हैं। यह हम भलीभांति विदित है कि जिन गोलियों से गिनती सिखाकर संख्या का बोध कराया जाता है उनकी दृश्यता और स्पर्शता एक संयोगमात्र है तत्त्वतः आवश्यक नहीं है क्योंकि गोलियाँ सिर्फ प्रतीकात्मक हैं जो विचार ग्राह्य संख्याभाव की व्यंजना करती हैं। ज्यामिति के विषय में प्लेटो का मत आक्षेपजनक माना जा सकता है। वह मानता है कि कागज पर खींचा गया दृश्य तथा स्पर्श्य त्रिभुज हमारे विचार का यथार्थ विषय नहीं है बल्कि त्रिभुजता के वास्तविक विषय का व्यंजनात्मक प्रतीक है जो छुआ नहीं जा सकता देखा नहीं जा सकता, केवल विचारा जा सकता है। इस व्याख्या से हम कैसे असहमत होंगे? किन्तु निश्चय ही स्वयं त्रिभुजता भी जो हम देखते हैं छूते हैं उस

पर विचार करने का परिणाम है। इस तर्क के आधार पर सम्भवतः हम प्लेटो के इन्द्रियगम्य अनुभव तथा विचार सम्बन्धी परस्पर विरोध पर आपत्ति कर सकते हैं। वह इस तथ्य की अवज्ञा नहीं करता, और यदि हम उसकी भाषा को प्रामाणिक नहीं मानना चाहते तो सारी समस्या फिर यह होगी कि इन्द्रियगम्य अनुभव से हमारा तात्पर्य क्या है। लेकिन जब प्लेटो ज्योतिष तथा ध्वनिविज्ञान का विषय छेड़ता है तो उसके प्रतिपादन की शैली हम प्रारम्भ में चौंका देती है। उसने ग्लाकन से यह कथन प्रस्तुत कराया है कि ज्योतिर्विज्ञान में विशाल शैक्षणिक क्षमता है क्योंकि वह हमारी मेधाशक्ति का नक्षत्रों की ओर देखने में कुशल बनाता है। ग्लोकन का ख्याल है कि नक्षत्रों की ओर निहारते रहने से आत्मा प्रबुद्ध बनती है। इस बात पर सुकरात उसका मजाक उड़ाता है। फिर प्लेटो कहता है कि मनुष्य जीवनभर भले नक्षत्रों को देखता रहे तब भी वह उनके परिक्रमण से सर्वथा अनभिज्ञ रहेगा। यह नहीं है कि नक्षत्र के अवलोकन के बिना भी ज्योतिर्विज्ञान के सत्य की उपलब्धि की जा सकती है। यही बात वह बार बार कहता है कि ज्ञान की प्राप्ति आंखों और कानों के द्वारा होता है। सवाल यह है कि क्या सिर्फ देखते रहने से हम ज्योतिर्विज्ञान का सत्य प्राप्त कर सकेंगे? गुरुत्वाकर्षण के नियम का बोध न्यूटन को कभी नहीं होता यदि वह आंखों का उपयोग न करता, किन्तु यदि हम इसी कारण यह कहें कि पेड़ से टपकते हुए सेव की पतनक्रिया में न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का नियम देखा था तो हम 'देखना' शब्द में साधारण अर्थ से भिन्न अर्थ का आरोप करते हैं और यदि हम विवेकसंगत रहना चाहें तो हम बिलकुल नया शब्द रचना का अनुसरण करना चाहिए।

प्लेटो नक्षत्रों की दृश्यमान गति से उनकी यथार्थ गति का भेद लगातार बतलाता रहा है परन्तु उसका आशय यह नहीं है कि भासमान गति साधारण अर्थ में असत्य अथवा अयथार्थ है। हमारे समान वह भी प्रत्यक्ष गति में यथार्थ गति का भेद प्रकट करता है। कोई नहीं कह सकता कि सूर्य के उदय अस्त की प्रत्यक्ष गति उसकी गति का वास्तविक स्वरूप है। आज कोई नहीं मान सकता कि सूर्य जैसा चलता हुआ दीखता है सचमुच वैसा वह चलता है। लेकिन इसी के साथ यह बात भी कोई नहीं स्वीकार करेगा कि समयानुसार आकाश के भिन्न भिन्न भाग में सूर्य जैसी स्थिति में दिखायी पड़ता है वह सत्य नहीं है। यथार्थ तथ्य तो यही है इसे हम प्रतिदिन देखा करते हैं न! इस तथ्य का भावार्थ क्या है? यही भावार्थ विचार की क्रिया है। हम इस सहज अवलोकन को दूसरे बहुतेरे अवलोकनों के साथ मिलाकर एक भासमान रूप को दूसरे रूपों के सन्दर्भ में

सद्भावित करते चलते हैं। अन्त में एक उपकल्पना हाथ लगती है जो इन सारे अवलोकनों का लेखाजोखा लेकर प्रकट होती है। हम सब मानते हैं कि कपलर तथा न्यूटन के अन्वेषित सत्य ज्योतिर्विज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्तियों के आकस्मिक अनुमानों की अपेक्षा अधिक वास्तविक हैं। किस प्रकार अधिक वास्तविक है? (क्योंकि एक मानी में हमारा हर अनुभव जितना तथ्यात्मक है उतना ही वास्तविक है।) एक और दूसरे तथ्य में अन्तर क्या है? सर्वाधिक यथार्थ तथ्य वही हैं जिनमें सर्वाधिक सर्वव्यापक और सर्वगूढ़ का समावेश है। सबसे सतही तथ्य केवल अनुभूततथ्य है जिनमें न्यूनतम का समावेश हो। गति के नियम तथ्य हैं। ठीक वैसी ही वे वस्तुएं हैं जिन्हें मैं आकाश में देखता हूँ। इन तथ्यों से जो भेद उत्पन्न होता है वह उतना ही है जितना इनके समझ लेने की योग्यता से मनुष्य को ज्ञान प्राप्त होता है। सूर्य को देखने का मेरा तथ्य मुझे उसके सम्बन्ध में प्रायः कुछ नहीं बताता किन्तु अवलोकन का यह तथ्य उपेक्षा की वस्तु नहीं है। इसे महानतम ज्योतिर्विज्ञानविद् भी नहीं कर सकता बल्कि इस अवलोकन तथ्य का ही उपयोग बराबर अधिकाधिक किया जाता है। ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है जिससे अनुभवसिद्ध तथ्यों और मूलभूत तत्त्वों के विभाजन का भेद खुल जाये। तथ्य तभी तक अनुभवसिद्ध रहता है जब तक वह मूल कारण से विलग है। न्यूटन द्वारा प्रतिष्ठित सामान्य सिद्धान्त एक विलक्षण तथ्य है जो अगणित तथ्यों को सलग्न करता है और जिसके भीतर असख्य तथ्य भरे पड़े हैं। वह इसीलिए केवल एक विशाल तथ्य है। प्लेटो यही कहता है कि नक्षत्र मण्डल के दृश्य परिक्रमण ऐसे उदाहरण माने जाय अथवा ऐसे प्रतीक समझे जाय जो हमें यथार्थ सम्बन्धों का विचार करने की प्रेरणा देते हैं। वे अयथार्थ नहीं हैं क्योंकि वे दृष्टिभ्रम या स्वप्न या असत्य नहीं हैं।

स्वरशास्त्र या ध्वनिविज्ञान असल में गतिविज्ञान की एक शाखा है। प्लेटो कहता है कि गति की विविध शाखाएं हैं। आँख से दीखनेवाला नक्षत्र गति और कुछ वस्तुओं की गति के कारण कान से सुनायी देनेवाली ध्वनि—इन दो शाखाओं को ही वह चुनता है। उन पेशेवर गायकों की वह हँसी उड़ाता है जो यह समझते हैं कि कान से जैसा सुनाई देता है उसीमें ध्वनि विज्ञान निहित है अथवा उसी से इस विज्ञान का शोध किया जा सकता है। उनका यह ख्याल भी उपहासास्पद है कि जिस व्यक्ति के कान संगीत को परखने में कुशल हैं और जो उसके सूक्ष्म स्वरान्तराल की अनुभूति करने में पटु हैं वही मनुष्य ध्वनिशास्त्र का ज्ञाता है। फिर वह पाइथागोरस के अनुयायी सिद्धान्तकारों की आलोचना करता है। संगीत

के स्वरान्तरालों की गणितशास्त्र के सूत्रों में व्यक्त करने की पद्धति का पाइथा गोरस का अन्वेषण कहा जाता है। परन्तु बिलकुल ठीक तरह से कोई नहीं जान पाया है कि इन लोगों ने किस चीज का अन्वेषण किया था अथवा अन्य ग्रीक सिद्धान्तकार संगीत के विषय में क्या खोज सके थे। प्लेटो पाइथागोरस के अनु यायियों की सराहना करता है कि उन्होंने स्वरैक्य के नियमों की छानबीन की थी किन्तु वह उनके प्रयत्न को सर्वथा धरातलीय मानता है। उन लोगों का अन्वेषण श्रवणीय स्वरान्तराल और स्वरैक्य तक ही सीमित था तथा इन्हीं के लिए उन्होंने सख्यात्मक सूत्र बनाये। परन्तु उनकी जिज्ञासा सामान्यतः इस बात में अग्रसर नहीं हुई कि स्वरैक्य सम्बन्धी संख्याएँ क्या हैं या क्या नहीं हैं तथा प्रत्येक को किस तरह से मापा जाये। तात्पर्य यह है कि स्वरग्राम अथवा सरगम के सहज स्वरान्तरालों को उन्होंने संख्या में सूत्रबद्ध तो किया है लेकिन उन्होंने स्वतः स्वरैक्य का विवेचन नहीं किया और यह भी स्पष्ट नहीं है कि ध्वनियाँ किस मूल नियम के अनुसार स्वरैक्य में आबद्ध होती हैं। यह प्रश्न महान् विचारकों के चिन्तन का विषय रहा है। प्लेटो यह नहीं कहता कि संगीत तुच्छ है, उसे स्वर शास्त्र में घटित करना चाहिए। परन्तु यदि आप ऐसा समझते हैं, सिर्फ इस कारण कि आपके कान स्वरताल में सध चुके हैं तो आपकी यह धारणा गलत है कि आप संगीतशास्त्र के परिज्ञाता हैं। कितना भी संगीत आप क्यों न सुना करें उससे यह प्रमाणित नहीं होता कि आपको स्वरग्राम या सरगम के आधारभूत नियमों का बोध है।

उपर्युक्त विचार विमर्श से हम लग सकता है कि प्लेटो सम्पूर्ण विज्ञान के मूल सिद्धान्तों को सचमुच समझता था। बारीकी से देखें तो उसकी भाषा और दिल की इसी विषय के प्रतिपादन की भाषा में नाममात्र का अन्तर मिलेगा। परन्तु उसकी अभिव्यक्ति आपत्तिमूलक हो जाती है जब वह यथार्थ गति को उस गति से भिन्न कहने लगता है जिसे हम प्रत्यक्ष देखा करते हैं। हमारे प्रत्यक्ष अनुभव की गति का सत्य ही गति के सिद्धान्त हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान विषयक नियमों का पूरा बोध जिस व्यक्ति को हो गया है वह प्रत्यक्ष ज्ञान विषय को आसानी से समझ लेगा क्योंकि उसकी दृष्टि इन दो अलग अलग विषय नहीं मानती। यदि प्रत्यक्ष ज्ञान विषय के सम्पूर्ण नियम उसे सुबोध्य हो गये हैं तो इन्द्रियगम्य सनही व्यापार शेष ही नहीं रहता। कारण कि जो कुछ वह देखता है सुनता है अथवा छूता है वह सब उन नियमों की अभिव्यक्ति होगी जिनको देखा सुना या छुआ नहीं जा सकता। प्रत्यक्ष ज्ञान विषय का ऐसा बोध उसका यह जानने में सहायक बना देगा

है कि जो कुछ पहले आँख कान अथवा त्वचा से वह समझ चुका है, स्वत उसकी मनोदशा बदलजाने पर दृष्टि श्रवण अथवा स्पर्श की सम्वेदनाएँ भी बदल जाती हैं। अतएव प्लेटो का अध्ययन करते समय हम मिथ्या प्लेटोवाद से सावधान रहना चाहिए जो अनुभव को इन्द्रियगम्य और बोधगम्य जसे दो ससारो म बाँट देता है। अगर आप इनम से बोधगम्य ससार का परिचय पूछेगे तो इतना ही कहा जा सकता है कि यह इन्द्रियगम्य ससार की धुधली प्रतिकृति मात्र है। प्लेटो के लेखन म इस तरह के मिथ्यार्थ का मौका आता है परन्तु स्वय उसने इन्द्रियगम्य और बोधगम्य के बीच कोई स्थूल रेखा नही खीची। निश्चय प्लेटो का कथन यह है कि इन्द्रियगम्य ससार वास्तव म बोधगम्य तत्त्व की प्रतिच्छवि मात्र है एक दूसरे से मूलत सम्बद्ध है। वह केवल इतना ही करता है कि समस्त विज्ञान तथा दर्शन जिस मूलभाव पर आधारित है उस तथ्य की तीव्र प्रतीति तथा उसके विस्तार का विवेचन करता है। उसके मतानुसार केवल सुविचार स ही सत्य का यथोचित बोध हो सकता है मनोवेगो के सहज अनुभव अथवा इनके एकत्रित प्रयोग स नही। अतएव सत्य बोधगम्य तत्त्व है इन्द्रियग्राह्य नही। वह विवेक बुद्धि का भाष्य है अथवा प्लेटो के ढग से सचेतन अनुभव, सत्य का प्रतीक है प्रतिकृति है सत्य का साझेदार है।

इस मत को ठीक तरह ग्रहण करने मे यह कठिनाई है कि सहजबुद्धि निश्चित रूप से जो कुछ हम देती है तथा विचारक्रिया से हमे जो उपलब्ध होता है उसका ज्ञान कैसे हो? भाषा के भरोसे हम ऐसा मान लेते हैं कि अवलोकन के द्वारा हम ठीक ढग से जाँच करके कुछ तथ्य सग्रहीत करते हैं और फिर उन्ही के आधार पर कोई मत स्थिर किया जाता है। किन्तु वास्तव में जाँचने की प्रक्रिया इन्द्रिय सुलभ अवलोकन के प्रारम्भिक छोर से विचारजन्य सर्वोत्कृष्ट सामान्य नियमो तक एक सतत प्रवाह है। इस प्रक्रिया के एक अश म हम सहजबुद्धि से विचलित होते दिखायी देने लगते हैं किन्तु उस दशा मे भी निरन्तर सहज तथ्यो को त्यागते नही बल्कि उनका समुचित स्पष्टीकरण करते हुए उन्हीं को क्रमश अधिक विस्तृत और व्यापक सम्बन्धो से जोड देते हैं। जसा प्लेटो कहता है कि इन्द्रियज्ञान ही बोधग्राह्य सत्य का प्रतीक है उसी तरह हम कह सकते हैं कि हम गति के नियमो को देखते या सुनते नही हैं परन्तु जो कुछ हम देखते या सुनते है वही उन तथ्यो के अग हैं जो इन नियमो द्वारा व्यक्त होते है। प्लेटो जिसे विचार या प्रज्ञा कहता है, उसकी प्रगति का आशय यह है कि अभ्यास के साथ हमारी अनुभूति तीव्र होती चलती है जबकि इसके पहले की मनोदशा मे इन्द्रियज्ञान के कारण वस्तु

समार हम अस्तव्यस्त लगता था। इस प्रगति को ठीक तरह समझने के लिए हम संगीत का उदाहरण लेते हैं। यदि हम संगीतशास्त्र से अनभिज्ञ हैं और यदि पहलीबार वीणा की झकार सुनते हैं तो इसका कुछ प्रभाव हम पर पड़ता है। इस प्रभाव की तुलना संगीतज्ञ अथवा संगीतरसिक के अनुभव से कीजिये। प्रथमबार वाद्ययन्त्र की ध्वनि के प्रभाव से अभ्यासजनित संगीत के अनुभव तक एक प्रकार की प्रगति होती है। संगीत का पारखी गान के स्वरों की ठीक पहचान कर सकता है, दो स्वरों के बीच की अवधि को समझता है और उसे संगीतजनित आनन्द की अनुभूति होती है। दोनों प्रकार के अनुभवों को समझ लेने पर हम सहज ही उस प्रक्रिया का अनुमान लगा सकते हैं जो इन्द्रियज्ञान के अस्तव्यस्त अनुभव से आगे बढ़कर वस्तुजगत् के स्पष्टबोध तक पहुँचती है। इसी प्रक्रिया को प्लेटो विचार की प्रगति कहता है।

सहजबुद्धि और विचार के सम्बन्ध की पूरी तरह जाँच करने के लिए प्रत्येक बात को इन प्रश्नों से परखना जरूरी है प्रथम सहजबुद्धि का आशय क्या है? दूसरे, इन्द्रियगम्य अनुभव में हम सचमुच कितना अनुभव पाते हैं? तीसरे अनुभूत वस्तु का अपेक्षाकृत अधिक बोध प्राप्त करने पर जो परिवर्तन होता है उसका स्वरूप क्या है? (इस परिवर्तन को विचार के अधिक स्वच्छ होने की प्रक्रिया मानने में प्रत्येक व्यक्ति सहमत होगा।)

३ हेतुविद्या (तर्क न्याय)

हेतुविद्या अथवा न्यायशास्त्र की प्रथम सीढ़ी विज्ञाता की शिक्षापद्धति है जिसका केवल यह प्रयोजन है कि उसमें अभिभावक कुशल नैयायिक बन सकें परन्तु रिपब्लिक में प्लेटो हेतुविद्या का प्रयोग किस निश्चित अर्थ में करता है—इसे ठीक तरह समझने में कई कारणों से कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। इस विषय में और दूसरे विषयों में भी खासतौर पर विचारों की मानसिक रूपरेखा को निश्चित सिद्धान्त जैसा प्रकट करने में प्लेटो पूर्ववर्ती चर्चा के बहुतेरे भाग को जमा का तैसा मानकर चलता है। इसलिए रिपब्लिक में यहाँ जो कुछ बताया गया है वह उसके मनोभाव का संकेतमात्र है, विवरण नहीं है। वह हेतुविद्या शब्द का उपयोग आदर्श विचार के अर्थ में बार-बार करता है लेकिन यह आदर्श विज्ञान भी क्या वस्तु है—इसके बारे में केवल सामान्य विचार भर दे पाता है। इस सामान्य विचार का अभिप्राय समझने का काम प्रत्येक व्यक्ति की कल्पना पर और मानव-जाति की उन्नति के भरोसे छोड़ दिया जाता है। इतना ही नहीं

रिपब्लिक' मे तथा उसके दूसरे ग्रन्थो मे भी प्रस्तुत अर्थ के अलावा दूसरे अर्थों मे भी इस हेतुविद्या शब्द का उपयोग हुआ है।

मूलत इस शब्द का अर्थ, व्याख्यान की कला अथवा प्रक्रिया है प्रश्नोत्तरी है। किसी वस्तु के विषय मे दूसरे व्यक्ति को विवरण देना और उस वस्तु का विवरण दूसरे से प्राप्त करना तथा उसके विवरण को ठीक तरह समझना—इतना भावार्थ इस ग्रीक शब्द म व्युत्पत्ति के अनुसार है। ग्रीक भाषा म इस शब्द का विवेकशक्ति के अभिप्राय म नित्य व्यवहार होता है। यह भी अर्थ इसमे भरा है कि जिस वस्तु का आप बात करते है उसकी बिलकुल निश्चित परिभाषा आप दे रहे हैं। मनुष्य जिस वस्तु को ठीक तरह समझता है, केवल वही उसका यथोचित विवेचन करके दूसरो को समझा सकता है। जब तक आप खुद नही समझेंगे तब तक किसी वस्तु का समुचित बोध दूसरो को करा ही नही सकते। इस मानसिक क्रिया की शक्ति से ग्रीस के साधारणजनो का ध्यान आकर्षित हुआ था और अरस्तू ने तर्कशास्त्र के विषय पर लिखते समय इस क्रिया का विशद उल्लेख किया है। इस माने म टापिका (Topica) व्यावहारिक तर्कविद्या का एक विशद निबन्ध है अर्थात् वह तर्कविद्या जिसका उपयोग परस्पर वार्त्तालाप के प्रयोजन से समाज मे हुआ करता है न्यायालयो म विज्ञान की खोज म और ऐसे अन्य विषयो म होता रहता है। किन्तु आप स्वय जैसा विचार करते है उसका विवरण देने की कला से यह कम महत्त्वपूर्ण नही है कि आप दूसरो से उनकी सम्मति अथवा उनके विश्वास को प्रकट करा लें। प्रश्न करने की कला जितनी कठिन और महत्त्वपूर्ण है, उतनी ही उसका उत्तर देने की क्षमता भी है। प्रत्येक जिज्ञासु के मन मे प्रश्न प्रक्रिया के अनुरूप क्रिया उत्तर की अपेक्षा म निरन्तर चलती रहती है।

सुकरात क्षेनोफन के मेमोरेबिलिया (Memorabilia) में कहता है कि हेतुविद्या शब्द जनसमूह से एकत्रित होकर विचार विमर्श करने के अभ्यास से बना है—अर्थात् इस प्रकार जिन वस्तुओ के बारे में परिचर्चा हुई उन्हे समान गुण धर्म के आधार पर पृथक पृथक करने की क्रिया हेतुविद्या शब्द से व्यक्त की जाती थी। सुकरात की राय है कि प्रत्येक व्यक्ति को इसका अभ्यास करके स्वत इस विद्या में प्रवीण हो जाना चाहिए क्योंकि इसी से श्रेष्ठ मनुष्य जननेता तथा व्याख्यान विशारद बनते हैं। प्लेटो के ढग की हेतुविद्या का बीज यही है। ग्रीक तर्कविद्या तथा विवेकशक्ति के विषय में यह स्मरणीय है कि ग्रीस का दर्शनशास्त्र अधिकाशत मौखिक परिचर्चा का फल है। ग्रीस असाधारण वक्ताओ या वाचालो

का राष्ट्र था। इसीलिए वक्रतत्वकला अत्युक्ति शैली और काव्य ही नहीं बल्कि शब्दकला के दूसरे अंग यथार्थ और खण्डनात्मक तर्कविद्या अत्यधिक विकसित दशा में पहुंच गयी थी। सुकरात जीवनपर्यंत वार्तालाप करता रहा और इस सचाई का प्रभाव ग्रीक दर्शन पर कभी कम नहीं हुआ। सुकरात के जीवनभर का अभ्यास ही प्लेटो ने अपने लेखन में सूत्रबद्ध करके प्रस्तुत किया है। प्लेटो ने हेतुविद्या (Dialectic) शब्द को उसी तरह अपनाया जिस प्रकार तर्कशास्त्र (Logic) को कोई भी अपना ले और उसमें ऐसे भावार्थ का समावेश किया जो फिर कभी पूरी तरह क्षीण नहीं हो सका। उसके लिए इस शब्द का प्रथम और परम प्रचलित अर्थ था—प्रामाणिक तर्कसंगत प्रणाली जो मिथ्या अथवा कल्पित प्रणालियों से विपरीत हो। दूसरे वह ज्ञान पद्धति का नहीं किन्तु सम्पूरित ज्ञान का सूचक है अथवा प्रामाणिक विधि द्वारा ज्ञान की समस्त शाखाओं का पूर्णत अध्ययन करने पर जिस परिणाम की हम कल्पना कर सकते हैं वह भावार्थ इस शब्द में भरा हुआ है।

इनमें से प्रथम अभिप्राय बदलकर कोरे व्याख्यान के बजाय वह व्याख्यान हो गया जिसका उद्देश्य सत्य की उपलब्धि है। यह व्याख्यान दो व्यक्तियों में भी हो सकता है अथवा अंतरात्मा स्वयं अपने आपमें मूक सम्वाद करती है। प्रश्न यह है कि व्याख्यान का अर्थ रखनेवाले शब्द को नानाजन की प्रामाणिक विधि का सूचक क्या समझा जाये? इस प्रकार के भावार्थ से हमें प्लेटो के इस विश्वास का संकेत मिलता है कि सत्य की दिशा में केवल धीरे धीरे बढ़ना सम्भव है, प्रत्येक कदम हम अपने ही विचार विवेक से रखना पड़ेगा तब कहीं आगे की युक्ति सूझेगी और इस काम के लिए प्रश्नोत्तर ही स्वाभाविक प्रक्रिया है। मन से सत्य को बाहर लाने के लिए और उसमें सत्य की प्रतिष्ठा करने के लिए प्लेटो की प्रश्नोत्तर सम्बन्धी धारणा उसके शिक्षा विषयक विचार से जुड़ी हुई है। कोई बाहर की चीज मन में रखने की रीति शिक्षा नहीं है क्योंकि मन सन्दूक के समान नहीं है, आत्मा के नेत्र प्रकाश की दिशा में फेर देने की कला है शिक्षा। शिक्षा ऐसी प्रक्रिया है जिससे आत्मा के भीतर बसा हुआ ज्ञान उजागर होता है इस प्रक्रिया में ज्ञान पिपासु आत्मा स्वयं कार्यशील हुआ करती है। यही कारण है कि प्लेटो की रचनाओं में निरंतर विषमता देखने को मिलती है जो तत्कालीन प्रसिद्ध उपदेशकों के अटूट भाषणों और सुकरात के सम्भाषणों को अलग अलग करती है। उसकी निष्ठा है कि ज्ञान के संचार का सही तरीका दो मनीषियों का संयोग है। इसीलिए फियड्रस (Phaedrus) में प्लेटो बतलाता है

कि वाचिक सत्य से लिखित सत्य कितना हल्के दर्जे का है क्योंकि पुस्तक उन *प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकती जो पाठक के मन में पठनक्रिया के समय उत्पन्न* होते हैं। व्यक्तिगत मन की विचारशक्ति को भी यही नियम लागू होता है क्योंकि यदि हम सचमुच कुछ सीखना चाहते हैं ज्ञान को अपना बनाना चाहते हैं तो हमें पुस्तक के तथ्यों को मस्तिष्क में संग्रहीत करके सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए—स्वयं प्रश्न करके उनका समाधान स्वतः खोजना चाहिए।

हेतुविद्या सच्चे तर्कशास्त्री की विवेकशक्ति है और वह तथ्यों के अनुरूप होने के कारण ही विवेकशक्ति कहलाती है। यह उस विवेकशक्ति से भिन्न है जिसका उपयोग *विवाद में प्रतिवादी को किसी प्रकार परास्त करने के लिए होता है।* ऐसी विवेकशक्ति का लक्षण यह है कि वह वस्तुओं के नामों पर तर्क को आधारित करती है यानी सिर्फ शब्दों की लड़ाई होती है। पंचम अध्याय के एक परिच्छेद में प्लेटो ने इसका वर्णन करते हुए इसे केवल वाक्युद्ध कहा है। इसीलिए यह हेतुविद्या के विपरीत क्रिया है जो प्रश्नास्पद वस्तुओं के रूपों का विचार करती है (अर्थात् प्रत्येक विषय में नाम जितने निश्चित तथ्यों का संकेत करता है उन्हें विवेकशक्ति स्पष्ट रीति से अलग-अलग पहचानती है।) अतएव संदर्भित परिच्छेद में जहाँ सुकरात स्त्री और पुरुष के रुचि समुदाय की चर्चा करता है वहाँ आक्षेपक से यह तर्क कराया जाता है कि स्वयं सुकरात के नियमानुसार भिन्न भिन्न प्रकार के स्वभाव के लिए भिन्न भिन्न रुचियों को निश्चित करना चाहिए अथवा जिसका जैसा स्वभाव हो उसे वैसी ही रुचि का पात्र समझना चाहिए। सुकरात ऐसे *तर्क को वितण्डा या वाक्कलह मानता है।* जो व्यक्ति इस ढंग से विवाद करता है वह 'भिन्न भिन्न स्वभाव' और 'भिन्न भिन्न रुचि'—शब्दों के पीछे पड़ा है तथा एक शब्द को पकड़कर दूसरे का पीछा करता है। कितने विशिष्ट प्रकार की भिन्नताएँ हैं—वह इस छानबीन का कष्ट नहीं उठाता। ऐसा तर्क करनेवाला इस खास प्रसंग में यह जानने का यत्न नहीं करता कि स्त्री और पुरुष के स्वभाव की भिन्नता के कौन से विशिष्टरूप है और भिन्नता के कौन से विशिष्टरूप के लिए कौन सी आजीविका उचित मानी जायेगी। प्लेटो विवेकशक्ति के विषय में गुण के कुछ स्थूल भेदों की कल्पना से विचार आरम्भ करता है। ये भेद निरन्तर रहते हैं चाहे उन्हें पहचानें या न पहचानें। यथार्थ विवेकशक्ति का काम यह है कि वह इन भेदों को उजागर करे और उन्हें समझकर निर्णय करे। साधारण भाषा में कुछ भेद स्थिर हो गये हैं उसकी शब्दावली में वस्तुओं का एक श्रेणीकरण रहता है *जिसका उपयोग साधारण लोग किया करते हैं। लेकिन अक्सर*

ये भेद सचमुच नहीं होते अथवा वे बिलकुल ठीक तरह के भेद नहीं हैं, वे सब कामचलाऊ मतलब रखते हैं, इसीलिए वह प्रामाणिक तर्कशास्त्र शब्दों के मामूली उपयोग और मामूली ढंग की परिचर्चा का नित्य विरोध और आलोचना करता है। वह शब्दों म समुचित उपयोग को जानने की विधि है अर्थात् शब्दों का किस प्रकार उपयोग किया जाये ताकि व वक्ता की मिथ्या धारणाओं को प्रकाशित करने के बजाय वस्तुओं के यथार्थ गुणों का, ससार की वास्तविक व्यवस्था का बोध करा सकें।

इस दृष्टि से प्लेटो ने हेतुविद्या की विधि का जो वर्णन किया है, उसे समझने के लिए विश्व रचना की एक निश्चित कल्पना से परिचित होना जरूरी है। ज्ञान प्राप्ति की विधि के सम्बन्ध म प्रत्येक मनुष्य की कल्पना अन्तत सत्य के स्वरूप-सम्बन्धी उसकी धारणा से ही परखी जा सकती है। चिरकाल से मनुष्य ने तथ्यात्मक विवेकशक्ति और तथ्यरहित विवेकशक्ति में भेद माना है। प्लेटो वस्तुमात्र के मूलभाव की आध्यात्मिक कल्पना करता है। इसी का प्रतिबिम्ब उसके द्वारा प्रस्तावित ज्ञान-पद्धति की कल्पना म मिलता है। यदि हम ससार का पूर्णबोध हो जाय तो वह कैसा ससार होगा— इसकी कल्पना प्लेटो ने की है। उसके अनेक सम्वादों से स्पष्ट है कि उसने ससार को समष्टि के सन्निबद्ध रूप में कल्पित किया था। हम इसे जीव कह सकते हैं अथवा इस अन्तराश्रित अगयुक्त सम्पूर्ण रचना कहा जा सकता है जिसका प्रत्येक अग या भाग दूसरे अगों या भागों के और साथ-साथ समष्टि के सन्दर्भ म समझा जा सकता है। इसकी प्रत्येक शाखा लघुत्व की सीमा म भी समष्टि के मौलिक लक्षणों को व्यक्त करती है। (भारतीय दर्शन की भाषा मे कहें तो अणु भी महत् के सम्पूर्ण मूल गुण अभिव्यक्त करता है।) जब विश्व की यह व्यवस्था है तब वस्तुमात्र के किसी भी अनुसन्धान में हम इस प्रकार प्रवृत्त होना चाहिए कि हम इस व्यवस्था का दर्शन कर सकें। वस्तु के इस लक्षण के अनुसार विवेकशक्ति का मूलभाव निश्चित किया जा सकता है—प्लेटो इसी तरह से विवेकशक्ति की कल्पना करता है। जैसी वस्तु हो उसी के अनुरूप विवेकशक्ति का मूलभाव रहना चाहिये। इसे वह फेयड्रस (Phaedrus) म दृष्टान्त से समझाने का प्रयत्न करता है। ज्ञानवान की मूलवृत्ति एक पिण्ड के समान है। फिर इसी सम्वाद म वह अनाड़ी तर्ककर्त्ता की तुलना मूर्ख रसोइये से करता है जो पिण्ड की स्वाभाविक सन्धियुक्तता को समझे बिना जोड़ या ग्रन्थियों को आरपार काट देता है। इस प्रकार एक आंगिक समष्टि के रूप म विश्व की कल्पना प्लेटो के ज्ञान-सम्बन्धी विचार को परम श्रेष्ठ गुण प्रदान करती है।

वह अपने प्रमुख विचार को अभिव्यक्त करते हुए कहता है कि समग्र ज्ञान अनेक में एक तथा एक में अनेक' के निरूपण से उभरता है। जीवधारी के भाव को समझने के लिए यह तकनीकी अभिव्यंजना है क्योंकि प्रत्येक जीव अनेक में एक है उसके हर अंग का बोध उस समष्टि के सन्दर्भ में ही हो सकता है और समष्टि अंगों में समाहित है। केवल एक की ओर या केवल अनेक की ओर ध्यान देने से कुछ नहीं समझा जा सकता। फाइलेबस (Philebus) में यह विचार विस्तार से समझाया गया है वहाँ प्लेटो संकेत करता है कि वस्तुमात्र में एकत्व तथा नानात्व के सह-अस्तित्व का मूलभूत तथ्य ही हेतुविद्या का स्रोत है। हम विश्व में कहीं भी परखी लगायें अनेक में एक मिलता है। जहाँ कहीं हम किसी वस्तु की सत्ता का अभिधान करते हैं हम देखते हैं कि उसके सम्बन्ध में एक से अधिक वस्तुओं का अभिधान करना सम्भव है। यह भी नित्य विदित होता है कि प्रत्येक वस्तु किसी प्रजनन तत्व, नियम या सिद्धान्त का विशिष्ट मूतरूप है अथवा यदि वह स्वतः कोई भावात्मक सिद्धान्त या वस्तुमात्र का गुणधर्म है, तो वह विविध प्रकारों में मूर्त होने पर भी उन सभी में अपने एकत्व को अक्षुण्ण रखता है। (पंचम अध्याय में इस कल्पना से हम पहले ही परिचित हो चुके हैं।) अतएव जरूरी है कि वस्तुज्ञान को प्राप्त करने की ऐसी परिपाटी होनी चाहिए जो इस मूलभाव की मान्यता पर आधारित हो। तदनुसार ज्ञान की परिपाटी होनी चाहिए जो इस मूलभाव की मान्यता पर आधारित हो। तदनुसार ज्ञान की परिपाटी के आशय से हेतुविद्या एक दोहरी प्रक्रिया हो जाती है जो वस्तु समुच्चय (अन्वय) और श्रेणी विभाग (व्यतिरेक) पर आश्रित रहती है। इसका तात्पर्य यह है कि अनेक में एक की दृष्टि से ही जब सदैव सत्य का बोध सम्भव है तो उसकी प्रतीति के दो विकल्प हो सकते हैं उसके विविध प्रकारों की छान बीन से आरम्भ करके उस एकत्व की प्राप्ति करें जो सर्वत्र वस्तुसंघ में व्याप्त है अथवा एक मूलनियम या सिद्धान्त से आरम्भ करें और देखें कि अनेक प्रकारों में उसे किस विधि से विभाजित किया जा सकता है।

हमें स्वीकार करना होगा कि प्लेटो के युग से आज तक वैज्ञानिक पद्धति के यही दो पहलू इस सरल विधा में माने जाते हैं। आगमनात्मक तर्क (अवयव द्वारा अनुमान) में विभिन्न प्रकार के पदार्थों का परीक्षण करके उनके अन्तवर्ती सनातन नियम या सिद्धान्त को निश्चित किया जाता है जो सिद्धान्त समुच्चय की विधि है। निगमनात्मक तर्क में (सामान्य से विशेष का अनुमान) प्रदत्त कल्पना या तथ्य से आरम्भ करके उसके विशिष्ट संयोगों में उसका बोध करना होता है

तथा यह भी देखना है कि सामान्य नियम नये पदार्थ में प्रयुक्त होता है। प्लेटो की भाषा में कहेंगे कि किस प्रकार 'एक' स्वयं अनेक में विशेषता ग्रहण कर लेता है। इस ही श्रेणी विभाग के नियम का समकक्ष समझना चाहिए। समुच्चय में हम अपनी प्रकृतिदत्त क्षमता का प्रयोग करते हैं जिसे पूर्व चर्चा में 'समग्र दर्शन' कहा गया है। यद्यपि रिपब्लिक में निगमन शब्द के अर्थवाची ग्रीक शब्द का उपयोग नहीं किया गया है तथापि प्रामाणिक तर्क इसी विधि का अनुसरण करता है—यह पंचम अध्याय में कहा गया है। कलहपूर्ण तर्क की असफलता के बारे में भी यही बताया गया है कि वह तर्क वस्तुतत्त्व के विभिन्न वर्गों को ठीक तरह न पहचानने के कारण विफल होता है। अनेक इन्द्रियविषयों में स्थित उनके निर्माणात्मक हेतु का संकलन करना वस्तु समुच्चय का प्रतिपादन है विभिन्न इन्द्रियविषयों में निर्माणात्मक हेतु के दर्शन करना श्रेणी विभाग है। कारण यह है कि विशिष्ट मूलरूपों का बाहुल्य ही अनेकता है जिसका आशय यह है कि हमें इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान सबसे पहले होता है। और इन्द्रियगत विषयों की विविधता में एकत्व के मूलद्रव्य ही रूप हैं। परन्तु यह स्मरण रखना होगा कि रिपब्लिक में इसी सिद्धान्त के अभिप्राय का विस्तार किया गया है। प्रत्येक रूप स्वतः दूसरे रूपों से सम्बन्ध रखता है और अन्ततः वस्तुमात्र के समस्त रूप परस्पर सम्बन्ध के फलस्वरूप एक सिद्धान्त में परिणत होते हैं।

इस प्रकार समर्थ तर्क किसी एक रूप से विचार आरम्भ करता है और रूप सोपान पर चलता हुआ उस परम अव्यय सिद्धान्त या तत्त्व तक पहुंच जाता है जो विश्व का मूलाधार है। और सूक्ष्म से इसी प्रकार उतरता हुआ स्थूल तक दर्शन कर सकता है। प्लेटो इस वर्णन के द्वारा विज्ञान के आदर्श की ओर संकेत करता है जो उसकी तर्कविधि की कल्पना का परिणाम है। प्रामाणिक वितर्क शक्ति वस्तु समुच्चय तथा श्रेणी विभाग के संयोग में रहती है। इन दोनों को सम्पूर्ण रीति से व्यवहार में लाना एक में बहुत्व और बहुलता में एकत्व का पूर्ण दर्शन संसार के सम्बन्ध में पूर्णज्ञान है। इन दोनों रीतियों में से एक का भी त्याग करना अनुचित तर्क है। 'फाइलेबस' (Philebus) में प्लेटो कहता है कि बहुसंख्यक मनुष्य उतावली में एकत्व से चलकर एकदम बहुविधता का आश्रय लेते हैं और दूसरे बहुतर लोग सामान्य सिद्धान्त से विशिष्ट उदाहरण तक पहुंच जाते हैं अथवा निपट उतावले होकर वस्तुओं के एक समूह में एकाकी नियम को ग्रहण करना चाहते हैं।

इस तर्कविधि का प्रयोग विविध प्रकार स सत्य की खोज उसक सचार अथवा उसकी परिभाषा के हित म किया जा सकता है। इन्ही तीन प्रमुख प्रयोगो पर प्लटो ने विचार किया है। सत्य की खोज का प्रयास जिज्ञासु की सत्य सम्बन्धी पूवधारणा क अनुरूप हुआ करता है। खोज की पद्धति के बारे म उस इस बात का विशेष ध्यान रखना पडेगा कि जो कुछ उसने खोज म पाया है उमस तब तक कभी सन्तुष्ट न हो जब तक उस मूलवस्तु या नियम की समस्त विविधता समक्ष पदाथ म मूत होकर दिखायी न दव और जब तक मूलभाव के सभी विशेष रूपा की एकत्व में परिणति वह स्वय न देख लवे। रिपब्लिक म नैयायिक का प्रधान गुण यह बताया है उसम वस्तुआ की परिभाषा करने की शक्ति है। ग्रीक दशन म परिभाषा का व्यापक प्रभाव है—परिभाषा करन की योग्यता उसका आदश रहा है। तकपद्धति की इस कल्पना को परिभाषा से कस जोडा जाय? जब हम किसी वस्तु की परिभाषा करना चाहत हैं तो वह वस्तु एक अथवा अनेक जातिगत रूपा या नियमा का कोई विशिष्ट रूप ही हो सकती है। उसकी परिभाषा करने म समथ होना अथवा उसकी समुचित कल्पना कर सकना तभी साथक है जब हम यह जान सकें कि वह वस्तु किस रूप अथवा रूपा का निश्चित कौन सा विकार है? उदाहरणाथ सिफ इतना समझना कि कोई निश्चित कम सत्कम है— उसके विषय म निश्चित कल्पना नही मानी जा सकती। सत्कम के सम्बन्ध म समुचित कल्पना तभी सम्भव है जब हम यह ज्ञान हो कि वह कम किस अभिप्राय म सत् है अथवा कम की निराली परिस्थितिया मे वह सत् को कितनी उत्तम रीति स उपलब्ध कर सका है। इस इस तरह से भी कहा जा सकता है कि प्रकृत वस्तु जिस मूलतत्त्व का उदाहरण है मूलतत्त्व की भूमिका म उसका स्थान निर्धारित करना परिभाषा है। प्लटो रिपब्लिक में बतलाता है कि हेतु विद्या ही एकमात्र परिपाटी है जो व्यवस्थित ढग से अमुक वस्तु की परिभाषा करन का प्रयास करती है। उसमें वस्तु की परिभाषा प्रक्रिया का सकेत मिलता है। जिसकी परिभाषा करना है उस अपनी सजातीय वस्तुआ स पृथक कर लना चाहिय। परन्तु यह पृथक्करण की प्रक्रिया वास्तव में सहति या घनीकरण प्रक्रिया का दूसरा पहलू है जिसमें अमुक रूप अथवा नियम किस प्रकार दूसरे रूपा अथवा नियमा स सम्बन्धित है यह स्पष्ट होता है। कभी-कभी हमें बतलाया जाता है कि आधुनिक विज्ञान का लक्ष्य वस्तुआ के श्रेणीकरण अथवा उनकी व्याख्या है। ग्रीक विचारक केवल परिभाषा करना ही अपना ध्येय समझते थे। किन्तु किसी वस्तु को श्रेणी में रखना या उसकी व्याख्या करने का भावाथ भी

ज्ञान की क्रमबद्ध व्यवस्था में वस्तु का उचित स्थान निश्चित करना भर है और परिभाषा करने का भी यही प्रयोजन है।

सप्तम अध्याय के एक पूर्वचर्चित परिच्छेद में प्लेटो हेतुविद्या के उद्गम का विवेचन करता है। तत्काल के प्रथम आवेग में तरुण मस्तिष्क किस अनगल ढग से आचरण करने लगता है—इसका उसने रोचक वर्णन किया है। हर घडी अमुक वस्तु को उससे सर्वथा भिन्न वस्तु प्रमाणित करने की धुन उस पर सवार हो जाती है। विचारशक्ति के इन आरम्भिक लक्षणों को प्लेटो हेतुविद्या के प्रथम चिह्न मानता है और समझता है कि इसका नाना एव तथा अनेक के सह-अस्तित्व सम्बन्धी विलक्षण तथ्य की प्रारम्भिक अनुभूति से जुडा हुआ है। इसे प्लेटो विवेचनात्मक चिंतन के जागरण को अंकित करने का स्वाभाविक ढग समझता है। हम देख ही चुके हैं कि उसके मतानुसार चिंतन का आरम्भ उस अनुभूति से होता है जिसमें अमुक वस्तु सचमुच अमुक नहीं है अथवा एक अनेक भी है। हम देखते हैं कि प्लेटो के समग्र विचार जिसका मूल इस प्राचीन तर्कविषयक समस्या के चारों ओर तर्क प्रणाली की सभी कल्पनाएँ टगी हुई हैं। यही आत्मविषयक उलझन का प्रारम्भिक रूप है जो अपने आप मानवचित्त में प्रस्फुटित हुआ था।

अब हम हेतुविद्या को सम्पूरित विज्ञान के रूप में देखने का यत्न करेंगे। अन्य सम्वादों की अपेक्षा रिपब्लिक में 'हेतुविद्या' (Dialectic) शब्द का यही अभिप्राय प्रमुख है। छठवें अध्याय के अंतिम परिच्छेद में इस कल्पना पर चर्चा हो चुकी है जहाँ प्लेटो ने विचार की परिभाषा उसके परिपूर्ण अभिप्राय में की है और उस बोध से भिन्न बताया है। जिस तर्कविधि की चर्चा अभी तक हम करते आये हैं उसे सम्यक रीति से निभाया जाय तो जो परिणाम होगा वही सम्पूरित विज्ञान के रूप में हेतुविद्या है। बार-बार हम विधि और परिणाम का उल्लेख करते हैं मानो वे एक दूसरे से भिन्न दो स्वतंत्र पूर्ण धारणाएँ हों। प्रश्न है क्या दर्शन विधि है अथवा परिणाम? वह परिणाम है क्योंकि दर्शन में जैसे-जैसे हमारी गति बढती है हमें किसी वस्तु की उपलब्धि का भान होता है। किन्तु इसके साथ विवश होकर हमें यह कहना पडता है कि ज्ञान सम्बन्धी कोई परिणाम अंतिम नहीं होता। अतएव ज्ञान एक शाश्वत विधि है। इतना ही नहीं, ज्ञान प्राप्ति की विधियाँ बदला करती हैं और ज्ञान की दिशा में प्रत्येक नया डग इन विधियों में संशोधन करता है। पूर्णज्ञान तथा ज्ञानार्जन की विधि के सम्बन्ध में प्लेटो की जैसी धारणाएँ हैं उनमें स्पष्ट समानता है। उस मनोदशा को पूर्ण ज्ञान कहते हैं जिसमें वस्तुमात्र पूर्णत: एक व्यवस्था में सूत्रबद्ध होकर आविर्भूत

होती हैं। वह ऐसी व्यवस्था है जिसमें वस्तु का प्रत्येक अवयव अपने सूक्ष्म विवरण के साथ उचित स्थान का अधिकारी है। और अन्तत उसे मानवचित्त प्रत्येक दूसरे अवयव से तथा मूलतत्त्व से सग्रथित देखता है। यही मूलतत्त्व इन सबको एकत्व में बाँध देता है। सत्य की खोज में हेतुविद्या प्रणाली के प्रयोग का अर्थ उत्तरोत्तर यह बोध करना है कि वस्तुमात्र अनेक में एक ही नहीं है अपितु किस प्रक्रिया से अनेकत्व में एकत्व घटित हुआ है। वस्तुमात्र की हेतुविद्यात्मक दृष्टि निरन्तर श्रद्धापूर्वक वस्तुओं के परस्पर सम्बन्धों के चिन्तन में डूबी रहती है। यदि हम इस प्रकार की परिपाटी के आदि से अन्त की कल्पना करें तो हमें सम्पूरित विज्ञान के रूप में हेतुविद्या का आभास मिल जायगा। साधारण अर्थ में तर्क विषयक प्रक्रिया के सहारे हमें यह परिणाम नहीं मिलेगा। यह तभी सम्भव है जब तथ्यों का समष्टिगत संसार हमारे अवलोकन के समक्ष खुल जाय अत अन्य विज्ञानों के परिवार में हेतुविद्या विज्ञान की एक शाखा नहीं है। इस शब्द का उपयोग दो तरह से किया जा सकता है। यह एक सार्वत्रिक प्रणाली है जिसका प्रयोग मानवी विचार से सम्बद्ध समस्त प्रश्नों के लिए किया जा सकता है और भिन्न भिन्न दशाओं में विभिन्न प्रकार से इसे प्रयुक्त करना होगा। अथवा इस आदर्श विज्ञान के रूप में अपनाया जाय जो समस्त विज्ञानों की व्यवस्था है। ऐसा आदर्श है यह जिसकी साधना केवल एक सीमा तक शक्य है। किन्तु फिर भी यह मानव ज्ञान की प्रगति के लक्ष्य का बखान तो करता ही है।

४ शिक्षा के समूचे पाठ्यक्रम की योजना

अभिभावकों की शिक्षा के आरम्भिक अध्ययन क्रम का उल्लेख हम कर चुके हैं। अब यह और बताना है कि यह अध्ययनक्रम जीवनभर उन्हें कितना प्रभावित करेगा तथा किन लक्षणों के आधार पर अध्ययन की हर आगामी अवस्था में प्रवेश करने की पात्रता किसे मिल सकेगी? भावी शासकों का चयन लक्ष्य है और इसी दृष्टि से प्लेटो फिर चयन की आवश्यकता का दृढ़तापूर्वक आग्रह करता है। केवल उन व्यक्तियों का चयन करना चाहिए जिनके चरित्र में एकनिष्ठा तथा बौद्धिक कुशाग्रता या आशुग्राहिता के परस्पर पूरक गुणों का सयोग हुआ हो। वह कहता है कि जिस कठोर बौद्धिक अभ्यास में उनको रहना पड़ेगा, उसके लिए शारीरिक श्रम की अपेक्षा धैर्य की जरूरत अधिक होगी। जिन व्यक्तियों को प्लेटो 'पगु' कहता है उन्हें राज्य के नेता चुनने के दुष्परिणामों पर वह काफी विस्तार से चर्चा करता है। पगु वह है जो एकांगी हो अथवा जिसके स्वभाव के सभी अग विकसित नहीं हुए हों। बौद्धिक श्रम को हेय मानकर सिर्फ व्यायाम

की रुचि 'पंगुता' का एक नमूना है। इसी तरह व्यायाम की उपेक्षा करके केवल बौद्धिक श्रम की रुचि भी 'पंगुता' है। ऐसा ही स्वभावगत दोष यह भी है कि सत्य की कम से कम परवाह की जाये। प्लेटो के कथन को आधुनिक भाषा में व्यक्त करें तो केवल साधारण सत्यप्रिय स्वभाव ही बस नहीं है, मनुष्य ऐसा सत्यव्रती हो कि वह सिर्फ झूठ बोलने को ही हेय न माने बल्कि मिथ्या विचारों के दुष्प्रभाव से भी उसे घृणा हो। इन सभी आवश्यक लक्षणों को प्लेटो संक्षेप में इस तरह कहता है कि आरम्भ से अभिभावक के शरीर और मन दोनों स्वस्थ होना चाहिए। इस चर्चा के अन्तिम भाग में वह अपनी इस उत्कटता के लिए क्षमा की आशा भी करता है।

प्रस्तावित उन्नत अध्ययनक्रम का अभ्यास जिन लोगों को करना है उन्हें युवावस्था के आरम्भ में ही उसका प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। उनका प्रारम्भिक पठन-पाठन कम से कम अनिवार्य हो। लगभग सत्रह या अठारह वर्ष की आयु तक सौन्दर्यबोध की शिक्षा दी जाये जिसका विवरण पूर्व अध्यायों में किया जा चुका है। इसके साथ विज्ञानों का सरल ज्ञान भी कराया जाय परन्तु उसमें सिद्धान्त का समावेश न रहे। इसके बाद बीस वर्ष की आयु तक केवल व्यायाम विषयक प्रशिक्षण दिया जाय जिसमें यथापद्धति शारीरिक और सैनिक अभ्यास सम्मिलित होना चाहिए। इसका प्रधान लक्ष्य यह है कि युवाजन राज्य सेवा में निपुण बनें और आन्तरिक शान्ति तथा बाहरी शत्रु से राज्य की सुरक्षा में वे समर्थ हों। फलतः उन्हें भावी कर्त्तव्य निर्वाह के लिए बलिष्ठ शरीर का आधार और साथ-साथ आत्मसंयम तथा धैर्य का समुचित अभ्यास मिलेगा। यह शारीरिक प्रशिक्षण इतना कठोर होगा कि इस अवधि में वे बौद्धिक कार्य बिलकुल नहीं कर सकेंगे। किन्तु प्लेटो कहता है कि व्यायाम के अभ्यास में मनुष्य के चरित्र का जैसा उभार होता है वह उसकी मूल प्रकृति का यथार्थ परिचय देता है। बीस वर्ष की आयु में फिर उन व्यक्तियों का चयन किया जायेगा जिन्होंने अपनी इस अवधि की शिक्षा में विशेष गुणों का प्रमाण दिया हो। इस प्रकार चुने गये अभ्यासार्थियों को शिक्षा की अगली उन्नत श्रेणी में प्रवेश दिया जायगा। इसके दो भाग होंगे। तीस वर्ष की आयु तक व्यवस्थित वैज्ञानिक पाठ्यक्रम जारी रहेगा। इस अवधि में विशेष ध्यान इस बात पर रहे कि इन व्यक्तियों में हेतुविद्या की शक्ति के चिह्न दिखायी देते हैं या नहीं। अर्थात् उनमें समग्र दर्शन की शक्ति का आभास मिलता है या नहीं। साथ साथ सार्वजनिक कार्यों का प्रशिक्षण भी जारी रहेगा जिसका मुख्य भाग सैनिक विद्या हो। इस भाग की शिक्षा का

मानदण्ड यह होगा कि मनुष्य स्थिरमति ह या नही और शिक्षाक्रम म ग्रहण किये गय सिद्धान्ता के प्रति अटल विश्वास रखता ह अथवा नही । तीस वष की आयु म फिर चयन किया जायगा । इस प्रकार अब तक प्रनिक्षित व्यक्तिया म स जिन्ह मान्यता दी जायेगी, व शुद्ध हेतुविद्या के अध्ययन म दीक्षित होंगे और आगामी पाँच वर्षों तक इसके अतिरिक्त अन्य कोई काय उन्ह नही दिया जायगा । (सम्भवत इसमे नीति विषयक तथा मानव जीवन सम्बन्धी सिद्धान्ता का समावश करने का अभिप्राय ह । कारण यह ह कि इसी प्रसग मे प्लेटो हेतुविद्या क उपद्रवा का उल्लेख करता ह । यदि शिक्षा तगत सिद्धान्ता के प्रति अटल निष्ठा के अभाव म भी अपात्रो को हेतुविद्या का अध्ययन कराया गया तो उसके गम्भीर दुष्परिणाम होग ।) पतीस वष की आयु म सावजनिक सेवा का वास्तविक गम्भीर काय होना ह जा प द्रह वष तक जारी रहगा । इन वर्षों म शासक पद के उपयुक्त अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिलेगा । अभिभावका को शुभाशुभ के विविध रूपा स वास्तविक सम्बध करना होगा जिसके फलस्वरूप शासक की योग्यता का उनम सहज विकास हो सकेगा । जिन परिस्थितियो का सामना उन्ह हर घडी करना पडेगा उसक फलस्वरूप उनकी यह जाँच निरतर हाती रहेगी कि वे सभी स्थिताओ म एक साथ समुचित ध्यान द सकत हैं या नही । अब तक की इस तपस्या मे सफल व्यक्ति पचास वष की आयु प्राप्त करने पर कवल सत् या श्रेयस के अध्ययन के पात्र माने जायेंगे तथा इस सत्यबोध की ज्योति का आश्रय लेकर राज्य का शासन तथा सगठन सँभालेंगे । उ ह सर्वोच्च परिषद म नियुक्त किया जायगा और वे सत् के सद्धान्तिक अध्ययन तथा शासनिक व्यवहार क कायक्रम मे लगे रहेगे । अन्त म मरणोपरान्त सावजनिक सम्मान के साथ उनका शवाधान किया जायगा और यदि डेल्फी क दवी वक्ता की अनुमति मिलेगी तो दिव्यपुरुष के अनुरूप उनकी पूजा की जायेगी अथवा उन्ह हर हालत म देवगण क आशीर्वाद तथा अनुकम्पा के विशेष पात्र माना जायेगा ।

इस परियाजना को व्यवहार मे लान क लिए किसी सगठनात्मक तन्त्र की बात का कोई महत्त्व नही है और इसकी व्यावहारिकता की जाँच करना भी निरथक है । स्वय प्लेटो कवल यह घोषणा करता है कि वह आदश राज्य का विवचन भर करना चाहता है । प्रश्न यह है कि इसमे ऐसा कौन सा यथार्थ सत्य है जो मानवजाति के लिए हितावह हो सकता है और हम किस प्रकार प्लेटो के सिद्धान्ता को उपार्जित कर सकत हैं ? प्रथमत इसम शिक्षा विषयक यह विचार मिलता है कि मनुष्य स्वभाव की सहज आवश्यकताओं की पूर्ति करने म शिक्षा

पद्धति को समर्थ होना चाहिए। दूसरे यह कल्पना भी उपयोगी है कि मानवात्मा जब तक उन्नतिशील होने में सक्षम है, तब तक शिक्षा जारी रहना चाहिए। शिक्षा जीवनव्यापी प्रक्रिया है क्योंकि शिक्षा का सहजभाव यह है कि वह आत्मा को जीवित रखती है। जब शिक्षा की अवधि आयु के केवल प्रथम पच्चीस वर्षों में सीमित कर दी जाती है तब हम असल में इस मानवी दुर्बलता के सम्मुख समर्पण करते हैं। तीसरे, मनुष्य-स्वभाव के उत्कर्षगामी अभियान में उत्पन्न सम्पूर्ण वस्तु पुंज शिक्षा के महत्वपूर्ण अंग हैं धर्म कला विज्ञान दर्शन तथा अन्यान्य शासकीय संस्थाएँ और समाज—सभी का शिक्षा के प्रयोजन में उपयोग करना चाहिए। इस प्रसंग में हमें ज्ञान होना है कि प्लेटो कला तथा विज्ञान, अध्ययन तथा व्यावहारिक जीवन, अथवा मानव मस्तिष्क के अन्य महत्वपूर्ण श्रमफलों में किसी प्रतिस्पर्धा की कल्पना तक नहीं करता। इन सभी को वह एक शृंखला की कड़ियाँ मानकर चलता है।

प्लेटो ने शिक्षा की उच्चावस्थाओं का निरूपण बहुत मनोयोगपूर्वक किया है बहुत समय उसमें लगाया है परन्तु वह इसका लाभ केवल थोड़े से व्यक्तियों तक ही सीमित रखना चाहता है। उसकी धारणा है कि हम जिस नियत अवधि के बाद आजकल शिक्षा समाप्त कर देते हैं वैसे ही बहुतेरे के लोग भी अध्ययन छोड़ देंगे जिन्हें इस प्रकार के शिक्षाक्रम में प्रवेश दिया जायेगा। समूचे शिक्षा क्रम का लाभ प्राप्त करनेवाले बहुत थोड़े से व्यक्ति ही अन्ततः राज्य शासन के सूत्रधार होंगे। यदि प्लेटो की भावना के अनुरूप प्रशिक्षण का लाभ राज्य के नेता तथा प्रभावशाली व्यक्तियों को दिया जा सकता तो निस्सन्देह आज जैसा आधुनिक शासन है उससे कहीं अधिक सक्षम वह होता। स्पष्ट है कि यदि हम शासन के कर्तव्य को इस सबसे कठिन और सर्वोच्च श्रेणी में रखते हैं तो निश्चय ही उसके निमित्त प्रशिक्षण और उत्तम उपकरण आवश्यक हैं।

समाज और आत्मा के ह्रास की क्रमिक अवस्थाएँ

द्वितीय से सप्तम अध्याय तक रिपब्लिक म प्लेटो ने मानवात्मा की योग्यताओ के चरम उत्कष का तकसगत चित्र अकित किया है। इसी तरह अष्टम और नवम अध्याय म मानवात्मा के पतन की अधमावस्था का विवेचन है। पहल चित्र से विदित हाता है कि मनुष्य चाहे तो इतनी ऊँचाइ तक पहुच सकता है कि वह दिव्य तत्त्व के समान हो जाये। दूसरे म हम देखते हैं कि हिंसक पशु के तुल्य अधम बन सकता है। हमने पहले चित्र को इसलिए तकसगत कहा है कि पूण राज्य अथवा पूण राज्य की रचना प्रक्रिया की कतिपय अवस्थाओ का वणन प्लेटो लगातार इस तरह करता है मानो प्रक्रिया की हर अवस्था किसी ऐतिहासिक क्रम स दूसरी के बाद चली आती हो। हम जानते हैं कि यह प्रक्रिया इतिहास के सवथा विपरीत है। प्लेटो का आशय यह नही है कि कोई राज्य इस प्रकार इतिहासक्रम से विकसित हुआ है। वह शुद्ध तकसगत विकास का वणन करता है जिसका आधारपूण विकसित समाज के प्रमुख तत्त्वो का मनोवैज्ञानिक अन्वेषण है। अष्टम तथा नवम अध्यायो म ऐतिहासिक क्रम का आभास विशेष रूप से दिखायी देता है। इसम इतना अधिक रोचक तत्त्व है कि अनेक भाष्यकारो ने प्लटो को ग्रीस की राजनीतिक समाज के विकास का वणन करनेवाला समझ लिया। यही आधार लेकर उन्होंने उसकी गम्भीर आलोचना भी कर डाली और बताया कि वह जिन शासनिक विधाओ की बात करता है, उसके वणन मे उनका उल्लेख तक नही है। छिद्रान्वेषण से सरल कोई दूसरा काम नही होता। परन्तु यह अकल्पनीय है कि प्लेटो इन सहज तथ्यो से अनभिज्ञ रहा होगा। जरा गहराई स देखने पर इस प्रसग म भी उसके प्रबन्ध का क्रम मनोवैज्ञानिक और तकसम्मत है। उसने अपने समक्ष यह प्रश्न रखकर विचार किया है मानवात्मा हमारे वणन के अनुरूप है। उसम शुभ और अशुभ दोनो योग्यताए है। यदि उसकी अशुभ योग्यताओ के

उपशमन का प्रबन्धन किया जाये और उसकी अशुभ प्रवृत्ति को स्वच्छन्द रहने दिया जाये तो उसकी क्या दुर्गति होगी और उसे किन विषमावस्थाओ से गुजरना पड़ेगा ? मनुष्य के अनुभव मे अशुभ का कुछ न कुछ उपशमन अनात्मभाव से सदा होता रहता है। ऐसी परिस्थितियाँ निरन्तर बनी रहती हैं जो किसी भी प्रवृत्ति को निरकुश और अबाध ढग से अपनी पूर्ति नही करने देती। किन्तु प्लेटो के समान दार्शनिक चाहे तो किसी भी एक प्रवृत्ति के परिणाम का तर्कसम्मत विवेचन कर सकता है। प्रस्तुत अध्यायो म अशुभ का आदर्शवादी इतिहास अकित किया गया है जबकि पिछले अध्याय शुभ का आदर्शवादी इतिहास विवरण हमे दे चुके हैं।

रिपब्लिक मे प्लेटो ने मनुष्य जीवन की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने का उत्तरदायित्व लिया है। (मनोविज्ञान शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ म किया गया है।) इस ढग से यहाँ वह ग्रीक इतिहास तथा ग्रीक जीवन की विशद व्याख्या करना चाहता है। उसने अपने समक्ष एक प्रश्न रखा है हम किस प्रकार यह प्रतिष्ठित करें कि मनुष्य-स्वभाव के भीतर कुछ प्रबल वृत्तियो की सक्रियता ग्रीक जीवन के विविध व्यक्त रूपो का आदिस्रोत है ? इस ध्येय के निमित्त सामग्री प्राप्त करने के लिए उसने सम्पूर्ण ग्रीक जीवन का अनुसन्धान किया है और इन अध्यायो म सामान्यत मानव प्रकृति का और विशेषत ग्रीक स्वभाव का अत्यन्त विलक्षण ज्ञान एकत्रित कर रखा है। समाज रचना के प्रत्येक अग का वर्णन वास्तव मे किसी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के प्रभुत्व की अभिव्यक्ति है जिसे स्वच्छन्द छोड देने से समाज के जीवन मे तथा व्यक्तिगत जीवन में कुछ परिणाम अवश्यम्भावी हैं। आधुनिक युग मे इसी ध्येय मे अनुरक्त कोई भी जिज्ञासु पूछ सकता है कि प्रजातान्त्रिक भावना का सारभूत तत्त्व क्या है ? परिभाषा करने के उपरान्त वह फिर प्रश्न कर सकता है कि ससार की तथाकथित विभिन्न प्रजातन्त्रीय पद्धतियो मे यह भावना कहाँ तक प्रकट हुई है ? केवल प्रजातन्त्रीय देशो तक ही उसका अनुसन्धान सीमित नही रहेगा, वह उन देशो मे भी प्रजातन्त्र के तत्त्व ढूढ लेगा जहाँ शासन सही अर्थो म प्रजातन्त्रात्मक नही है। यदि समस्त सकलित सामग्री का वह एक खाका तयार कर ले, तो ऐसा विवरण प्रजातन्त्र के किसी यथार्थ रूप से मेल नही खायगा, तथापि प्रजातान्त्रिक भावना के साधारण परिणामो की जो कल्पना उसने की है उसका सचित स्वरूप उससे अवश्य प्रकट होगा। यहाँ प्लेटो ने यही परिपाटी अपनायी है।

प्लेटो किन प्रवृत्तियो की गतिविधि का पता लगाना चाहता है ? उसने आत्मा की जो कल्पना की है उसका विशद विवेचन द्वितीय से चतुर्थ अध्याय मे किया

जा चुका है। आत्मा एक वस्तु है किन्तु वह त्रिविध है। उसकी साधारण नियमित तथा आदर्शमय दशा म से प्रत्येक अपना समुचित योग देकर समष्टि के बुद्धिसगत स्पष्टीकरण म सहायक होती है। आत्मा की इस त्रिविधि दशा म समाज का समावेश अपनआप है क्योंकि आत्मा अपनी प्रत्येक क्रिया से दूसरी आत्माओ क साथ जुडती रहती है। आत्माओ का आदर्शसमवाय (जनमण्डल) वही कहला सकता है जिसमे वैयक्तिक आत्मा की क्षमताओ का पूर्ण विकास हुआ है और उसकी आवश्यकताओ की समुचित पूर्ति हो सकी है। ऐसा तभी होगा जब मनुष्य का दर्शनतत्त्व शासन करे क्योंकि उसका यही तत्त्व अपने यथार्थ हितो का बोध पाने मे उसे समर्थ बनाता है। इतना ही नही, उसम यह सामर्थ्य भी आती है कि वह समग्र हितो के अनुकूल या सार्वजनिक जीवन बिता सकता है। दर्शनतत्त्व के शासन की आधीनता के अतिरिक्त दूसरा कोई भी सगठन अपनी मर्यादा क भीतर अपूर्ण होगा और ऐस सगठन म मनुष्य-स्वभाव के तत्त्वो की परस्पर सम्बन्ध सूत्रता साधारण नही रहगी। इसलिए अशुभ की प्रगति वास्तव म विघटन की प्रगति है। अर्थात जिस क्रम स यह विघटन क्रिया आगे बढती है उसी तरह समाज के विभिन्न अवयव या तत्त्व अथवा व्यक्तिगत आत्मा के विविध अग बराबर अनुमित क्रमों म उत्तरोत्तर अग्रसर होत हैं। प्लेटो जिसे महाजनतन्त्र या समृद्ध जनतन्त्र का नाम देता है और जो अधःपतन की प्रगति का प्रथम चरण है वह जीवन की *ऐसी अवस्था है जिसमे स्फूर्ति-पूर्णभाव का आधिपत्य बना रहता है। इसलिए उसम* से दर्शनतत्त्व तिरोहित नही होना इतना ही होना है कि दर्शनतत्त्व नीचे उतर जाता है और अपने कर्त्तव्यो स विच्युत होकर स्फूर्ति का दास बन जाता है। अधम दिशा म दूसरा चरण बुभुक्षा क प्रभुत्व बढने पर उठता है और स्फूर्ति और तर्क उसके दास तथा साधन हो जात है। इस ही उच्चकुलतन्त्र कहते हैं जिसके अन्तर्गत जीवन का लक्ष्य पार्थिव इच्छाओ का सन्तोष है। लेकिन इस तन्त्र मे भी एक दिखाऊ बाह्य व्यवस्था रहती है जो बुभुक्षाओ की भीड को एक प्रमुख बुभुक्षा के आधिपत्य म रखती है। इसके आगे बुभुक्षा की परिधि मे ही पतन की प्रगति बढती रहती है। सम्पत्तिलिप्सा के आधिपत्य से अवकाश पाकर बुभुक्षाए अव्यवस्थित ढग से प्रभुत्व के हेतु जूझती है और सिद्धान्त के अभाव म भी उनम एक प्रकार का अस्थायी साम्य उभर आता है जिसे प्रजातन्त्र कहत है। जब यह बुभुक्षा साम्य क्षुद्रतम जनो की अखण्ड निरकुशता म परिणत हो जाती है तब वह पतन प्रगति का अन्तिम चरण है। अनेक क्षुद्रतम मनुष्य एकत्र हो जाते हैं जो समाज क सार्वजनिक जीवन के अनुरूप रचमात्र भी नही होते, उनका समान स्वार्थरत कोई नही हो सकता। *अत्याचार अथवा प्रजापीडन यही है।*

इन अवस्थाओं में से प्रत्येक को जैसा अंकित किया गया है, उससे हम व्यक्तिगत मनुष्य और समवाय (जनमण्डल) का सम्बन्ध अच्छी तरह समझ सकते हैं। प्लेटो मनुष्य और राज्य का यथावत वर्णन करता है और वह उस प्रक्रिया का वर्णन भी करता है जिससे वे जैसे हैं वैसे हैं। इनमें से प्रत्येक विवरण व्यक्ति की आन्तरिक मनोवैज्ञानिक दशा का प्रतिरूप है और यदि राज्य में उसका वर्चस्व रहता है तो उससे राज्य की गतिविधि का स्वरूप बदल जाता है परन्तु प्लेटो का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि इस प्रकार का व्यक्ति केवल तदनुरूप राज्य में ही रह सकता है। उच्चकुलतन्त्र का उदाहरण लीजिए। प्रत्येक उच्चकुलतन्त्रीय मनुष्य पार्थिव सम्पत्ति के सिद्धान्त का अनुचर होता है। जब तक वह अविचल भाव से सम्पत्ति सचय के लिए जीता है तब तक वह उच्चकुलतन्त्रीय है। यदि समाज में इस प्रवृत्ति के बहुसंख्यक मनुष्य संघ बना लें और उन्हें शक्ति का समर्थन भी रहे तो सम्पदाश्रित राजनीतिक उच्चकुलतन्त्र का आविर्भाव निश्चित है। ऐसे व्यक्ति स्वभावतः दोष जाता पर शासन करने का प्रयास करेंगे और उनके प्रमुख ध्येय का आधारभूत सिद्धान्त ही उनके संविधान की रूपरेखा का नियामक होगा। इस प्रकार उच्चकुलतन्त्रात्मक राज्य तद्रूप सिद्धान्त में आसक्त व्यक्तियों का विज्ञापन होगा। परन्तु उच्चकुलतन्त्र शासन के बिना भी समाज में इस प्रवृत्ति के व्यक्ति मिल सकते हैं। इस ढंग से हम प्लेटो के उन वर्णनों का भाष्य कर सकते हैं जिनमें इन तन्त्रों के एक प्रकार से दूसरे में रूपान्तर का उल्लेख किया गया है। जैसा पहले कह आये हैं, प्लेटो इन तन्त्रों का कोई ऐतिहासिक सम्मान नहीं देता जो किसी ग्रीक संविधान के विकासक्रम से जुड़ा हो। उसने इने गिने व्यक्तियों और समाजों के इतिवृत्त से प्रमुख लक्षण चुने हैं। और एक निश्चित सिद्धान्त को निरूपित करने के उद्देश्य से उन संगृहीत लक्षणों के मिश्रण को एक विशिष्ट दशा में प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ उसने उच्चकुलतन्त्र से प्रजातन्त्र के अवस्थान्तर का विवरण दिया है। यदि कोई समाज इस दशा में पहुंच जाये कि उसके अग्रगण्य व्यक्ति सम्पत्ति-संग्रह को ही एकमात्र लक्ष्य मान लें तो देर सबेर यह प्रवृत्ति समवाय (जनमण्डल) के सामर्थ्य की बुनियाद को खोखली कर देगी और उसके बदले कोई घटिया दर्जे का शासनतन्त्र उभर आयेगा। यही दुर्दशा व्यक्तिगत जीवन अथवा कुटुम्बों की हो जायगी अगर उन्होंने जीवन का प्रधान ध्येय धन संचय बना लिया। प्रत्येक चित्रांकन के सभी वर्णित लक्षण भीतर भीतर चलनेवाले मनोवैज्ञानिक परिवर्तन के द्योतक हैं और इनको विस्तार से समझने बूझने की जरूरत है। इतिहास के दार्शनिक विवेचन का सर्वप्रथम प्रयास

इन अध्यायों में मिलता है। इतिहास दर्शन का अभिप्राय यह है कि इतिहास *उन नियमों अथवा सिद्धान्तों को देखने में सक्षम हुआ है जिनकी क्रियाशीलता* मानव इतिवृत्त में प्रदर्शित हुई है। प्लेटो ने मानव स्वभाव की मूलगत प्रवृत्तियों का चयन किया है और वह उनके प्रकाश में ग्रीक इतिहास का भाष्य करता है। जिन प्रवृत्तियों का वह वर्णन करता है उनके सक्रिय होने का प्रभाव ऐतिहासिक घटनाओं में जैसा का तैसा नहीं मिलता किन्तु ग्रीक समाज में उनके लक्षणों को उसने गुप्तरीति से आचरण में फलित होते देखा है।

अन्त में प्लेटो मनुष्य तथा समाज की जिस आदर्श शुभावस्था को अंकित कर चुका है उसके बिलकुल विपरीत स्वरूप को यहाँ रखता है। पुरुषोत्तम वही है जिसका अन्तःकरण अपनी समाज के जीवन से यथासम्भव समरस हो गया है और अन्ततः इसी के सहज फलस्वरूप विश्वरचना के नियम उसके जीवन के अभिन्न अंग बन गये हैं क्योंकि वह स्वयं तथा समाज इस विश्वरचना के अवयवमात्र हैं। मनुष्य कभी पूर्णतः इस आदर्श को प्राप्त नहीं कर सकता किन्तु जितनी प्राप्ति उसे होती है उसी अनुपात में वह सज्जन बनता है। जिस मात्रा में मनुष्य सार्वजनिक जीवन का कौशल उपलब्ध करता है वही उसके सद्भाव और उसकी महानता का प्रमाण है। (आवश्यक नहीं है कि वह इस सार्वजनिक जीवनयापन का विज्ञापन करे।) अथवा उसके सद्भाव और उसकी महानता का प्रमाण यह है कि वह अपने आपको जो कुछ वह स्वयं है उसके परे किसी वस्तु में अभिन्न भाव से समर्पित करने की क्षमता रखता है। यह मानदण्ड दार्शनिक राज्य विशारद के लिए जितना लागू है उतना तुच्छतम कर्त्तव्य के पद निर्वाह हेतु भी है। इस प्रकार संसार में नराधम वह है जो नितान्त संकीर्ण तथा स्वार्थी है। जो व्यक्ति स्वेच्छाचारिता के सिद्धान्त की मूर्ति है वह प्लेटो के अनुसार अपनी क्षुद्रतम बुभुक्षा के लिए सर्वस्व निछावर कर देता है। मान लीजिये कि इस नमूने का स्वेच्छाचारी मनुष्य प्रतिकूल परिस्थितियों में फँस जाता है तब भी वह अपनी निरंकुश लालसा का दास होने के कारण स्वेच्छाचारी ही बना रहता है किन्तु अनुकूल परिवेश में वह आकण्ठ स्वेच्छाचारी हुए बिना नहीं रह सकता क्योंकि उसकी लालसा बराबर प्रबल ही रहेगी। ठीक इसी तरह दार्शनिक की उमंगी प्रवृत्ति के अनुकूल राज्य व्यवस्था सुलभ हो *जाय तो वह उसका सम्राट—वर शासनकर्ता बन सकता है।* दार्शनिक की ठीक प्रतिमूर्ति स्वेच्छाचारी है। दार्शनिक सम्राट अपने चतुर्दिक प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक वस्तु के साथ समरस होता है। स्वेच्छाचारी का समूचा व्यक्तित्व एकान्त दुर्दमनीय लालसा के अधीन होता है इसलिए वह नितान्त अकेला–एकाकी

हुआ करता है वह अपने आत्मभाव का स्वय शत्रु है, मनुष्यमात्र तथा ईश्वर का
वरी है। कहने के लिए वह राज्य का अधिपति है किन्तु वास्तव म उससे अधिक
दरिद्र दूसरा नहीं होता।

जिस पतनाभिमुख माग मे इस निम्नतम दशा की प्राप्ति होती है उसम मनुष्य
क जीवन का निर्धारित लक्ष्य क्रमश उसकी मनुष्यता के लिए लज्जास्पद बनता
जाता है। जब लक्ष्य ही भ्रष्ट होन लगा तो उसकी पूर्ति म लग जीवन के विविध
अवयवो की दुगति का क्या कहना। प्रत्यक कदम पर शिक्षा के यथाथ सिद्धान्ता
की उपेक्षा अधिकाधिक होती चलती है और आत्मा अपने सम्यक् पोषण के अभाव
म जजर होती जाती है।

पतन की इन विविध अवस्थाओ का विवरण आदश राज्य के क्षय स आरम्भ
होता है। उत्कृष्ट राज्य के नाश का आरम्भ कैस होता है? इस प्रश्न के साथ
प्लेटो के समक्ष वास्तव मे अशुभ क उद्गम की खोज का दुस्तर काय उपस्थित
हो जाता है। ऐसा क्योकर होता है कि ससार जसा पूण या उत्कृष्ट हो सकता
है वैसा नहीं है? लेकिन प्लेटो न आदश समाज के महाजनतन्त्र मे परिवत्तन को
इस तरह अकित किया है मानो वह कोई ऐतिहासिक घटनाक्रम हो। प्लेटो अपन
युग के ग्रीस मे जीवन के उन्नत रूपो स परिचित था। परन्तु पूवकाल म मनुष्य
जीवन क अपेक्षाकृत अधिक पूणरूप वास्तव म विद्यमान थे और जिनक विषय
म उसन विचार किया या नही—यह कहना असम्भव है। इतना निश्चित है कि
वह ग्रीक समाज के जिन जीवन-रूपो को श्रेष्ठ मानता था उनमे भी उसे मानव
जीवन के भावी उन्नत रूपो की मिलती-जुलती अपूण आकृति दिखायी दती थी।
परन्तु इससे यह अनुमान नही लगाना चाहिए कि पूववर्त्ती जीवन रूपों को वह
विद्यमान जीवन पद्धति से अधिक उन्नत समझता था। उसन गुणदोष विवेचन का
निजी आदश मानदण्ड बना रखा था। स्वाभाविक है कि विद्यमान समाज क जिन
नमूनो की जाँच वह करना चाहता है उन्हे अपने आदश मानदण्ड से परखकर
उसन बहुत पिछडा हुआ पाया। किन्तु इसका यह आशय नही है कि उसे अपन
आदश म दृढ निष्ठा थी। फिर भी वह अपने आदश की कल्पना को बराबर मानता
रहता है और कहता है कि मानव सस्थाओं का परमउन्नत रूप भी स्थायी नही
हो सकता। प्लेटो के मन मे जो विचार रहा है उसका अनुमान हम इन प्रश्नो
स कर सकते हैं 'क्या हमारी वतमान पाश्चात्य सभ्यता की प्रगति स्थायी रूप
से होती जायगी अथवा उसका अस्तित्व चिरस्थायी हो सकता है? क्या किसी
भी राष्ट्र का जीवन ह्रासविहीन हो सकता है?

प्लेटो की धारणा है कि किसी भी समाज के ह्रास का कारण उसके शासको म फट तथा उत्पातमूलक दलव दी है। जब तक उनके मन म मेल है तब तक समाज का विघटन असम्भव है। इतना तो ठीक है लेकिन सरस्वती देवी ही जान सकती है कि हमारे आदर्श राज्य म फूट और वमनस्य का आरम्भ किस क्षण होगा। प्लेटो इस तरह व्यग विनोद का पुट देकर तब गम्भीर बात करता है, जब उस लगता है कि प्रस्तुत प्रश्न का वज्ञानिक उत्तर देना सम्भव नही है। उस समय भी वह यही ढग अपनाता है जब आत्मा की चरम भवितव्यता के सम्बन्ध म वह पुराण अथवा काव्य की भाषा का आश्रय लेता है। यहाँ वह कहता है हम यही समझ लें कि सरस्वती देवी हमारी हँसी उडा रही हैं मानो हम अबोध शिशु हो और हम तीक्ष्ण व्यग्य के पात्र हो।

इस व्यग्यात्मक उत्तर का आधार यह नियम है कि अस्तित्व पाने के बाद प्रत्येक वस्तु का नाश अवश्यम्भावी है। अतएव मानव समाज चाहे जितना सुसग ठित हो उसका अस्तित्व विनाश स बच नही सकता। इस समाज के विनाश का क्या रूप होगा ? इस प्रसग म वह एक और सामान्य नियम का उल्लेख करता है जो समस्त जीवधारी अथवा आत्मा तथा देह के सयोगजनित प्रत्यक वस्तु को लागू होता है। समस्त सजीव वस्तुओ क लिए अपने स्वभाव के अनुसार पूव निदिष्ट अवधि रहती है जिस पर उनकी सन्तति क्रिया की क्षमता और शक्ति निभर हुआ करती है। बीच बीच मे मनुष्य देहगत आत्माओ की जीवनी शक्ति क्षीण हो जाती है और पहले की अपेक्षा सन्तानोत्पत्ति का ह्रास होता है। यदि इस दुरावस्था काल म कुछ सन्तान होती है तो उसम जाति क हीन लक्षणो का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। तब समाज का ह्रास होना अनिवाय है। प्लेटो सन्तान की किसी निश्चित सख्या का उल्लेख पहेली के ढग से करता है जो एस सकट की अवधि की द्योतक होती है। हम इस खास सख्या को महत्त्व देने के चक्कर म न पडें। इस परिच्छेद मे प्लेटो अपने इस विश्वास को बताता है जिसके अनुसार सन्तान सख्या सम्बन्धी कुछ नियम निर्धारित हैं और जिन्हे निश्चित ढग से व्यक्त किया जा सकता है। किन्तु वह कहता है कि समाज के श्रेष्ठ विद्वानो की मति भी इन्द्रिय सुख स दूषित हुए बिना नही रहती। अतएव सन्तानोत्पत्ति के नियमो को ठीक तरह समझना उनके वश के बाहर होता है और इसी कारण उनकी भूल के फल स्वरूप जो बच्चे जन्म लते है वे अपने माता पिता स बहुत घटिया हुआ करते है। जब ह्रास एक बार शुरू हो जाता है तो उसम बराबर वृद्धि ही होती है। इस प्रकार मानव समाज अपने जीवन क नियमो की नासमझी के कारण स्वय क्षय का आह्वान करता है।

समाज और आत्मा के ह्रास की क्रमिक अवस्थाएँ

प्लटो को किसी तरह यह सूझ पडा था कि मनुष्य-समाज एक अर्थ म सजीव वस्तु है और उसके विकास तथा क्षय के कुछ अपने अलग नियम भी हैं। इस कथन को सिद्ध करने की कोशिश वह नहीं करता किन्तु आज तक उसका यह मौलिक विचार ज्यो का त्यो बना हुआ है कि प्रत्येक जाति की प्राणशक्ति के निर्वाह की कुछ अनुकूल तथा प्रतिकूल स्थितियाँ होती हैं जिनका कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। बहुतेरे लोगो को अभी तक यह मान लेना स्वाभाविक लगता है कि राष्ट्र का प्रत्येक ह्रास उसकी जीवनीशक्ति के किसी अपव्यय से होता है। ऐसे नियम अवश्य हैं जिन पर इस जीवनीशक्ति का अपव्यय अथवा उसकी स्थिरता आधारित है चाहे उन नियमो की खोज करना असम्भव ही क्यो न हो।

अत समाज का अपनी आदर्श दशा से गिर जाना दुर्निवार है। समाज के जिन श्रेष्ठ रूपो को हम देखते हैं, वे भी मनुष्य स्वभाव के सर्वोच्च तथा निम्नतम लक्षणों से समझौते के परिणाम हैं। श्रेष्ठ महाजनतन्त्र के दोष किन विशेष लक्षणो मे प्रकट होते हैं? इसे जब आदर्श राज्य के मानदण्ड से परखते हैं तो इसके अन्तर्गत दोष दो, खास वर्गों से प्रकट होते हैं शासकवर्ग सम्पत्ति सचय करने लगता है और निजी सम्पत्ति की संस्था पहला दोष है। शासित जनसमुदाय को शासक वर्ग अपने अधीन और अपना दास समझने लगता है—यह दूसरा दुर्गुण है। पहले दोष के फलस्वरूप राज्य के शासक तथा शासित के हितो मे जो पूर्ण अभेद रहना चाहिये उसका लोप हो जाता है। समवाय (जनमण्डल) के विभिन्न वर्गों म जिस पूर्ण सहयोग तथा आदान प्रदान का सम्बन्ध नितान्त आवश्यक है वह दूसरे दोष के कारण नष्ट हो जाता है। शासितजन शासकवर्ग को अपना रक्षक और त्राता मानें तथा शासकगण शासित जनसमूह को अपनी भौतिक आवश्यकताओ का दाता मित्र मानें। इसके विपरीत जहाँ समाज का विभाजन राजा और प्रजा दास तथा स्वामी मे हुआ, उसी क्षण परस्पर सेवा भाव और समान हित का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है।

प्लेटो इन तथ्यों के मनोवैज्ञानिक उद्गम का पता लगाता है। मनुष्य में स्वार्थतत्त्व स्वभावत प्रबल है जिसको छूट देने से ये परिणाम होते हैं और इस छूट से जाहिर है कि मनुष्य स्वभाव म विवेक नामक जो सर्वोपरि तत्त्व है उसे पदच्युत कर दिया गया है। उसके स्थान पर मनस्विता राज्य करने लगती है जिसकी प्रेरणा से व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के बिना दूसरी बात नहीं सूझ पडती। महाजनतन्त्रीय मनुष्य का एकमात्र ध्येय व्यक्तिगत उत्कर्ष है अर्थात् अपने श्रेष्ठ चिन्तन

प्लेटो की धारणा है कि किसी भी समाज के ह्रास का कारण उसके शासकों में फूट तथा उत्पातमूलक दलबंदी है। जब तक उनके मन में मेल है तब तक समाज का विघटन असम्भव है। इतना तो ठीक है लेकिन सरस्वती देवी ही जान सकती हैं कि हमारे आदर्श राज्य में फूट और वैमनस्य का आरम्भ किस क्षण होगा। प्लेटो इस तरह व्यंग विनोद का पुट देकर तब गम्भीर बात करता है जब उसे लगता है कि प्रस्तुत प्रश्न का वैज्ञानिक उत्तर देना सम्भव नहीं है। उस समय भी वह यही ढंग अपनाता है जब आत्मा की चरम भवितव्यता के सम्बन्ध में वह पुराण अथवा काव्य की भाषा का आश्रय लेता है। यहाँ वह कहता है हम यही समझ लें कि सरस्वती देवी हमारी हँसी उड़ा रही है मानो हम अबोध शिशु हों और हम तीक्ष्ण व्यंग्य के पात्र हों।

इस व्यंग्यात्मक उत्तर का आधार यह नियम है कि अस्तित्व पाने के बाद प्रत्येक वस्तु का नाश अवश्यम्भावी है। अतएव मानव समाज चाहे जितना सुसंगठित हो उसका अस्तित्व विनाश से बच नहीं सकता। इस समाज के विनाश का क्या रूप होगा? इस प्रसंग में वह एक और सामान्य नियम का उल्लेख करता है जो समस्त जीवधारी अथवा आत्मा तथा देह के संयोगजनित प्रत्येक वस्तु को लागू होता है। समस्त सजीव वस्तुओं के लिए अपने स्वभाव के अनुसार पूर्व निर्दिष्ट अवधि रहती है जिस पर उनकी संतति क्रिया की क्षमता और शक्ति निर्भर हुआ करती है। बीच बीच में मनुष्य देहगत आत्माओं की जीवनी शक्ति क्षीण हो जाती है और पहले की अपेक्षा सन्तानोत्पत्ति का ह्रास होता है। यदि इस दुरावस्था काल में कुछ सन्तान होती है तो उसमें जाति के हीन लक्षणों का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। तब समाज का ह्रास होना अनिवार्य है। प्लेटो सन्तान की किसी निश्चित संख्या का उल्लेख पहेली के ढंग से करता है जो ऐसे संकट की अवधि की द्योतक होती है। हम इस खास संख्या को महत्त्व देने के चक्कर में न पड़ें। इस परिच्छेद में प्लेटो अपने इस विश्वास को बताता है जिसके अनुसार सन्तान संख्या सम्बन्धी कुछ नियम निर्धारित हैं और जिन्हें निश्चित ढंग से व्यक्त किया जा सकता है। किन्तु वह कहता है कि समाज के श्रेष्ठ विद्वानों की मति भी इन्द्रिय सुख से दूषित हुए बिना नहीं रहती। अतएव संतानोत्पत्ति के नियमों को ठीक तरह समझना उनके वश के बाहर होता है और इसी कारण उनकी भूल के फलस्वरूप जो बच्चे जन्म लेते हैं वे अपने माता पिता से बहुत घटिया हुआ करते हैं। जब ह्रास एक बार शुरू हो जाता है तो उसमें बराबर वृद्धि ही होती है। इस प्रकार मानव समाज अपने जीवन के नियमों की नासमझी के कारण स्वयं क्षय का आह्वान करता है।

प्लेटो को किसी तरह यह सूझ पड़ा था कि मनुष्य-समाज एक अर्थ में सजीव वस्तु है और उसके विकास तथा क्षय के कुछ अपने अलग नियम भी हैं। इस कथन को सिद्ध करने की कोशिश वह नहीं करता किन्तु आज तक उसका यह मौलिक विचार ज्यों का त्यों बना हुआ है कि प्रत्येक जाति की प्राणशक्ति के निर्वाह की कुछ अनुकूल तथा प्रतिकूल स्थितियाँ होती हैं जिनका कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। बहुतर लोगों का अभी तक यह मान लेना स्वाभाविक लगता है कि राष्ट्र का प्रत्येक ह्रास उसकी जीवनीशक्ति के किसी अपव्यय से होता है। ऐसे नियम अवश्य हैं जिन पर इस जीवनीशक्ति का अपव्यय अथवा उसकी स्थिरता आधारित है चाहे उन नियमों की खोज करना असम्भव ही क्यों न हो।

अतः समाज का अपनी आदर्श दशा से गिर जाना दुर्निवार है। समाज के जिन श्रेष्ठ रूपों को हम देखते हैं वे भी मनुष्य स्वभाव के सर्वोच्च तथा निम्नतम लक्षणों से समझौते के परिणाम हैं। श्रेष्ठ महाजनतन्त्र के लोप किन विशेष लक्षणों में प्रकट होते हैं? हम जब आदर्श राज्य के मानदण्ड से परखते हैं तो इसके अन्तर्गत दोष दो, खास ढर्गों में प्रकट होते हैं शासकवर्ग सम्पत्ति-संचय करने लगता है और निजी सम्पत्ति की संस्था पहला दोष है। शासित जनसमुदाय को शासकवर्ग अपने अधीन और अपना दास समझने लगता है—यह दूसरा दुर्गुण है। पहले दोष के फलस्वरूप राज्य के शासक तथा शासित के हितों में जो पूर्ण अभेद रहना चाहिये उसका लोप हो जाता है। समवाय (जनमण्डल) के विभिन्न वर्गों में जिस पूर्ण सहयोग तथा आदान प्रदान का सम्बन्ध नितान्त आवश्यक है, वह दूसरे दोष के कारण नष्ट हो जाता है। शासितजन शासकवर्ग को अपना रक्षक और त्राता मानें तथा शासकगण शासित जनसमूह को अपनी भौतिक आवश्यकताओं का दाता मित्र मानें। इसके विपरीत जहाँ समाज का विभाजन राजा और प्रजा, दास तथा स्वामी में हुआ, उसी क्षण परस्पर सेवा भाव और समान हित का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है।

प्लेटो इन तथ्यों के मनोवैज्ञानिक उद्गम का पता लगाता है। मनुष्य में स्वार्थतत्त्व स्वभावतः प्रबल है जिसको छूट देने से ये परिणाम होते हैं और इस छूट से जाहिर है कि मनुष्य स्वभाव में विवेक नामक जो सर्वोपरि तत्त्व है उसे पदच्युत कर दिया गया है। उसके स्थान पर यशलिप्सा राज्य करने लगती है जिसकी प्रेरणा से व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के बिना दूसरी बात नहीं सूझ पड़ती। महाजनतन्त्रीय मनुष्य का एकमात्र ध्येय व्यक्तिगत उत्कर्ष है अर्थात् अपने श्रेष्ठ चिन्तन

क्षणा म भी इस ढग का मनुष्य केवल अपने लाभ की बातो में डूबा रहता है। यशलिप्सा की इस प्रवृत्ति के अनेक ल ाण स्पार्टा के जन जीवन म मिलते थे जिन्हें प्लेटो बहुत कुछ ठीक समझता है। स्वत्वाधिकार का सम्मान व्यायाम तथा सनिक ि्षण की ओर विशेष रुचि शासकवग का सहभोज तथा व्यापार निषेध उनम से कुछ प्रमुख लक्षण हैं। लेकिन इनके कारण विवक की इतनी अप्रतिष्ठा का गयी कि वह सनिक सगठन तथा व्यूह का दास बना दिया गया। इसलिए विवेक स्वत गुणहीन हो जाता है। आम लोगा क मन मे विलक्षण गुणसम्पन्न व्यक्तिया के प्रति एक साधारण सशय दिखायी देता है। इसस सिद्ध होता है कि विवेक जब अपने परम ध्येय समवाय (जनमण्डल) के उत्कष से पथभ्रष्ट हो जाता है तब उसकी सरलता और सन्निष्ठा लुप्त हो जाती है। और जब सर्वोच्च ध्येयतत्त्व को चोट पहुचती है तब समाज का समष्टिजीवन दु यग्रस्त हो जाता है, भौतिक वस्तुआ की बुभुक्षाएँ आा की प्रेरणाएँ बन जाती है क्योकि निश्चित मर्यादा मे रहने के बजाय और जीवन की सहज जरूरता का अवयव होने के स्थान पर वे स्वय अपना प्रभुत्व जताने लगती है समाज उनके आधिपत्य का मानो स्वीकार कर लेता है। प्लेटो की दृष्टि म इसका प्रधान लक्षण तृष्णा है अथ लालुपता है जा कहने को जरूर इस समाज म वर्जित है पर आख चुराकर गुप्तरूप से वह प्रबल हा रही है। बुभुक्षा या भूख का उन्मूलन नही हा सकता और मनुष्य स्वभाव म निहित उन्नत वृत्तिया के परिष्कार म हम जितने असफल हागे तुच्छ वस्तुएँ उतने ही वेग से प्रभावी होती जायेंगी। इस तरह प्रतिष्ठा के निमल बहिरग की ओट म सबस घटिया गुण का विकास हुआ करता है। अरस्तू न अपन युग की स्पार्टा समाज म भी कानूनी प्रतिब घ के विपरीत इस तृष्णा क गुप्त विकास का सकेत किया है। महाजनतन्त्रीय राज्य क वणन मे बताया है कि अथ लोभ की प्रवृत्ति बढन बढ़ते वह सामाजिक जीवन की प्रधान शक्ति बन जाती है। फलत राज्य सस्थाआ को इसी के अनुसार अपना तौर-तरीका बदलना पडता है जिसके कारण राजनीतिक सत्ता विवश होकर सम्पत्ति पर निभर हो जाती है।

यही प्रक्रिया महाजनतन्त्रात्मक व्यक्ति क जीवन म शुरू हा जाती है। खास तरह के महाजनतन्त्रीय व्यक्ति को सज्जन अर्थात दशनज्ञ का पुत्र बताया गया है। एस राज्य म श्रेष्ठ पुरुषा को सावजनिक जीवन से निकाल दिया जाता है और सभी सावजनिक काम स्वार्थी और सदाचारशून्य लोगा के हाथा म चला जाता है। प्रभावलिप्सा के कारण वह अपने पिता के रगढग से घृणा करने लगता है और जन सेवा के धन्धे स आँख मूदकर डुबकी लगाता है। कुछ देर तक बचे

सुचे शील के प्रभाव में वह ठीक तरह चलता है लेकिन यह वृत्ति बहुत जल्दी पुरानी पड़ने लगती है निर्बल हो जाती है, विवेक भी इसका समर्थन नहीं कर पाता। नतीजा यह होता है कि वह बहुत थोड़े समय बाद दुराग्रह में बदल जाती है। शील के बन्धन को तोड़कर तृष्णा निर्लज्ज बन जाती है और अन्त में धन लोलुपता नग्नरूप में नाचने लगती है। ऐसा तभी होता है जब मनुष्य के जीवन में सदाचार को नित्य सुरक्षित रखनेवाले संगीतात्मक विवेकतत्त्व की उपेक्षा की जाती है।

प्लेटो ने 'लाज़' (Laws) के एक परिच्छेद में स्पार्टा की जीवन विधा पर अपनी सम्मति अंकित की है। वह बतलाता है कि स्पार्टा जाति जिस आत्म नियन्त्रण पर बड़ा गर्व करती थी, वह सकट तथा पीड़ा की स्थिति के बजाय विषयभोग के प्रलोभनों से धूल में मिल जाती थी क्योंकि उन्हें विषय-सुख की चुनौती का अभ्यास नहीं था। अरस्तू के समान प्लेटो भी स्पार्टा के एक गुण पर आसक्त था। ग्रीस में केवल स्पार्टा जाति ही ऐसी थी जिसने सोच-समझकर जीवन का एक सिद्धान्त अपनाया था और उसे अपने आचरण में उतारा था। उक्त दोनों लेखक निश्चित प्रकार की शिक्षा के प्रति उसकी तत्परता व्यवस्था तथा अनुशासन के प्रति उसकी आस्था तथा इसके फलस्वरूप समाजतन्त्र में व्यक्ति के अन्तर्लय की सराहना करते हैं। किन्तु इन दोनों विद्वानों की सूक्ष्मदृष्टि में स्पार्टा का जीवन तथा उसके समाजतन्त्र के उद्देश्य अत्यन्त संकीर्ण थे।

मनुष्य स्वभाव का तीसरा तत्त्व भूख या बुभुक्षा है। जब स्फूर्तिमूलक प्रेरणा इसे प्रबल बनने का अवसर देती है तब समूची जीवनक्रिया पर यह हावी हो जाती है और धनलिप्सा उसका नितान्त शिष्ट रूप है।

उच्चकुलतन्त्र के सम्बन्ध में प्लेटो की धारणा यह है कि वह जीवन की प्रमुख आवश्यकताओं के लिए बुभुक्षाओं का आधिपत्य है। यदि इन बुभुक्षाओं को स्वाधीन रखा जाय तो वे हितकारी हो जाती हैं। वह संविधान का ऐसा रूप है जिसमें सम्पत्ति को खुले तौर से जीवनोद्देश्य माना जाता है जो जीवन धारण का सर्वश्रेष्ठ अभिप्राय है और जिसे पाने के कारण एक आदमी दूसरे से बहतर बन जाता है। राज्य में अगण्य मनुष्य जिस चीज को जीवन का परम लक्ष्य मान लेते हैं, उसकी अभिव्यक्ति और मान्यता वह राजनीतिक संविधान है जिसमें धनिकवर्ग को राजनीतिक सत्ता मिलती है। इस प्रकार के संविधान को स्वीकार कर लेने के जो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण लाभ इस के परिणाम होते हैं, अब उनका

वणन किया जाता है पहले राज्य की एकता अधिक छिन्न भिन्न हो जाती है क्योंकि समवाय (जनमण्डल) के सुख सन्तोष का ध्यान रखकर प्रत्येक वग जब तक अपने निश्चित कत्तव्य का पालन करता है तब तक ही एकता रहना है। इस प्रकार के सन्निधान का फल यह होता है कि दो बस्तियां या पुर बन जाते हैं। एक म धनिक समाज रहता है और दूसरा निधनो का पुर कहलाता है। कसे सम्भव है कि समान हितो की चिन्ता का सूत्र दृढ बना रहे जबकि परस्पर विरोधी हितो से एक समवाय के दो खण्ड हो जाते हैं। दूसरे राज्य की आन्त रिक एकता जैसे-जसे क्षीण होती है, उसकी शक्ति में शिथिलता बढ़ती जाती है। धनिकवग सोचता है कि निधन जनसमूह को शस्त्रादि देना उसके लिए सकट प्रद हो जायगा, धनिकवग स्वय उत्तरोत्तर सनिक योग्यता को खोने लगता है क्योकि दरिद्रवग से निभय हो जाने पर सनिक कुशलता तथा सजगता की ओर पहले जैसा ध्यान देना जरूरी नही समझा जाता। शारीरिक ह्रास भी इसी स शुरू हो जाता है। तीसर सम्पत्ति लाभ की वृद्धि के साथ साथ अपनेआप धन का अपव्यय बराबर बढ़ता जाता है। एसे कानून बनाये जात हैं जो सम्पन्न अभि जात समुदाय को ही लाभ पहुचाते हैं और सम्पत्ति क अधिकार से निधनो को वचित करने के रास्ते निकलते रहते हैं। इस सम्पत्तिवान-वग के बाहर एसी दरि द्रता रहती है जो लगातार कगाली क कारण खतरनाक चरित्रहीन समुदाय को बढ़ावा देती है और इस दरिद्रवग म उडाऊ खाऊ आदतो के बिगडे रईसो क जुडते रहने स उसकी आबादी बराबर बढती जाती है। इस खतरनाक जमात पर काबू रखने क लिए जबदस्ती दमन करने की जरूरत होती है लकिन कोई शासन बल प्रयोग के भरोसे बहुत समय तक टिक नही पाता।

इस वणन म उच्चकुलतन्त्रीय मनुष्य का जो खाका मिलता है उसम हम ग्रीक जीवन की खास तसवीर देख सकते है। जो लोग राजनीतिक प्रतिष्ठा के अभि लाषी होत हैं उनक विरुद्ध ईर्ष्यापूर्ण आरोपो का अभियान निरन्तर चलता है और इसी के कारण वे बर्बाद हो जाते है। नतीजा यह होता है कि चरित्रवान जन समूह सावजनिक कायक्षत्र स ऊबकर उस तिलाजलि देने लगते हैं। इन कडुवे अनुभवो के बाद उनकी दृष्टि सकुचित हो जाती है और वे उद्योग ध धो की ओर मुड जाते हैं। विवेक की फिर अप्रतिष्ठा होती है और वह धन कमाने के हलके काम का जरिया बन जाता है और तब मनस्वी व्यक्ति को सम्पत्ति तथा सम्पन्न जनसमूह की भक्ति का बरबस अभ्यास करना पडता है। इससे शिक्षा की उपेक्षा का एक सिलसिला शुरू होता है जिसस क्रमश चरित्र नीचे ही नीचे गिरता जाता

है। उच्चकुलतन्त्रीय मनुष्य के बाहरी जीवन में शिष्टता, व्यवस्था तथा प्रतिष्ठा दिखायी देती है परन्तु धन की कमी न बुझनेवाली भूख के कारण अभी तक दबी हुई दूसरी तन्द्रालु बुभुक्षाएँ अपने मुंह खोलना शुरू कर देती हैं। राज्य में धनिक्वर्ग जिस प्रकार निर्धनों को ठीक राह बताने के बजाय उन्हें दबाकर रखने में लगे रहते हैं। इसी तरह व्यक्ति के भीतर धनलोलुपता इतनी प्रबलवती हो जाती है कि वह चरित्र की दूसरी सद्वृत्तियों का उपयोग करने के बजाय उन्हें जकड़ देती है और इसीलिए उसके अन्तस्तल में कैद वृत्तियाँ एक होकर उपद्रवी तत्त्व का रूप धारण कर लेती हैं। अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का सदुपयोग करने में अयोग्य होने के कारण राज्य के समान मनुष्य भी बराबर निर्वीर्य होता जाता है।

प्रजातन्त्र के उद्भव का विवरण देते हुए प्लेटो उन सिद्धान्तों को अधिक स्पष्ट उल्लेख करता है जिनको वह मनुष्य जीवन के क्रमिक ह्रास का मूल कारण समझता है। सबसे पहले जीवन के ध्येय या सदाचार के स्वरूप में धीरे धीरे परिवर्तन होने लगता है जो इस ह्रास के लक्षणों का संकेत करता है। दूसरे, जब मनुष्य को किसी वस्तु की भूख लगती है तो वह भूख दिनानुदिन प्रबल होती है जब तक उसकी आन्तरिक रचना में कोई इससे प्रबल शक्ति उसे नियन्त्रित करनेवाला न हो। मनुष्य का ह्रासक्रम भी इसी सिद्धान्त का अनुगामी है। ह्रास के हर अगले कदम पर उसके जीवन का सत्त्व इस भूख के पेट में चला जाता है। उच्चकुलतन्त्र का जो निश्चित लक्ष्य माना जाता है और जिसकी अतृप्त भूख को उसमें बढ़ावा मिलता है उसी में प्रजातन्त्र के उद्भव का मनोवैज्ञानिक प्रयोजन निहित है। सम्पत्ति ही प्रत्येक कार्य का उद्देश्य होना है कानून बनाते समय उसमें धनलोलुपता को खुलतौर पर मान्यता दी जाती है क्योंकि राज्य के सत्ताधारी जन इसे अपने जीवन का प्रमुख सिद्धान्त मानते हैं। अन्त में यही अर्थतृष्णा का सिद्धान्त उच्चकुलतन्त्र के विध्वंस का कारण होता है। व्यक्तियों को सम्पत्ति-संग्रह के लाभ का सुभीता देने में इस तन्त्र के कानून असफल रहते हैं और इसीलिए यह तन्त्र नष्ट हो जाता है। प्लेटो ने दो ही तरीके बताये हैं जो इस सम्पत्ति संग्रह को रोक सकते हैं पहला निजी सम्पत्ति को दूसरे लोगों द्वारा हथियाने पर बन्दिश जिससे अलामप्रद सम्पन्न व्यक्तियों को अधिक से अधिक सम्पत्ति-ग्रहण से वंचित किया जा सके। दूसरा कर्ज वसूली के कानूनों को रद्द करना जिससे फिजूलखर्ची जमात की बर्बादी रोकी जा सके। परन्तु उच्चकुलतन्त्र में इनमें से एक भी कानूनी कार्यवाही नहीं की जाती क्योंकि इस राज्य के प्रमुख सत्ताधारी अपने वर्ग के अधिकाधिक लोगों को सम्पत्ति को कानूनी तरीके में या उनकी मुसीबत में सहायता के बहाने हड़पने की घात लगाये

रहते हैं। धनतृष्णा के कारण इस तन्त्र के शासकगण निस्तेज और अशक्त हो जाते हैं जनता इनकी कमजोरी पहचान लेती है। फलत उच्चकुलतन्त्र का तख्ता उलट जाता है। इन तृष्णालु शासकों को हटाने म विदेशी सहायता अथवा इन्ही के आपसी झगडा का उपयोग किया जाता है। इस तरह प्रजातन्त्र का श्रीगणेश होता है।

प्लेटो क ढग का प्रजातन्त्र वह है जिस अरस्तू सम्पूर्ण या शुद्ध प्रजातन्त्र समझता था। उसके दो आधारभूत सिद्धान्त हैं—स्वतन्त्रता तथा समानता। मनचाहा करने की प्रत्येक व्यक्ति को छूट, स्वतन्त्रता है और हर आदमी हर तरह स दूसरे के बराबर है—यह समानता है। प्रजातन्त्र के सविधान के यही दो प्रबल सिद्धान्त हैं। ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट होता है कि इन सिद्धान्तों पर आधारित सविधान समाज रचना के आदिम सिद्धान्त का बुरी तरह उल्लघन करता है। उस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक व्यक्ति दूसरे से भिन्न है और उसे वही काम करना चाहिये जिसकी योग्यता उसम है। इसके अतिरिक्त वह कुछ नही कर सकता। इसकी उपेक्षा करके प्रजातन्त्र समान तथा असमान योग्यता के व्यक्तियो को समानता का भार सौंपता है। साराश प्रजातन्त्र को प्लेटो जिस ढग स समझता था उसके अनुसार प्रजातन्त्र पर यह आरोप है। *शासन क विरुद्ध यह आरोप अत्यन्त कठोरता स लगाया गया* है। प्रजातन्त्र का विश्वास है कि किसी भी व्यक्ति के विशिष्ट प्रकार से शासन की योग्यता प्राप्त करने या उसके योग्य बनने की कतई जरूरत नही है।

प्रजातन्त्र के अनुरूप मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन म वही लक्षण प्रबल रूप से प्रकट होते हैं जिनका वणन अभी किया गया है और जिनके प्रति जनता समर्थन व्यक्त करती है। इसलिए प्रजातन्त्र का स्वरूप भी उसके चरित्र के ढग पर बनता है। प्रजातन्त्र की मनोवैज्ञानिक नीव है। साधारणजनों म एक नयी भूख का उदय होता है जिसका स्वरूप प्रजातन्त्र मे दिखायी देने लगता है। उच्चकुलतन्त्र मे जीवन की अनिवार्य माँगो को अत्यन्त सगठित, प्रतिष्ठित तथा एकाग्रता से आधिपत्य करने का अवसर मिलता है। प्रजातन्त्रीय मनुष्य की कोई निश्चित भूख नही उभरती बल्कि भूख का व्यापक रूप शासक पर सवार हो जाता है। प्रजातन्त्रात्मक राज्य के समान प्रजातन्त्रीय मनुष्य निश्चित सिद्धान्त क अभाव को ही सिद्धान्त मान बैठता है। इस तन्त्र के अनुरूप मनुष्य को उच्चकुलतन्त्रीय व्यक्ति से भिन्न बताने के लिए प्लेटो आत्मा के बुभुक्षात्मक तत्व का विभाजन करता है। बुभुक्षा के दो प्रधान वग हैं *आवश्यक तथा अनावश्यक। आवश्यक बुभुक्षाएं वे है जिन्हे त्यागा* नही जा सकता और जिनका सन्तोष समष्टि मनुष्य के लिए हितावह है। अनावश्यक बुभुक्षाएँ शिक्षा तथा अभ्यास के फलस्वरूप त्यागी जा सकती हैं। इनकी पूर्ति

से किसी प्रकार का हित नहीं होता। आवश्यक बुभुक्षाओं को धनार्जन की बुभुक्षा
भी कहा जा सकता है क्योंकि इनके कारण उपयोगी वस्तु की वृद्धि होती है। अना
वश्यक बुभुक्षा को व्ययशील बुभुक्षा कह सकते हैं क्योंकि उनसे किसी वस्तु का
उत्पादन नहीं हो सकता। इस प्रकार अन्न की बुभुक्षा जब तक शरीर के लिए हित
कारी है तब तक वह उपयोगी और आवश्यक है। उससे शरीर में बल का निर्माण
होता है। मर्यादा के परे अन्न की भूख अनावश्यक तथा निर्माणहीन हो जाती है।
प्रजातन्त्र के अनुरूप विशेष लक्षणयुक्त मनुष्य वास्तव में उच्चकुलतन्त्रात्मक व्यक्ति
की सन्तान है जिसमें निर्माणात्मक इच्छाएँ ही प्रबल होती हैं। उसके लालन पालन
में शिक्षा का कोई लाभ नहीं मिलता और वह प्रचलित शैली के अनुयायी तथा
दुराचारी समाज में पहुँच जाता है। अपने विवेक के पालन की कोई सामग्री उसके
पास नहीं रहती। इसलिए उसकी बुभुक्षाओं को सूत्रबद्ध करने में वह सर्वथा निरु
पाय हुआ करता है। ऐसी दशा में वे बहुमुखी और विचित्र प्रकार की बुभुक्षाएँ
बन जाती हैं। फिर भी उनके दो वर्ग किए जा सकते हैं। कुछ ऐसी बुभुक्षाएँ होती
हैं जिन पर तर्कबुद्धि के अंकुश का थोड़ा सा प्रभाव बना रहता है और ये कुछ
गुणों में जनगत बुभुक्षाओं पर नियन्त्रण रख पाती हैं। इन बलगाम बुभुक्षाओं को
मनुष्य के परिवार की परम्पराएँ बढ़ावा देती हैं। किन्तु जब तर्कसम्मत बुभुक्षाओं
का नियन्त्रण, मनुष्य की आन्तरिक विवेकशक्ति का सहयोग नहीं पाता तब
नपुंसक बुभुक्षाएँ जो अभी तक काबू में थीं, बाहरी दबाव के हटते ही नये नये
अंकुर के रूप में फूट पड़ती हैं। ऐसे मनुष्य के विवेकशून्य मस्तिष्क पर नकली
विवेक हावी हो पाता है। झूठे सिद्धान्त उसकी ऊसर बुभुक्षाओं के संयोग से दिखा
वटी वैराग्य का रूप धारण करते हैं जिससे तथाकथित नैतिकता के मिथ्या ज्ञान
की कलई खुल जाती है। यह दीक्षासंस्कार की अवस्था है जिसमें पहुँचकर आत्मा
भ्रमजाल से मुक्त होती और अनेक वस्तुओं के सही रूप को पहचान लेने में समर्थ
होकर उन्हें यथार्थ नाम से सम्बोधित करती है उदाहरणार्थ लज्जाभाव को उसका
सही नाम कायरता दिया जाता है। इस अवस्था को पारकर आत्मा स्वच्छन्द हो
जाती है अथवा मनमानी करने की छूट पा जाती है जिसे दूसरे शब्दों में अराजकता
कहते हैं। ऐसे जीवन की प्रवृत्ति अन्ततः एक प्रधान आवेग को सिरमौर बना देती
है जो निरंकुश प्रजापीडन कहलाता है। लेकिन यदि भाग्य अनुकूल हुआ तो आयु
बढ़ने पर इस वर्ग का आदमी अपनी बुभुक्षाओं में एक प्रकार के सामंजस्य या
समझौते की दशा में पहुँच जाता है और तब वह जैसा मौका-वैसा बर्ताव को अपना
सिद्धान्त मान लेता है। अच्छे या बुरे के भेद में कोई सार नहीं है—यह उसका

विश्वास बन जाता है फिर तो हर लालसा को अपने भाग्य का खेल समझकर वह उसी में खप जाता है। संन्यास और व्यभिचार दर्शन क्रीडा, आलस्य, राजनीति युद्ध बारी बारी से उसे फाँसते रहते हैं। और मजा यह है कि इसे वह अपने स्वभाव का स्वतन्त्र विकास मानता है। प्रजातन्त्रात्मक राज्य मे इस ढंग का मनुष्य साधारणत प्रशंसा और स्पर्धा का पात्र बन जाता है।

जिस तरह उच्चकुलतन्त्र से प्रजातन्त्र का आविर्भाव हुआ, उसी प्रकार प्रजातन्त्र से निरकुशता के सिद्धान्त का जन्म होता है। प्रजातन्त्र जिस नियन्त्रणरहित स्वतन्त्रता को मान्यता देता है उसके मनमाने उपयोग का फल निरकुश शासन है। बस तो हर बुभुक्षा अतृप्त होती है। स्वतन्त्रता के उपभोग की जो प्रजातन्त्रात्मक अभिलाषा है स्वभावत वह दिनदूनी रातचौगुनी होती जाती है अगर उस पर नियन्त्रण न रखा जाय। प्रजातन्त्र के उग्र प्रकार मे जिन विचित्र संस्थाओं को अपनाया जाता है उनका प्रादुर्भाव इसी स्वच्छाचारिता से होता है। यह प्रवृत्ति इतनी बलवती होती जाती है कि साधारण जन नाजुकमिजाज हो जाता है और इस मामले मे रत्तीभर बन्धन सहन नहीं कर सकता। प्लेटो का मत है कि प्रतिक्रिया सिद्धान्त के अनुसार मासम और जीवधारी की शारीरिक दशाओं मे परिवर्तन हुआ करते हैं। राजनीतिक समवाय के इतिहास मे इसी तरह प्रतिक्रियात्मक प्रभाव दीख पडता है जिसके अनुसार एक दिशा मे असयम होने पर उसकी प्रतिक्रिया जनित असयम बिलकुल विपरीत दिशा मे भी प्रकट होता है। इसी प्रकार प्रजातन्त्रात्मक राज्य मे निरकुश स्वच्छन्दता से अमर्यादित दासत्व का जन्म होता है। प्लेटो इस खास तरह की क्रान्ति का वर्णन करते हुए प्रजातन्त्रात्मक राज्य के तीन खण्डों का संकेत करता है। उन उडाऊ खाऊ बिगडे रईसों और वक्त के सट्टेबाज लोगों का एक गिरोह बन जाता है जो उच्चकुलतन्त्र मे पनपा था परन्तु प्रजातन्त्र राज्य मे वही सिरमौर बन जाता है और उसी की तूती बोलती है। दूसरा वर्ग वह है जिसमे शान्तभाव से धन कमाने का सिलसिला बनाये रखनेवाले लोग होते हैं और जिनके धन पर समाज के परोपयोगी व्यक्ति मौज करते हैं। तीसरे वर्ग मे उन व्यक्तियों को गिना जाता है जो परिश्रम करके जीवनयापन करते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से इसी जन समुदाय को शासकवर्ग कहा जाता है क्योंकि इन्हीं के वोट की संख्या सबसे बडी होती है। परन्तु ये लोग सार्वजनिक कार्यों मे तभी तक बराबर दिलचस्पी रखकर भाग लेते हैं जब तक इन्हे इस कार्य के लिए पैसा दिया जाता है। नतीजा यह होता है कि जिस राजनीतिक सट्टेबाज या दुस्साहसी जनसमुदाय की पैठ राज्य मे हो जाती है वह धनिकों से रुपया ऐंठकर इस बहुमत

नागरिक समूह को खरीदा करता है। आखिर धनिकवर्ग का धैर्य टूट जाता है और वह इन मौकापरस्त लोगों की लूट को रोकने का उपाय करता है। प्रतिक्रिया यह होती है कि धनिकवर्ग के विरुद्ध भयंकर प्रचार शुरू किया जाता है और उन्हें कुलतन्त्र के पिट्ठू बताकर उन्हें राजद्रोह के षड्यन्त्रकारी सिद्ध करने की कोशिश होने लगती है। जब यह उथल पुथल काफी बढ़ जाती है तो सबसे अधम और निर्लज्ज राजनीतिक अवसरवादी मैदान में खड़े होकर जनता की मित्रता का ढोंग रचाते हैं और प्रजातन्त्र के सर्वश्रेष्ठ रक्षक होने का दावा करते हैं। इस सिलसिले में यह नराधम राजनीतिज्ञ अपने किसी धनिक विरोधी का एकबार खून कर डालता है जिसके फलस्वरूप उसके सौभाग्य की घड़ी का निर्णय हो जाता है और जनता का यह त्राता निरंकुश शासक बन बैठता है। फिर तो वह आपा खो बैठता है और उसके खूनी हाथ बराबर हत्या की ओर बढ़ते जाते हैं। वह प्रचार करता है कि राज्य के शत्रु उसके प्राण के भूखे हैं और इसी बहाने जनता को मजबूर करके वह अंगरक्षकों की नियुक्ति करता है। जहाँ सशस्त्र शक्ति उसके इशारे पर आज्ञापालन करने लगी उसे निरंकुश शासक की सत्ता मिल जाती है। तब सत्तापद की जड़ता और अनेक प्रकार के भय से बाध्य होकर वह अत्याचार के छोटे-बड़े कामों में रात दिन डूबा रहता है और समझता है कि इसी ढंग से उसका सत्ताधिकार स्थायी होगा।

प्लेटो व्यक्तिगत चरित्र में क्रूर अत्याचारी स्वरूप के उद्भव को समझाने की दृष्टि से आत्मा के बुभुक्षात्मक तत्त्वों का फिर विभाजन करता है। अनावश्यक बुभुक्षाओं में कुछ बिलकुल हिंसक जंगली जानवर के अनुरूप अनियन्त्रित हुआ करती हैं। परम संयमी मनुष्यों में भी इनका निवास रहता है परन्तु वे इन्हें अपने वश में रखा करते हैं अथवा केवल स्वप्न में इनको प्रकट होने का मौका मिलता है क्योंकि तब आत्मा विवेक की मर्यादा से मुक्त हो जाती है। इन्हें वशीभूत नहीं किया जा सकता। जीवन के सद्व्यय में बहुतेरी इच्छाएँ उपयोगी बनायी जा सकती हैं परन्तु इन पर किसी का वश नहीं चलता। अत्याचारी निरंकुश मनुष्य वह है जो एकान्त प्रबल बुभुक्षा का क्रीतदास होता है और वही क्रूरग्रामक का वास्तविक भीषण रूप हुआ करता है। प्रजातन्त्रानुयायी मनुष्य से यह व्यक्ति बिलकुल निराला होता है। प्रजातान्त्रिक पुरुष धीरे धीरे अपनी आन्तरिक एकता को खोने लगता है किन्तु फिर भी उसका विभिन्न इच्छाओं में बचा खुचा साम्य या सन्तुलन रहता है जितनी देर तक यह सन्तुलन बरकरार है वह प्रजातन्त्रीय भावना का लिहाज करता है और सिद्धान्तहीन सिद्धान्त की जिन्दगी बिताता है। परन्तु यह

देर तक नही टिकता। पहले तो कुछ बुभुक्षाओ की तृप्ति की तडप होती है और बहुत जल्दी केवल एक भूख सबसे प्रबल होकर अपना आधिपत्य बना लेती है। ज्योही किसी एक भूख का आतक बना वह बढता ही जाता है और राज्य के निरकुश शासक के समान अपना प्रभुत्व विस्तार करके व्यक्ति का सम्पूर्ण चरित्र अपने पेट मे रख लेता है। एकान्त पाशवी वासना की चगुल म फसा मनुष्य उसकी पूर्ति के लिए कौन सा पाप नही कर सकता? यदि राज्य मे इस वर्ग के लोग थोडी सख्या मे रहेगे तो पापकर्मियो का समूह छोटा ही होगा। किन्तु जब यह उच्छृखल चरित्र सहज साधारण रूप धारण कर लेता है तो सर्वोपरि अत्याचारपटु मनुष्य जो एकान्त प्रबलतम वासना के अधीन होगा, वही राज्य का क्रूरतम शासक बनेगा।

○ ○

न्यायनिष्ठ तथा अन्यायी जीवन की तुलना

अभी तक त्रुटिपूर्ण राज्य-पद्धतियों और जीवन के सदोष व्यक्तिगत नमूनों का वर्णन किया जा चुका है। इस क्रम में अन्त में आदर्श राज्य के सर्वथा विपरीत कल्पनावाद राज्य का स्वरूप प्रकट हुआ है। इसी तरह न्यायोचित जीवन के बिलकुल विरुद्ध जीवन का नमूना भी दर्शन को मिला है। प्लेटो इन जीवन स्थितियों के सुख में तोष की चर्चा करके बताना चाहता है कि अन्यायपरक मनुष्य का प्रतिद्वन्द्वी न्यायनिष्ठ पुरुष होता है। इसके आचरण का मिलान उसने तीन तरह से किया है और ये तीन विभिन्न दृष्टिकोण ओलम्पिक प्रतिद्वन्द्विता के समकक्ष हैं। इस प्रसंग में ग्लाकन अन्याय की वकालत करते हुए विजयी पक्ष की घोषणा करने का माध्यम बनाया जाता है। अतः द्वितीय अध्याय में जिस विवादबिन्दु का आरम्भ हुआ था, उसका विधिवत समाधान यहाँ हो जाता है।

आगे जो चर्चा है वह असन्तोषजनक है। साधारणतः चेतना की विभिन्न अवस्थाओं के परस्पर-सम्बन्धों का प्रतिपादन सदैव असन्तोषकारक ही रहेगा। कोई व्यक्ति यह सिद्ध नहीं कर सकता कि मेरा जीवन अथवा मेरे जीवन के सुख का स्वरूप दूसरे की अपेक्षा अधिक अनुकरणीय है क्योंकि हर आदमी अपने सुख का ठीक निर्णायक स्वयं वही है। किन्तु यदि प्रस्तुत चर्चा के समान विवाद आरम्भ होने के पूर्व ही, विवादी व्यक्ति विचाराधीन प्रश्न पर निर्णय कर चुका हो तो हम इतना ही कर सकते हैं कि उसके निर्णय के आधारभूत सिद्धान्त की परख करें और गुणदोष विवेचन प्रक्रिया के जो नियम उसने अपनाये हैं, उन्हें जाँचें। प्लेटो ने इन विभिन्न जीवन-पद्धतियों में तुलना करने के लिए जो सिद्धान्त स्थिर किया है उसी से वह चर्चा आरम्भ करता है। यह तुलना मनुष्य के बहिरंग की नहीं बल्कि उसके अन्तरंग जीवन की सूक्ष्म परीक्षा पर आधारित होगी

जिसके अनुसार समाज के समक्ष अपनेआपको प्रदर्शित करनेवाले स्वरूप के बजाय हम उसके नग्न, अनावृत रूप को देखेंगे। प्लेटो की पद्धति का अनुसरण करके कहें तो हम समष्टि मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन पर विचार करेंगे।

(१) सबसे पहले वह सुन म नोप के प्रमुख रूपों म से तीन को चुनता है स्वतन्त्रता सम्पत्ति तथा भय निवृति। प्रजातान्त्रिक उच्चकुलतन्त्रात्मक तथा महाजनतन्त्रीय लक्षणयुक्त मनुष्य जिन जीवन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए प्रयत्नवान् होते हैं उनका समाधान इन तीनों से हो जाता है। इस चर्चा से अलिप्त किसी बुद्धिमान और निष्पक्ष व्यक्ति की हैसियत से प्लेटो यह प्रश्न रखता है यथार्थत स्वतन्त्र कौन है यथार्थत सम्पन्न कौन है और यथार्थत अभय कौन है—परम यायनिष्ठ अथवा निपट अन्यायी ? इस परिच्छेद का सबसे महत्वपूर्ण विषय स्वातन्त्रता की कल्पना है जो इस प्रश्न के मूल म है। बेशक यह कहना सरल है कि स्वेच्छाचारी मनुष्य परम स्वतन्त्र है क्योंकि वह जो चाहे ठीक वही करने म समर्थ है। अगर परिस्थिति उसे पूरी तरह है बढ़ने चढ़ने का मौका देती है और वह अत्याचारी शासक हो जाता है तो वह स्वयंभूत सर्वशक्तिमान तथा निरकुश होता है। इसके विपरीत प्लेटो का दावा है कि ऐसा मनुष्य शुद्ध गुलाम है क्योंकि अगर उसके समूचे अन्तरंग को देखो तो विदित होगा कि दूसरे सभी मनुष्यों की अपेक्षा जो वह चाहता है उसका शतांश भी उसे सुलभ नहीं है। इच्छानुकूल स्वतन्त्रता की कल्पना का यह सीधासादा वक्तव्य है जो चाहो उसे करना स्वतन्त्रता है। परम स्वतन्त्र मनुष्य जो चाहता है उसे सर्वाधिक कर लेता है और इसका भावार्थ यह है कि जो वह चाहता है उसे वह सम्पूर्ण मनोयोगपूर्वक करता है। स्वेच्छाचारी मनुष्य का सम्पूर्ण अन्तरंग अधर म लटकता रहता है क्योंकि मनुष्य स्वभाव के तुच्छ अंश या विलग अंश ने उसके शेष सम्पूर्ण स्वत्व को दास बना लिया है। जार्जियस' (Gorgias) म प्लेटो दृढ़तापूर्वक यह विश्वास प्रकट करता है कि अत्याचारी शासक अपने मन का या मनोवाछित कोई काम नहीं कर पाता। 'मनोवांछित काम' का यहाँ आशय यह है कि वह काम जिसे सचमुच वांछनीय कहा जा सके। यथार्थत वांछनीय वह है जो आत्मतत्त्व वांछनीय समझे और आत्मतत्त्व का अर्थ है समष्टि मनुष्य। प्लेटो तथा अरस्तू के नीतिनिदर्शन म एक व्यवस्था की निश्चित कल्पना का अन्तसूत्र है जो पार्थिव ही नहीं प्रत्युत नैतिक जगत् को पिरोता है। यदि हम अपनी मूलप्रकृति के सन्तोष म रुचि रखते हैं अथवा यदि हम अपने परम उत्कर्ष के अभिलाषी हैं तो हम उक्त व्यवस्था का अनुशीलन करना चाहिए। इसीसे जुड़ा हुआ यह विचार भी ध्यान म रखना होगा कि

उत्तम स्वभाव एक ढंग से अधम स्वभाव के सत्य की प्रतीति है जिसे या भी कहा जा सकता है कि अधम प्रकृति अपने ध्येय की पूर्ति उत्तम प्रकृति के परितोष म मानती है। जा क्षुद्र है वह महान् बनने की लालसा के चरमबिंदु पर पहुंचकर जिस सत्य म परिणत हो जाता है, वही उत्तम है। तदनुसार स्वतन्त्रता अथवा मनोवांछित काय करना किसी भी या प्रत्येक इच्छा को म तुष्ट करने की शक्ति नहीं है अपितु उन इच्छाओं की पूर्ति करनेवाली शक्ति है जिसम समष्टि व्यक्ति या आत्मतत्त्व का परितोष निहित है।

इस परिच्छेद म आगे सच्चे धन की कल्पना का उल्लेख किया गया है जो 'यूटस्लामेण्ट' के सम्पत्ति विषयक विचार के समरूप है और जिसे तीसरे अध्याय मे पहले बताया जा चुका है। उस प्रसंग म प्लेटो इस पक्ष म नहीं है कि अभिभावक धन और भूमि स सम्पन्न हो। तर्क यह है कि यदि वे अपने पद के अनुरूप आचरण करेंगे तो उनका सदैव वास्तविक सम्पत्ति का लाभ मिलता रहेगा। उसके विपरीत स्वेच्छाचारी व्यक्ति सरासर दरिद्री होता है क्योंकि वह हमेशा अभाव महसूस करता है और कभी उसे तोष नहीं मिलता, उसम पूर्ण होने की सामर्थ्य ही नहीं होती। इसके अलावा, ऐसे व्यक्ति की आत्मा निरन्तर किसी न किसी भय से ग्रस्त रहती है अभय का एक पल भी उसके भाग्य म नहीं लिखा।

तो स्वेच्छाचारी आत्मा बाँझ अभिलाषाओं की बस्ती होती है। इस आदर्श दुःख की पूरी उपलब्धि करने के लिए स्वेच्छाचारी व्यक्ति के स्वभाव की चरम परिणति परिपूर्ण अत्याचारी शासक बनने म होती है। जिस प्रकार दार्शनिक अपने समग्र चरित्र की उपलब्धि तभी करता है जब उसके लिए अनुकूल राज्य का संयोग मिल जाय स्वेच्छाचारी मनुष्य का भी यही हाल है। केवल उसी समय उसके नाशकारी दुर्गुणों को पूर्णतर प्रकट होने का अवसर मिलता है जब वह समवाय (जनमण्डल) का शासक बनता है और तभी परम एकाकी व चरम दुःख की चोटी पर वह विराजमान होता है। सुख समृद्धि की आदर्श स्थिति वही है जब मनुष्य अपने बन्धु बान्धवो से पूर्ण सहयोगीभाव की अनुभूति कर सके। अत्याचारी शासक स्वजनों स सर्वथा विच्छिन्न हो जाता है। इतना ही नहीं स्वतन्त्र और शक्तिमान दीखने पर भी वह निरन्तर भय की चपेट म पड़ा रहता है।

२ न्यायनिष्ठ तथा अन्यायी की तुलना के दूसरे भाग म यह प्रश्न है कि इन विभिन्न जीवन दशाओं का मिलान प्रसन्नता की दृष्टि से किस प्रकार किया जा सकता है? प्लेटो ने इस विचार की छानबीन मनोविज्ञान के ढंग पर की है जिससे आत्मा विषयक उसकी कल्पना सुस्पष्ट होती है।

जैसा चतुर्थ अध्याय में हमें विदित हो चुका है आत्मा की तीन विधाएं या भाग हैं तर्कसम्मत भावनात्मक और बुभुक्षाशील। इनमें से प्रत्येक का एक इच्छानुवर्ती विषय होता है और उस इच्छा के परितोष से उत्पन्न प्रसन्नता भी उसके साथ रहती है। इस प्रकार प्लेटो आत्मा के दो उच्च भागों में इच्छा का वास देखता है और तीसरे भाग में सामान्य इच्छा का प्रबलरूप मानता है (जैसे भोजन की इच्छा सत्य की इच्छा अथवा अन्य किसी वस्तु की इच्छा) और इसी को वह संकीर्ण अर्थवाली इच्छा मानता है जो अंग्रेजी भाषा की एपीटाइट (बुभुक्षा) के साधारण पार्थिव इच्छा के अभिप्राय में आती है। तीसरे अभिप्राय में ही आत्मा के तृतीय भाग की इच्छा का उल्लेख प्लेटो करता है। हमारे स्वभाव के इस भाग की विभिन्न इच्छाओं पर कुछ पार्थिव इच्छाएँ अपनी उत्कटता के कारण इतनी प्रभुता जमा लेती हैं कि उन्हें बुभुक्षा के नाम से सम्बोधित करना ही पड़ता है। किन्तु अन्य विषयों को छोड़कर यह बुभुक्षात्मक भाग पार्थिव सम्पत्ति के लिए व्याकुल रहता है क्योंकि दूसरी बुभुक्षाओं की तृप्ति का सामान्य उपकरण यही है। इसीलिए प्लेटो इसे आत्मा के सम्पत्ति कामी अथवा लाभकारी भाग के नाम से पुकारता है। आत्मा के इस बुभुक्षापक्ष से ग्रस्त व्यक्तियों का उल्लेख करते समय प्लेटो उच्चकुलतन्त्र, प्रजातन्त्र और स्वेच्छाचारीतन्त्र के पात्रों में कोई भेद नहीं रखता। बुभुक्षारत मनुष्य से उसका अभिप्राय विषयासक्त मनुष्य नहीं है। वह ऐसा मनुष्य है जिसे शारीरिक स्वच्छन्दता और सन्तोष की इच्छा अधीन रखती है। उसके विचार से प्रत्येक राज्य में बहुसंख्यक मनुष्य बुभुक्षात्मक स्वभाव के होते हैं। यह नहीं है कि वह अधिकांश लोगों को विषयासक्त और कामुक मानता है बल्कि इसलिए कि दैहिक आनन्द की लालसा ही बहुसंख्यक मनुष्यों को वशीभूत रखती है। अतएव इस परिच्छेद में सरलता की दृष्टि से पार्थिव लाभ की कामना को आत्मा की इस विधा का लक्षणात्मक आनन्द मानना होगा। दूसरे भाग के भावनात्मक तत्त्व की कामना के खास विषय हैं—विजय वरेण्यता और विजय के पुरस्कार। इसे संघर्ष प्रियता और प्रतिष्ठा-लोलुपता की विधा भी कह सकते हैं। अन्त में, तर्कसम्मत विधा की कामना जैसी वस्तुस्थिति है उसे वैसा ही जानने का यत्न करती है और इसीलिए वह ज्ञान तथा विवेक में अनुरक्त होती है।

इस प्रकार मानव जाति की तीन श्रेणियाँ हो जाती हैं जो आत्मा के इन तीन तत्त्वों में से प्रत्येक की प्रधानता के आधार पर बनती हैं। प्रत्येक श्रेणी अपने आनन्द को सर्वश्रेष्ठ समझती है तथा अन्य दो श्रेणियों से सम्बद्ध आनन्द को हेय

मानती है। कौन उत्तम निर्णयकर्त्ता है—इसे हम कैसे जानें? बुद्धिमत्तापूर्ण अनुभव तथा विवेकशक्ति के द्वारा ही इसका निर्णय किया जा सकता है। इन तीन प्रकार के मनुष्यों में से किसका अपना अनुभव इतना व्यापक है कि वह निर्णय करने में समर्थ हो? साधारण मनुष्य पार्थिव लाभ से जो आनन्द पाते हैं दार्शनिक को अपने आरम्भिक जीवन में उसका अनुभव हो चुका था। जीतने का सुख जीतने के फलस्वरूप कीर्ति का सुख प्रत्येक व्यक्ति को इस लक्ष्य के लिए प्रयत्न से मिलता है। सफलता और उसके पुरस्कार पर किसी खास व्यक्ति का ठेका नहीं है। इसलिए व्यक्तिगत अनुभव के नाते दार्शनिक दूसरों के अनुभव से परिचित है परन्तु दूसरे उसके अनुभव से अवगत नहीं होते। दूसरों के अनुभव उसके समान बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं हुआ करते। जहाँ तक विवेकशक्ति की बात है उससे अधिक नैपुण्य किसी और व्यक्ति में नहीं होता। अतएव वह श्रेष्ठ निर्णायक है।

यह दलील ठीक नहीं है क्योंकि प्रस्तुत विषयसंगत प्रश्न का समुचित समाधान वैयक्तिक अनुभव के आधार पर ही सम्भव है। अगर किसी मनुष्य से यह कहा जाये कि उसके निजी अनुभव से दूसरे की आनन्दानुभूति श्रेयस्कर है तो यह बात उसे जँचेगी नहीं क्योंकि उसे स्वयं उस आनन्द का कोई अनुभव ही नहीं हुआ है। इसलिए यदि इस प्रकार का आग्रह उससे किया जायगा तो उसे अपने व्यक्तित्व के महान् तथा क्षुद्र स्तरों की कल्पना का अभ्यास करना जरूरी है। तभी सम्भव है कि वह दूसरों के अनुभव को अपना अनुभव बना सकेगा। किन्तु वह परिच्छेद बहुत मनोरंजक है। इसमें आत्मा के जिस दार्शनिक तत्त्व का उल्लेख किया गया है उसमें प्लेटो का अभिप्राय यह नहीं है कि दूसरों को छोड़कर और उनकी बराबरी से सचमुच किसी दार्शनिक तत्त्व का अस्तित्व है। आत्मा के दार्शनिक तत्त्व से वह मानव प्रकृति के परिपूर्ण रूप की ओर संकेत करता है। व्यक्तित्व के इस परिपूर्ण रूप से नीचे उतरने पर अनुभव क्रमशः संकुचित होता जाता है। 'प्रतिभा' कहलानेवाले व्यक्तिगत गुण का उदाहरण लेकर इसे और सुस्पष्ट कर लिया जाय। शेक्सपियर का व्यक्तित्व दूसरों का बहिष्कार करके नहीं बना था, उसने सभी सम्भव जीवनानुभवों को आत्मसात किया था। ऐसे प्रतिभावान् की कृतियाँ को हम सुबोध नहीं पाते क्योंकि हम उसके समकक्ष अनुभव नहीं हुए हैं। यही कारण है कि मानवजाति का बहुत बड़ा जनसमुदाय ऐसे प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति की रचनाओं को दुर्बोध समझता है। किन्तु जिस मात्रा में उसकी रचनाओं का आस्वादन करके हम उसके अनुभव के भागीदार होते हैं उतना ही हम अपने अनुभव की अपेक्षा अधिक व्यापक अनुभव का लाभ पाते हैं। हमें सावधानी रखनी होगी कि अनुभव

ा प्लेटो का जो आशय है उस हम गलत न समझ लें। प्लेटो यह कहता है कि ाशनिक आत्मा दूसरा के अनुभव को अनिवायत ग्रहण करती है, तब यह मतलब ही कि दशनन प्रतिभावान् कवि के समान, जीवन के विविध प्रकारा की जाँच रम्भ करन के निमित्त ससार भर म दौडधूप करता रहा है। अभिप्राय यह है कि उच्चकोटि का मनुष्य क्षुद्रजना को अपने अनुभव का साझीदार बनाकर अधिक ानाजन करता है जिसके लिए उसे उतना श्रम नही करना पडता जितना वह ाता है। वास्तव म यह सही स्थिति है।

(३) प्लेटो जीवन के इन विभिन्न प्रकारा क सुख सन्ताप का मिलान दूसरे ग स करता है। वह प्रश्न को इस रूप म नही रखता इन सुखा म स श्रेष्ठतम ौन है ? या सबस अधिक वाछनीय कौन है ? बल्कि अत्यधिक वास्तविक सुख ौन सा है ? क्षुद्रकोटि के जीवन का आन द सचमुच कोइ आनन्द नही कहला कता। पहले, वह सिद्ध करन की कोशिश करता है कि जो ययायत आनन्द नही ै वही भ्रमवश निरन्तर आनन्द मान लिया जाता है। सुख अथवा आनन्द पीडा ा अभाव या उससे निवृत्ति नही है। इसी तरह यथाथ पीडा आनन्द का अन्त ही है। आनन्द और पीडा के बीच एक तटस्थ प्रदेश होता है जहा दोना म से क का भी वास नही रहता। जब पीडा नही रहती और इस मनोदशा मे लोग हुचते हैं तो उसे आनन्द कहते हैं। ठीक ऐसे आनन्द के जाते ही जो मनोदशा चती है उस पीडा कहते है। लेकिन तर्कदृष्टि से यह सरासर मूखता है कि आनन्द अथवा पीडा के अभाव की दशा या आन द तथा पीडा की मिली-जुली स्थिति सम्भव है। यह तटस्थ दशा एक प्रकार की अचलता या क्रियाशून्यता है बकि आनन्द और पीडा अथवा सुख और दु ख आत्मा के स्पन्दन है। सीधेसादे उदाहरणा स यह स्पष्ट किया जा सकता है कि ऐसे सुख या आनन्द हैं जिनके पहले दु ख या पीडा की भूमिका नही थी और जिनका अन्त दु खरहित या पीडा हीन होता है परन्तु दैहिक सुख या आनन्द म बहुतेरे ऐस है जो सुख या पीडा की निवत्ति से अनुभूत होत हैं। अभी-अभी उल्लिखित सिद्धा त क अनुसार इन्ह यथाथ सुख नही कह सकते। लकिन यह आसानी से समझा जा सकता है कि बहुतरे लाग उस इन्ह सुख का नाम दते हैं। जो आदमी नीचे लेटा हुआ है अगर वह उससे ऊपर की तरफ आधी दूर भी ऊचा उठेगा और अगर उसने उस आधी ऊँचाई क आगे कभी कुछ नही झाका तो वह समझेगा कि वह शीषभाग पर ही पहुच गया है। इसी प्रकार पीडा या दु ख के म विराम उन लोगो को सुख या आनन्द जसे लगते है जिन्हाने सच्चे सुख को चखा ही नही। ता सच्चा सुख है

क्या ? सुख उस वस्तु से परितोष पाने का फल है जो स्वभावतः तूष्णीम् होती है। सुख की सचाई परितोष की सचाई के अनुपात में होता है। यदि परितोष क्षणभंगुर है और अभाव पुनः पुनः लगता है तो सच्चा परितोष और सच्चा सुख नहीं हो सकता। तो सवाल है : सच्चा सुख है क्या ? जो हम फिर उस प्रश्न के समक्ष पहुंचाता है : मानवात्मा का सर्वोपरि सत्य तत्त्व क्या है ? अथवा हम अपनेआप का क्या अर्थ करते हैं ? क्योंकि सच्चा परितोष वही दे सकता है जो हमारे सच्चे स्वत्व को तुष्ट कर सके।

प्लेटो की इस बात को समझना कठिन है कि कुछ सुख सच्चे होते हैं या नहीं। भाव-सम्बन्धी सत्य के विषय में जितने प्रश्न होते हैं वे सब कठिन हुआ करते हैं। एक ढंग से सम्पूर्ण भावपुंज सत्य है, जो हमें लगता है, वह हमें लगता है और प्लेटो इसके साथ छेड़छाड़ करता है—यह हम न समझ बैठें। लेकिन जिस किसी वस्तु की सच्चाई को प्रश्नास्पद बनाया जायेगा, उसके लिए भी यह बात लागू है। एक मानी में हर चीज यथार्थ है। जब हम पूछते हैं : क्या यह यथार्थ है ? तब हमारा मतलब यह नहीं है : क्या यह जो है वही है ? बल्कि क्या यह वही है जो इससे ध्वनित होता है ? अथवा क्या इसमें वह निहित है जिसे हम समझते हैं कि उसे इसमें निहित रहना चाहिए ? अथवा क्या यह उसी तरह सम्बद्ध है जैसा सम्बद्ध इसे हम मानते हैं ? अथवा क्या यह वही स्थित है जहाँ हम इसे स्थित समझते हैं ? सच तो यह है कि जब हम किसी वस्तु के यथार्थ होने की जिज्ञासा करते हैं तब हम यथार्थता के अतिरिक्त किसी और चीज की पूछताछ किया करते हैं। सुख को छोड़कर दूसरी भावना का उदाहरण लेकर मानो कोई पूछ बैठे : क्या मैं यथार्थतः उष्ण हूँ ? तो क्या यह कोई समझदारी का सवाल होगा ? तभी वह सार्थक प्रश्न हो सकता है जब उसका आशय यह हो : जो मुझे लग रहा है क्या मेरी देह की कुछ प्रक्रियाओं से सम्बद्ध होने के कारण कोई शरीर विज्ञानवेत्ता उसे उष्णता के समान मानेगा ? अथवा यदि मैं थर्मामीटर लगाकर देखूँ तो क्या उसका पारा उष्णता की ओर नाप बतायेगा ? अथवा ऐसे ही कोई अन्य उदाहरण ले लीजिए। बुद्धिमानी से यह प्रश्न करना या उसका उत्तर देना तभी सम्भव है जब जिस भाव से उसका सरोकार है उसके अलावा किसी दूसरी वस्तु की ओर उसका संकेत हो। प्रश्न करने का अभिप्राय ही भाव की आजमाइश करना है और वह स्वयं अपनी आजमाइश नहीं कर सकता, अजमाने के लिए उसके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की जरूरत पड़ेगी। इसी को प्लेटो के सुख और दुःख के यथार्थता विषयक प्रश्न से मिलाकर देखें तो इस पर कोई बहस करना नामुमकिन है कि आदमी को सुख

अथवा दुख का भान होता है अथवा नहीं होता—यही उक्त शब्दों का बहुत स्पष्ट अर्थ होगा। (कहते हैं न कि आप किसी व्यक्ति के भावों के परे उससे दलील नहीं कर सकते।) यदि प्लेटो का प्रश्न बुद्धिसंगत ढंग से पूछा और समझाया जा सकता है तो सुख अथवा दुख के आशय में किसी अन्य वस्तु का संकेत प्रच्छन्न रहेगा।

अब प्लेटो सन्तुष्ट होने के अर्थ में सुख का विवेचन करता है जो उसकी परिभाषा का स्वाभाविक ढंग है। इस अर्थ में आत्मभाव का विशेष भाग अपने उपयुक्त विषय से तूष्णीम् होकर सुख ग्रहण करता है और इस उपयुक्त विषय के सिवा किसी दूसरी वस्तु से उसे सन्तोष नहीं होता। पानी से भूख और ठोस अन्न से प्यास नहीं बुझ सकती। इसीसे हमें वह ख्याल मिलता है जिसके सहारे प्रश्न पूछा जा सकता है कि नितान्त यथार्थ सुख क्या है? अगर उत्तर में कहें कि नाना वस्तुओं की संहति होते हुए भी आत्मा या आत्मभाव एक वस्तु है तो यह पूछना बोधगम्य है परितोष की विविधता में कौन सा प्रकार आत्मभाव को नितान्त यथार्थ रूप में तुष्ट करता है? प्लेटो का भावार्थ यही है जब वह पूछता है कि सर्वथा यथार्थ सुख कौन-सा है। वह अपना प्रश्न निश्छल और सुगम तरीके से पूछता है क्या आत्मभाव या आत्मा को क्षुधा की तृप्ति से उसी तरह सन्तोष मिलता है जिस तरह का सन्तोष उस सत्य की उपलब्धि में होता है? सन्तोष जितना स्थायी होगा उतना ही वह यथार्थ कहला सकता है। हम जानते हैं कि भूख को सन्तुष्ट करने पर जो परितोष होता है वह नाममात्र को स्थायी हुआ करता है। हम निरन्तर भूखे होते रहते हैं और आयु के बढ़ने के साथ हमारी भूख अधिक सन्तुष्ट नहीं हुआ करती। इसे दूसरे ढंग से कहें जो आत्मभाव खाने से सन्तुष्ट हुआ है वह आत्मभाव का प्रधान भाग नहीं है और वह ऐसा भाग भी नहीं है जो हमारे आत्मभाव में नित्य तथा स्थायी रूप से विद्यमान रहता हो। हम ऐसे आत्मभाव की कल्पना करें जिसे स्थूल भूख के सिवा अन्य किसी भूख को सन्तुष्ट नहीं करना है और फिर पता लगायें कि उसे कितना सन्तोष मिला अथवा हम यह पूछें कि वह आत्मभाव का कितना अंश है उसकी यथार्थता का परिमाण क्या है? हम इसे याद रखें कि आत्मभाव तथा आत्मभाव का सन्तोष विभाज्य तत्व नहीं है उपलब्ध सन्तोष ही आत्मभाव है। ऐसा मनुष्य सदैव दुख या पीड़ा से सन्तोष और सन्ताप से दुख के चक्कर काटता रहेगा। इन दोनों छोरों के बीच सतत् उतार चढ़ाव में वह उलझा ही रहेगा। तब हम विवश होकर कहना पड़ेगा कि इस प्रकार के जीवन में प्राप्त सन्तोष अत्यन्त नगण्य है वह जीवन का सर्वथा तुच्छ अंश है और वह आत्मभाव भी आत्मभाव का निरा स्वल्पांश है। अब हम एक और सवाल करें जो आत्मी

खान के लिए जीता है उससे हम घृणा क्यों करते हैं ? इसका आधारभूत कारण यह है कि हमारी मान्यता के अनुसार उस मनुष्य में दूसरी योग्यताएँ परितोष के निमित्त हैं और उसके आत्मभाव का जो भाग भोजन से परितृप्त होता है वह उसका तुच्छांश है। प्लेटो की भाषा में कहें तो जो मनुष्य भोजन के लिए जीता है वह एक अपूर्ण अंश के नाम पर अपनी समष्टि व्यक्ति-सत्ता की बलि चढ़ा देता है। अलग अलग तरह के सन्तोषों का महत्त्व परखने की बहुत बढ़िया कसौटी यह सवाल पूछना है कि प्रत्येक सन्तोष से व्यक्ति के अन्तस का कितना भाग ईमानदारी से तुष्ट होता है। कतिपय परितोषों के क्षणिक रूपों पर विचार करें तो इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि परिताप के इक्के-दुक्के क्षणों में ही आत्मभाव का अस्तित्व नहीं रहता, प्रत्येक परितोष समष्टिरूप आत्मभाव के परितोष में योगदान करनेवाला अंशमात्र है जो इस तथ्य से विदित है कि परितोष की घड़ी में भी हम पश्चात्ताप का अनुभव हो सकता है।

जीवन के उन्नत और निम्न रूपों के सुखों की तुलना प्लेटो इस ढंग से व्यक्त करता है : उन्नत जीवन रूप में आत्मा के एक बड़े भाग की कामना सन्तुष्ट होती है। अर्थात् इस बड़े भाग में समष्टि आत्मा अधिक अच्छी तरह से अपनी स्वाभाविक सामर्थ्य का बोध पाती है। इस विचार के प्रतिपादन में वह अनेक दलीलें और उपमा देता है। पहले तो आकाश के साथ मिलान करके उसके उन्नत और निम्न का उदाहरण देता है। जीवन के सुख और दुःख की दशाओं की तुलना वह आकाश में ऊँचे उठने और नीचे उतरने की क्रिया से करता है। (बहुतेरे लोग सुख को ऊँचे उठने के भाव जैसा बतलाते हैं।) वह इस उपमा को बड़ी गम्भीरता से प्रयुक्त करता है और उसके प्रश्न को हम इस ढंग से व्यक्त कर सकते हैं : आत्मा किस प्रकार के परितोष से सर्वोच्च दशा का अनुभव करती है और अत्यधिक स्थायी रूप से उत्कर्ष की दशा में बनी रहती है ? इस उपमा का भावार्थ यह है कि प्रत्येक आत्मा सतत् भाव से उन्नत और निम्नगामी होती रहती है और स्थायी उत्कर्ष किसी के वश का नहीं है।

प्लेटो दृढ़तापूर्वक यह विचार पेश करता है कि सबसे अधिक संख्या उन दैहिक बुभुक्षाओं की है जिनके परितोष का सुख सुस्पष्ट रूप से सापेक्ष ढंग का होता है। इसी को प्लेटो और अरस्तू 'मिश्रित सुख' कहते हैं। इन सुखों में से बहुतेरों की उत्कटता इस कारण मालूम होती है क्योंकि पूर्वगत दुःख या पीड़ा की भूमिका में इनकी अनुभूति होती है। यों समझिये कि बीते हुए दुःख का भाव वर्तमान सुख में बोलता है और उसे मनोहर बना देता है। इस प्रकार के सुख

विमल सुख नही हैं शुद्ध नही हैं और जैसा प्लेटो फाइलेबस (Philebus) म बत लाता है कुछ दशाआ म यह कहना भी असम्भव है कि कोई भावना सुखद है या दुःखद। इसी कारण तिक्त मधु वाक्याश का आविष्कार करके हम इस मनो दशा का वणन करत हैं।

देह सम्बन्धी बुभुक्षाआ की तृप्ति लगातार एक दशा स दूसरी दशा म बडे जोर से और सुस्पष्ट परिवत्तन से सुलभ होती है। शायद इसी कारण प्लेटो सुख को एक स्पन्दन-व्यापार का नाम देता है। सभी प्रकार के सुखा मे हम यह भान होता रहता है कि हम एक दशा स बहुत कुछ बदलकर दूसरी दशा म प्रवेश करते हैं। जब कोई मनुष्य सुखी होता है तब उस लगता है कि वह एक मनो दशा को छोडकर, जो सुख की बहुत कुछ निषेधात्मक स्थिति थी किसी नई मनो दशा मे प्रवेश कर रहा है। अरस्तू के मतानुसार बेशक यह ठीक है कि सुख का सही भाव परिवत्तन का बोध नहीं है किन्तु फिर भी वह परिवत्तन तो है। (क्या सुख या दुःख की अनुभूति के लिए हम किसी नितान्त अपरिवत्तनीय जीव की कल्पना कर सकते हैं ? प्लेटो का यह कथन हमे विरोधाभास जसा जान पडता है कि दिव्य जीवन की पुष्टि सुख या आनन्द स नही की जा सकती। हम बहतर हालत के लिए परिवत्तन का क्षमता का लाभकारी मानत है लेकिन साथ साथ यह भा मानत है कि परिवत्तन की जरूरत हमारी किसी त्रुटि का चिह्न है। इस प्रकार सवथा परिवत्तनहीन जीव को हम अपने आप स इतना ऊँचा समझ लेते हैं कि उस परिवत्तन की जरूरत ही नही है अथवा उसे इतना जड समझते हैं कि वह जो है उसस बहतर बनने की योग्यता ही उसम नही है।) बहुत स लाग प्लटो की इस बात स सहमत होगे कि परितोष के उन्नत प्रकारो म परिवत्तन का भाव क्वचित ही उग्र और प्रमुख हुआ करता है जसा वह दहिक सुखा मे झाँकता है उदाहरणाथ, कला का आनन्द इसी उन्नत सुख का एक प्रकार है।

लेकिन यहा एतराज की गुजायश मालूम पडती है। चाहे उन्नत अथवा निम्न ढग का परितोष हो क्या यह बिलकुल जरूरी नही है कि उसके पहल आकाक्षा या चाह की स्थिति मौजूद हो ? हम यह भी जानना चाहेगे कि प्लेटो दैहिक बुभुक्षाआ की अतृप्त प्रकृति पर भी क्यो लम्बी बहस करता है और हठपूवक दहिक परिताप का परिताप नही मानना चाहता मानो कोई एसा भी परितोष रहा है जिसस कोइ इच्छा तुष्ट हुए बिना नही रही ? इन प्रश्नो का उत्तर हम प्लेटो क उस विचार म मिलेगा जिसके अनुसार परितोष चिरस्थायी होता है। ज्ञान की चाह एक प्रयोजन है और ऐसी चाह है वह जो कभी पूरी तौर पर सन्तुष्ट नही

होता। किन्तु इस चाह का परितोष चाहे जितना अधूरा हो आत्मा परितोष के पहले की दशा में फिर कभी वापस नहीं मुड़ती, परितोष के साथ प्रगति का बोध होता है आत्मा निश्चित रूप से अग्रसर होती है और हर परितोष आत्मा का एक स्थायी तत्त्व बनकर अक्षुण्ण रहता है। आत्मा का जो भाग दैहिक सुखों से तोष पाता है, वह उस तोष को रख नहीं सकता, वह तोष छीजता रहता है। प्लेटो इस दशा की तुलना जहाज से करता है। जार्जियस (Gorgias) में इस रूपक का विस्तार किया गया है। उनकी आत्मा का बुभुक्षात्मक भाग जो केवल इसी के लिए जीते हैं, छेदवाले जहाज के समान है। इस परिच्छेद का भावार्थ यह है कि अगर सचमुच कोई आत्मभाव है तो उसका परितोष चिरस्थायी ही होना चाहिए। सच तो यह है कि आत्मा या आत्मभाव उतना ही समझो जितना वह संसार से ग्रहण करता है। इसलिए जब उसे मिलनेवाला सन्तोष नश्वर है तो आत्मभाव भी नश्वर है अर्थात् आत्मभाव अस्तित्वरहित है। हम अपने सन्तोष के विभिन्न प्रकारों की परख करने के लिए यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि जब हमें सन्तोष उपलब्ध हो जाता है तब वह कहाँ तक हमारा स्थायी अंग बनता है?

इस परिच्छेद में और जार्जियस' (Gorgias) में कतिपय सुखों के असन्तोषजनक स्वरूप की धारणा उनके भ्रमात्मक स्वरूप से सम्बद्ध की गयी है। यह बात हम ठीक तरह समझ लें कि जो हमें तोष दे सकता है उसके एवज जो तोष नहीं दे सकता, उसे ग्रहण कर लेना एक तरह का मानसिक छल है। वैसे प्लेटो सामान्यतः बौद्धिक ढंग से परितोष पाने की नैतिक असमर्थता का घनिष्ट सम्बन्ध मानता है। प्लेटो मानता है कि ज्ञान के क्षेत्र में सत्य की जितनी उपलब्धि होती है और उसे जितना आत्मसात् किया जाता है, उतनी ही आत्मा है। इसी तरह इच्छा या वासना के क्षेत्र में आत्मा उतनी ही है जितना वह ग्रहण करती है और अपनाती है। ज्ञान तथा विषयवासना दोनों क्षेत्रों में आत्मा जिसका ध्यान करती है उसी के रूप में वह ढल जाती है। इसमें से प्रत्येक क्षेत्र में यदि हम अनित्य और असत् का अभिन्न अंग बनते हैं तो हम भी अनित्य और असत् हो जाते हैं।

संक्षेप में प्लेटो बतलाता है कि दैहिक वासनाओं की सन्तुष्टि के लिए जीने के बारे में जो कहा गया है, वही आत्मा के स्फूर्तिप्रद तत्त्व के परितोष से चिपके रहने के लिए लागू होती है। व्यक्तिगत प्रतिष्ठा की तलाश निरी प्रतिष्ठा के लिए, दूसरों पर विजय अथवा क्रोध की अतर्कित तृप्ति के पीछे दौड़ना स्फूर्तिप्रद आत्मभाव के लक्षण हैं। इसके बाद अगला परिच्छेद महत्त्वपूर्ण है। हल्के ढंग के सन्तोष

उच्चस्तरीय सन्तोष की तुलना मे कम सत्य और यथार्थ नही है परन्तु उनमे जो यथार्थता है वह उसी अनुपात म रहती है जिसम वे ऊचे दर्जे के सन्तोष के लिए उपयोगी होते हैं। यह परस्पर विरोधी कथन जान पडता है। कुछ एस कारण ह जो यह कहने को बाध्य करते हैं कि कामना या इच्छा जितनी निष्प्रयोजन होगी उतनी ही अधिक तृष्णाम वह रहती है। इसी का प्लेटो उल्टा करके कहता है, अष्टम और नवम अध्यायों म लगातार वह कहता रहता है कि आत्मा का कोई एक अग उसकी सम्पूर्णता स जितना हटता जायेगा उसी परिणाम मे सन्तोष कम होता जायगा। बहुत स्थूल उदाहरण ल लीजिए जो आदमी भोजन को जीवन का एकमात्र ध्येय समझता है उस खान की क्रिया म टिकाऊ सन्तोष कभी नही मिलगा बल्कि इस आदमी की विपरीत वत्ति का मनुष्य भोजन को किसी उच्चकोटि का अभीष्ट पूर्ति मानता है, इसलिए उसका सन्तोष अपेक्षाकृत स्थायी होता है। जैसा सन्त पाल कहते थे मैं खाऊ या पिऊँ सब कुछ ईश्वर की शान मे करता हू। यह भारतीय जन की सहज मान्यता है कि खाना पीना सब ईश्वरार्पण है।' अत्यन्त तुच्छ सन्तोषो म भी यह भावना हो सकती है कि पशु बुभुक्षा स बडी किसी ऊँची और व्यापक पूर्ति के निमित्त प्रत्येक छोटे से छोटा काय है। इसी भावना से बुभुक्षा के परितोष को स्थायित्व और तुष्टि मिलती है जो निरे सन्तोष मे नही होती। फिर इसी प्रकार की तुष्टि म बुभुक्षा का अनुकूल परितोष मिलता है जो उसका निजी परितोष है।

यहाँ पहुचकर जीवन की दो विधाओ के परम सुख की त्रिविध तुलना हो चुकी है। स्वेच्छाचारी आत्मा का परम सुख अधम से अधम काय म सफलता प्राप्त करना है राजोचित आत्मा उत्कृष्ट मनोदशा म परम सुख का अनुभव करती है। इन दो जीवन-पद्धतियो म जो अन्तर हम देख चुके हैं उसका उपसहार प्लेटो एक अद्भुत गणितीय वक्तव्य द्वारा करता है। आत्मा के त्रिविध स्वरूप की जो चर्चा वह आरम्भ म कर आया है उसी पर तीनो जीवन-पद्धतियाँ आधारित हैं। इनमे जो भेद हमने पाया है यदि उस एक आयाम म नापें तो कहना होगा कि महाजनतन्त्रीय मनुष्य का सर्वोच्च आत्मतत्त्व सदव असन्तुष्ट रहता है। दार्शनिक या राजा की आत्मा के समग्र तत्त्व परितुष्ट होते हैं। अतएव दार्शनिक के परितोष से मिलान करन पर महाजनतन्त्रीय आत्मा का सन्तोष दार्शनिक के सन्तोष का दो तिहाई रहता है। उच्चकुलतन्त्रात्मक मनुष्य का जीवन केवल बुभुक्षात्मक तत्त्व को तुष्ट करन म जुटा रहता है इसलिए दार्शनिक की तुलना म उसका परितोष एक तिहाई है। यदि उच्चकुलतन्त्रीय जीवन से इस मिलान का आरम्भ

करें तो याद रखना होगा कि इस प्रकार के जीवन में बुभुक्षा का आधिपत्य होता है और बुभुक्षात्मक आत्मा के तीन विभाग होते हैं। तो उच्चकुलतन्त्र जीवन की तुलना में प्रजातान्त्रिक मनुष्य का परितोष दो तिहाई हुआ करता है और स्वेच्छाचारी जीवन का संतोष एक तिहाई। इस प्रकार स्वेच्छाचारी जीवन की सन्तुष्टि मर्यादा दशमलव के परितोष का नवां भाग होती है किन्तु यह मापन प्रणाली इनके भेद को पूरी तरह स्पष्ट नहीं कर सकती। तीन आयामों में ही हम इस अन्तर की माप करना पड़ेगी। रेखा खींचकर उसे वर्ग का रूप देना होगा और वर्ग को घन की आकृति देनी पड़ेगी। तभी पूरी तरह से त्रुटिरहित तुलना हो सकेगी। परिणाम यह हुआ कि दार्शनिक सम्राट का परम सुख निरंकुश शासन की तुलना में ६×६×६=७२६ गुना पूर्ण होता है।

इस प्रसंग में इस समूचे विवाद के आरम्भिक बिन्दु और थ्रेसीमकस के प्रतिवाद की ओर ध्यान दिलाने के लिए सुकरात फिर उपस्थित किया जाता है। थ्रेसीमेकस की दलील थी कि परिपूर्ण अन्याय ही मनुष्य का यथार्थ हित है। सुकरात मनुष्य जीवन के प्रमुख तथ्यों को रूपक शैली में व्यक्त करके यह सिद्ध करता है कि अन्याय मनुष्य के हित का साधन क्योंकर नहीं हो सकता। इस खण्ड की विचारधारा मूलतः हित विषयक समूचे प्रश्न का आत्मा के अन्तरस्थ जीवन से सम्बद्ध करती है। सुख, हित, लाभ सभी की व्यंजना मनुष्य के गुह्यतम आन्तरिक जीवन की दृष्टि से अथवा आत्मा के सारभूत तत्त्व के सन्दर्भ में रखकर ही करनी चाहिए। इस खण्ड की टेक ही यह है "अपनी आत्मा के निमित्त मनुष्य को विनिमय में क्या देना चाहिये ?" 'लाभ या प्राप्ति की चर्चा हम कर चुके हैं—परन्तु शाश्वत परमश्रेष्ठ वस्तु क्या है ?

आरम्भ में प्लेटो मनुष्य स्वभाव के विश्लेषण की पुनरावृत्ति करता है। केवल दैहिक रूप में ही मनुष्य एक नहीं है बल्कि वह आत्मभाव या आत्मा की दृष्टि से भी एक है। लेकिन इस ऐक्य के साथ-साथ वह जटिल प्राणी है। मनुष्य की रचना के तत्त्वों पर यहाँ एक नवीन दृष्टिकोण मिलता है। उसके बुभुक्षात्मक तत्त्व को बहुशीर्षा पशु के रूप में अंकित किया गया है और उसके सिर लगातार बदलते रहते हैं उसमें नये सिर उत्पन्न करने की अद्भुत सामर्थ्य है। इस पशु का कुछ भाग पालतू है कुछ भाग दुर्दान्त है। मनुष्य स्वभाव का सबसे बड़ा तत्त्व इसी पशु के रूप में रहता है। स्मृतिमान या भावनात्मक तत्त्व सिंह के समान है। जब प्लेटो मनुष्य की मूलवृत्तियों को पशु के रूप में अंकित करता है तब उसे केवल अलंकार शैली नहीं समझ लेना चाहिए। उसका निश्चित विश्वास था कि

जीवन का अभ्युदय एक सतत् प्रक्रिया है जिसम जीवन के विभिन्न रूपा का तारतम्य है। जो भी कारण हो आत्माओं के उत्थान पतन का क्रम जीवन के प्रत्येक मूतरूप के तदनुकूल आचरण स जुड़ा हुआ है। यह भी सत्य है कि मनुष्य की आत्मा के कतिपय तत्त्वा का यथाथ सादृश्य दूसर जीवधारियो म कुछ स्वभाव गत तत्त्वा स बना रहता है। इस विचार को विकास की आधुनिक कल्पना का नवीन अनुमोदन भी मिल जाता है। मनुष्य स्वभाव का तीसरा तत्त्व भले वह स्वल्पतम हो, वही मानो म मानवी तत्त्व है वही हमारे मनुष्य का अन्तर्हित रूप है। इसी को मनुष्य म दिव्यतम का अधिष्ठान कहकर सम्बोधित किया जाता है। यह बहुत महत्त्वपूण विचार है जिसके आधार पर मनुष्य स्वभाव सम्बन्धी सिद्धान्त का निरूपण सम्भव है यद्यपि इस प्रसग म बहुत अधिक ध्यान इस बात पर नही दिया गया है। किन्तु प्लेटो तथा अरस्तू का मत है कि मनुष्य स्वभाव म ईश्वर नश्वर किसी सदोष रूप म अधिष्ठित है और इसी ईश्वरीय या दिव्य सान्निध्य के कारण चाहे वह कितना ही स्वल्प हो उसका स्वभाव विशिष्ट रूप से मानवी है। उसी कल्पना म ईसाई मत की मानव रूप ईश्वर सम्बन्धी पूर्वानुमति का अभिप्राय निहित है। प्लेटो यथाथ मानव स्वभाव को ईश्वरीय गुण स सचमुच अभिन्न मानता है। लेकिन इस विचार का निरूपण प्लेटो और अरस्तू दोनो ने नही किया।

अत मानव यह है। इसी विश्लषण के आधार पर वास्तविक लाभ और उपलब्धि का विचार करना होगा। जब कोई यह कहता है कि मनुष्य-स्वभाव के यथाथ हित की उपलब्धि अन्याय से ही सम्भव है तब वह क्या कहता है— यह उसकी समझ म नही आता इसलिए उसे समझाने का उपाय करना है। इसी इरादे से प्लटो नतिक अच्छाई और बुराई या शुभाशुभ के प्रमुख जाने माने रूपा का उल्लेख करता है और मनुष्य स्वभाव के विश्लेषण म उन्हे परखता है। वही न्यायोचित और सुसस्कृत है जो मनुष्य स्वभाव के प्रत्येक गुणागुण को अपने यथाथ मानवी-तत्त्व की आधीनता स्वीकार करा सके। अन्याय तथा अधम वह है जो हमारे मनुष्य को निहित पशु का दास बना द। जब मनुष्य नीच कम करना हितकारी या लाभप्रद मानता है जसे रिश्वत लेना, तब असल म वह समझता है कि अपनी पत्नी या सन्तान स अधिक मूल्यवान वस्तु मानवी तत्त्व को अन्तरस्थ नितान्त अनीश्वरीय वस्तु का गुलाम बनाना अधिक लाभजनक है। असयम अथवा लम्पटता का अथ ही है—अपने अन्तरस्थ दुर्दान्त जीव को उच्छृखल बनाना। स्वच्छन्दता और अस तोष अथवा क्षोभशीलता हमारे स्वभाव म

सिंह के समकक्ष तत्त्व का अनुचित समावेश होने से उत्पन्न होती है। स्फूर्ति और बुभुक्षा दोनो ही इन विकारो मे क्रियमाण रहते हैं। महाजनतन्त्रीय मनुष्य मे स्फूर्तितत्त्व का आतक छाया रहता है। इसी कारण वह स्वच्छन्द या हठी बन जाता है। बताया जा चुका है कि किस प्रकार स्फूर्तितत्त्व के आधिपत्य मे कतिपय उग्र बुभुक्षाएँ अनात्मभाव से प्रबल होती रहती हैं क्योंकि मनुष्य के अन्तर का परमतत्त्व अपने राज्यासन से वंचित कर दिया गया। तदनन्तर इस स्फूर्तितत्त्व की दुबलता के फलस्वरूप स्त्रैणता, भोगविलास और इनके अनुवर्ती दुर्गुणो को खुलकर प्रकट होने का अवसर मिल जाता है। बुभुक्षाओ की भीड के सामने स्फूर्तितत्त्व की गुलामी का मतलब है—चाटुकारिता और नीचवृत्ति का प्रकोप। अन्तत जो सिंहत्व हम अनुभव करते थे वह निरा वानर बन जाता है। अन्त म अश्लीलतासूचक ग्रीक शब्द के द्वारा प्लेटो इस पतन की अन्तिम दशा का वर्णन करता है। इस दुर्गुण का विकास कुछ धन्धा या पेशो के साथ होना है जो शेक्सपियर द्वारा मेकेनिक (कारीगरी के ढंग के पेशे) या यन्त्रवत् शब्द से घृणास्पद अर्थ मे व्यक्त किये गये हैं। ग्रीकजन का विचार था कि यन्त्रवत् पेशा मे ऐसी सिफ्त होती है जो प्रत्येक दशा मे परिपूर्ण न होने पर भी इस अश्लीलता के दोष को बढावा देती है। प्रत्येक राष्ट्र कुछ पेशो को हेय मानता है, उन्हें राष्ट्र के कलक समझता है और उन पेशो के क्रियाकलाप से ही कुछ शब्द चुनकर उनका वर्णन करता है जैसे चाटुकारिता या परजीवी वृत्ति शब्द जो अनेक दुर्व्यसनो का परिचय देते हैं। जिन पापकर्मों के नाम गिनाये गये हैं उनसे यही आशय व्यक्त होता है कि यथार्थ मानवी तत्त्व बुभुक्षात्मक अंश के अधीन दास हो गया है।

इस प्रकार प्लेटो सक्षेप मे तरह तरह के दुर्व्यसनो के मूलभाव का सकेत करता है। वे सब अन्त करण के विघटन की आकृतियाँ हैं, दासता के विविध रूप हैं। मनुष्य के समक्ष यह प्रश्न है उचित दास्य या दासता क्या है ऐसी गुलामी जो गुलाम का हनन नही करती? वह ऐसी दासता है जो मनुष्य के अन्त करण की श्रेष्ठसत्ता के आधिपत्य मे रहती है। मनुष्य म जो कुछ है उसका प्रत्येक तन्तु उसके दिव्य या ईश्वरीय तत्व की सेवा मे लगा रहे। सर्वोत्तम स्थिति तो यही है कि मनुष्य की अन्तरसत्ता म कोई प्रभुत्वशाली तत्त्व हो। लेकिन अगर यह नही है तो उसे बाहरी व्यवस्था का पालन करना चाहिए। इसी से उस सिद्धान्त की ओर हमारा ध्यान जाता है जो राज्य म कानून और बच्चो की शिक्षा का आधार है। शुरू-शुरू में ग्लोकन ने कानून की व्याख्या करते हुए कहा था कि वह ऐसा बन्धन है जिस तकप्रिय मनुष्य जहाँ-जहाँ सम्भव हो, वहाँ शिथिल कर सकता है या साथ

सकता है। परन्तु कानून सार्वजनिक विवेकशक्ति का मूतरूप है। भेदभाव से परे वह समवाय (जनमण्डल) के प्रत्येक मनुष्य का हितैषी है क्योंकि वह मनुष्य की अन्तरात्मा में श्रेष्ठ तत्त्व का हितैषी है। तदनुसार हम बालकों को यह छूट नहीं देते कि वे अपनी शिक्षा स्वयं शिक्षक बनकर प्राप्त करें। लेकिन जब वे शिक्षा के परिणाम से समर्थ विवेकवान् हो जाते हैं तब उन्हें अपने आचरण का निर्णय स्वयं करने का अधिकार मिल जाता है। नैतिक शिक्षा की भी यही व्यवस्था है कि आरम्भ में कुछ समय तक मनुष्य को कुछ निश्चित नियमों का अनुसरण करना पड़ता है परन्तु धीरे धीरे ये नियम उसके निजी नियम हो जाते हैं।

इसलिए मनुष्य स्वभाव की यथार्थ रूपरेखा को जानते हुए, यह मानना असम्भव है कि अन्यायपूर्ण आचरण मनुष्य के लिए हितकारी हो सकता है। यदि कानून उसके अन्यायपूर्ण आचरण का भेद भी न लगा पाये और वह दण्ड से बच भी जाये तब भी उसे लाभ नहीं होगा। थ्रेसीमैकस यही मानता रहता है कि यदि मनुष्य मनचाहा कुकर्म करे और दण्ड से बचा रहे तो वह उन्नति करेगा। परन्तु यहाँ यह दृढ़तापूर्वक कहा गया है कि मनुष्य का सबसे बड़ा दुर्भाग्य पापकर्म करके दण्ड से बचा रहना है।

अन्त में प्लेटो उन सिद्धान्तों का सारांश देता है जिनके अनुसार बुद्धिमान व्यक्ति अपने जीवन की व्यवस्था करता है। पहले वह क्या सीखना चाहेगा? वह प्रत्येक विषय का उतना ही अध्ययन करना चाहेगा जितना उसकी आत्मा के उत्थान में सहायक होगा। जहाँ तक उसके शरीर का प्रश्न है वह पशुतुल्य सुखों की प्राप्ति को अपने जीवन का ध्येय नहीं मानेगा, केवल दैहिक शक्ति और स्वास्थ्य ही उसका लक्ष्य न होगा क्योंकि वह आरोग्य और बल का उतना ही महत्त्व स्वीकार करेगा जितना उसके अन्तरस्थ विवेकबल की वृद्धि में उपयोगी होगा। आत्मा की समरसता के लिए ही वह शारीरिक सन्तुलन की चिन्ता करेगा। तभी वह आत्मवान् होगा। यह कथन मिल्टन के इस भाव के समान है 'सच्चे कवि का जीवन ही कविता बन जाता है।" सम्पत्ति के विषय में उसका नियम यह होगा कि उसके अन्तरस्थ संविधान की मर्यादा के लिए जितनी सम्पत्ति आवश्यक है उतनी ही वह प्राप्त करना चाहेगा। अन्त में कीर्ति और सत्ता के बारे में वह सदैव यह निश्चित करना चाहेगा कि उसके आन्तरिक उत्कर्ष में कीर्ति और सत्ता सहायक है या नहीं, तभी वह उनका प्रयत्न करेगा।

इसके बाद एक अद्भुत परिच्छेद शुरू होता है। जब कीर्ति की बात आती है तो ग्लोकन कहता है 'यदि कीर्ति की बात करोगे तो मैं सार्वजनिक जीवन के

कार्यों में भाग नहीं लूँगा।" सुकरात समझाता है "वह अपने नगर में तो भाग लेगा परन्तु जन्मस्थान के नगर में विधाता का माप होगा तभी उस वहाँ काम करना पड़ेगा।" छठे अध्याय में प्लेटो कहता है कि ईश्वर कृपा से ही वर्तमान समाज में महान् पुरुष नैतिक अध पतन से बच पाता है और ईश्वर कृपा, मनुष्य की दृष्टि से, कोई ऐसी प्रक्रिया है जिसका ठिकाना नहीं है। इसी मनोदशा में वह आगे कहता है कि आत्मस्वरूप की उपलब्धि के बाद विरला ही कोई मनुष्य सार्वजनिक जीवन को सुखावह अथवा आत्मा के उपयुक्त मानेगा। 'मनुष्य की साधुता और नागरिक की साधुता नितान्त विरल परिस्थितियों में ही साथ साथ मिलती हैं। परन्तु जो व्यक्ति आत्मस्वरूप हो जाता है वह पृथ्वी (अथवा स्वर्ग) पर कहीं रहे, कहीं चला जाय, उसकी यह आदर्श दशा या उत्तमता सर्वदा और सर्वत्र उसके साथ रहती है। रिपब्लिक' में प्लेटो दो परस्पर विरोधी भावनाओं के बीच झूलता है। उसकी प्रधान भावना यह है कि जब तक दर्शन के अनुकूल, योग्य राज्य उसकी क्षमता को अवसर देने के लिए सुलभ न हो, तब तक अपने हित में और समाज के हित में उसका श्रेष्ठ उपयोग नहीं हो सकता। समाज के शासनतन्त्र में परम उत्कर्षशील मनीषियों का उपयोग न होने से जो क्षति या हानि होती है, उसका प्रभाव जीवन की हर दिशा में दिखायी पड़ता है किन्तु यह क्षति स्वयं मनीषी पर भी भयानक प्रभाव डालती है। इसी की तह में दूसरी भावना भी दीखती है जो प्रस्तुत परिच्छेद के समान कई दूसरे परिच्छेदों में व्यक्त होती है। संसार की गति जैसी है उसे ध्यान में रखकर साधारणजन की तरह यह स्वीकार करना पड़ेगा कि दर्शन तथा सार्वजनिक कार्यकलाप में विच्छेद अवश्यम्भावी है जिससे निष्कर्ष निकलता है कि सामान्यत मनुष्य का परमोत्कर्षयुक्त जीवन सार्वजनिक क्षेत्र का जीवन नहीं हो सकता। थियेटेटस (Theaetetus) में प्लेटो दार्शनिक जीवन का विवरण देते हुए इस वक्तव्य की बात समझता है कि साधारण अर्थ में दार्शनिक जीवन सर्वथा अनुपयोगी है। अनेक ईसाई लेखकों के चिन्तन में भी ठीक यही दो परस्पर संघर्षशील भाव मिलते हैं। अपनी आत्मा को संकट से मुक्त रखने का विचार सांसारिक जीवन के साथ मेल नहीं खाता। यह विचारशैली ग्रीस में प्लेटो-युग के बहुत पहले से व्याप्त थी। लेकिन उसके पूर्व और पश्चात युगों में दर्शनों का विवरण मिलता है जो सन्यासी और आश्रमिक जीवन बिताया करते थे। इसके विपरीत हम ईसाई मत का यह सिद्धान्त भलीभाँति विदित है कि जनसेवा के कार्य में संलग्न होने से अथवा सामाजिक जीवन में सेवारत होने से ही इस धर्म के अनुरूप आचरण सम्भव है। यह विचार ग्रीक-दर्शन में सर्वश्रेष्ठ माना गया है और ग्रीस के नैतिक चिन्तन का परमश्रेष्ठ स्वरूप भी यही है। ○ ⊙

काव्य-विषयक उत्क्रम

'रिपब्लिक' के शेष भाग से दशम अध्याय का पूर्वार्द्ध बिलकुल अप्रासंगिक है। कला तथा काव्य का विषय प्रवेश अकस्मात और अस्वाभाविक है जिसे यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। प्रारम्भिक वाक्यों से ही हम यह निश्चित कर सकते है कि प्लेटो इन विचारों म किस तरह का सम्बन्ध सूत्र समझता है। नवम अध्याय क परवर्ती भाग में नये विश्लेषण द्वारा मानव-स्वभाव की यथार्थता को सुस्पष्ट किया गया है। क्षुद्र तत्त्वो के प्रति आत्मभाव का समर्पण ही नैतिक दृष्टि स दुष्कर्म है। इसी आशय को दूसरे प्रकार से प्रस्तुत किया गया है कि मन दीन भाव से ससार के मायाजाल म निश्चेष्ट हो जाता है। अनुकृति कला के सम्ब ध म पूर्व चर्चा म जो कुछ कहा गया है उसके आपत्तिजनक प्रभाव की ध्वनि भी इसी विचार से निकलती है। भावना की भ्रा तिपूर्ण धारणा को यह कला प्रश्रय देती है। सबस बडी हानि यह है कि इस कला के फलस्वरूप भावना का क्षुद्राग प्रबल होता है चाहे वह सुखद हो अथवा दु खद। भावनागत क्षुद्रता के विषय म प्लेटो बहुत अजीब तरह से सोचता है। उसका कथन है कि भावनात्मक हीनता का अभिप्राय यह है कि वह किसी असत् और भ्रा त वस्तु पर टिकी रहती है। इतनी दूर तक तो सम्बन्ध सूत्र का कुछ पता चलता है। फिर रिपब्लिक' की विचारधारा इस खण्ड से आगे भग हो जाती है। दशम अध्याय के अ तिम खण्ड से इसका कोई तारतम्य नही है जिसमे आत्मा के अमरत्व का निरूपण हुआ है और जो नवम अध्याय के अ तिम भाग का स्वाभाविक फल है। समूचे ग्रन्थ का यथोचित उपसहार भी यही है। इतना ही नही, इन दोनो खण्डो के बीच इसी विषयवस्तु क अनेक नूतन सस्करणो के चिह्न भी सहज ही दिखायी देते हैं।

इस समूची परिचर्चा म वाग्योद्धा का स्वर है यद्यपि प्रारम्भ क्षमायाचना स किया गया है। अतएव यह निष्कर्ष सहज ही होता है कि प्लेटो के काव्य

विषयक विचारों की कटुआलोचना की गयी होगी। शायद इसी कारण प्रचुर उग्रतापूर्वक वह काव्य की फिर विस्तृत आलोचना करने पर तुल गया। जो भी हो अपने युग के काव्य विशेषत दृश्यकाव्य के सम्बन्ध म वह अत्यन्त चिन्ता कातर स्वर म कहता है कि उसका प्रभाव सर्वथा अनिष्टकारी है। होमर और अन्य कवियों के सम्बन्ध म यह व्यापक धारणा भी विलक्षण है कि उनकी रचनाओं म शिक्षात्मक महत्ता या कोई गुण है। प्लेटो इस धारणा को बेबुनियाद और घातक मानता है। उसे यह दावा भी निरर्थक लगता है कि होमर तथा अन्य प्रसाद कवि सकलकला-पारगत, पाप या पुण्य आदि सभी मानवी गुणों के ज्ञाता यहाँ तक कि ईश्वरीय ज्ञान के भी धनी थे। वह नहीं मानता कि ग्रीस का शिक्षा दाता होमर था और उसकी रचनाओं से अर्जित ज्ञान के भरोसे मनुष्य अपने समग्र जीवन की दिशा निश्चित कर सकता था। हमारी दृष्टि म होमर केवल साहित्यकार था। उसके काव्य से जीवन पद्धति की स्फूर्ति नहीं मिलती। परन्तु प्लेटो के मनोभाव को समझने के लिए जरूरी है कि हम उसके वक्तव्य को यथा तथ्य मानकर चलें। इस विषय को वह अत्यन्त गम्भीरता के साथ निरूपित करता है। कभी कभी लोगों को यह कहते सुना है कि होमर काव्य ग्रीस देश की बाइबिल थी। प्लेटो जो बात उक्त अंश म कह चुका है उसका संकेत इस अनाड़ी ख्याल में छिपा हुआ है। वसे तो स्वयं बाइबिल के सम्बन्ध म तर्करहित तथा विलक्षण दावा के कारण उस पर इसी तरह के आक्षेप हुए हैं।

प्लेटो की दृष्टि म काव्य एथेंसवासी जनता जनार्दन की अभिरुचि को क्रम लाने का एक बड़ा साधन है, उनकी स्फूर्ति का भण्डारी है। अपने सम्वादों के दूसरे विभिन्न परिच्छेदों म भ्रान्ति उत्पन्न करने के लिए शब्द शक्ति के विषय म जो कुछ उसने कहा है उसे ध्यान म रखकर ही हम उसके काव्य सम्बन्धी मत का ग्रहण करें। स्वयं प्लेटो से महान् शब्दों का स्वामी आज तक नहीं हुआ। लगता है कि इसी कारण वह भाषा प्रयोग की कला के खतरों और कमजोरियों के बारे म बहुत सचेत था। फ़िड्रस, (Phaedrus) म उसने आग्रहपूर्वक कहा है कि लेखक के चित्त म एक सत्य आविर्भूत होता है जिसे जीवित शब्द कहना चाहिए और जिसकी व्यंजना और अभिलेख लिखित शब्द है चाहे वह अत्युक्ति हो काव्य हो अथवा अन्य कोई विधा हो, इसी दृष्टि से शब्द का महत्त्व है। जब तक लेखक की यह आस्था नहीं है कि उसके लिखित से वह अधिक जानता है तब तक वह सचमुच प्रवीण लेखक नहीं हो सकता। यदि उसे लगे कि शब्द स्वयं श्रेष्ठ वस्तु हैं उसी क्षण वह उनके बोध से वंचित हो जाता है। (शब्द

और भाव' के अन्तर्विरोध म भी यही विचार व्यक्त होता है।) अपने युग मे प्लेटो की यह धारणा थी कि मनोरंजन के निमित्त ही साहित्य रचना की जाती थी। 'जार्जियस' (Gorgias) मे काव्य विशेषत त्रासद काव्य को अत्युक्ति की श्रेणी म रखा गया है जो भीड को उकसाने और प्रसन्न करने की एक कला विशेष माना जाता था। इस काव्य को हलवाई और मछीमार की कला के सम कक्ष बताया गया है। एथेन्स रगमच पर जो शोचनीय परिवर्तन उसने देखा था, उसका उल्लेख लाज' (Laws) म कटुतापूर्वक किया गया है। पुराने समय में श्रोता अपने से अधिक निपुण व्यक्तियों की रचना और उनके अभिनय से आन्दोलित होते थे। आजकल नाटकवाद' मात्र है जिसके अनुसार साधारण जनता की रुचि नाटककार या अभिनेता का मानदण्ड है।

कला तथा काव्य के विरुद्ध आक्षेप मे दो प्रमुख विचार हैं। पहला अनुकृतिकता मूलरूप से वस्तु के बहिरग को, उसके ऊपरी ढाँचे को अकित करती है जो वास्तव म वस्तु का कवल तुच्छतम भाग है। यदि वस्तु के बाह्य स्वरूप से धोखे म आकर कोई उस समष्टि वस्तु मान लता है—आशय है कि बहुतेरे लोग ऐसा ही करते हैं—तो वह मृगमरीचिका क ससार म रहता है। दूसरा, सामयिक कला जिन भावनाओ को जाग्रत करती है और उकसाती है विशेषत नाटकीय कला वे सचमुच जगाने और उकसाने योग्य भावनाए नही हुआ करती। पोयटिक्स (Poetics) म अरस्तू ने काव्य का जो स्वरूप प्रतिपादित किया है उसके बिलकुल प्रतिकूल चित्र प्लेटो अकित करता है। इन दोनो के लेखन मे यह विषय समान दृष्टिबिन्दु से निरूपित नही किया गया है। प्लेटो ने तो कला को अभियोगी मानकर उसकी भर्त्सना करने की ठानी है। वह उसकी अनर्थताओ का विवेचन करता है और उसके कथन बहुत कुछ सही भी हैं। लेकिन वह कला के दुष्प्रभाव की चर्चा इस तरह करता है मानो अनुकृतिकला के मूलभाव से इन दुष्परिणामो का जन्म हुआ हो, केवल उसके अनुचित उपयोग स नही। अरस्तू के इसी विषय-सम्बन्धी निबन्ध म प्लेटो की दृष्टि स विपरीत चर्चा की गयी है। सम्भवत अरस्तू त्रासदी के सारभूत तत्त्व और उसके श्रेष्ठत्व को ध्यान म रख कर उसकी परिभाषा करना चाहता था। उस इस बात की रत्तीभर परवाह नही थी कि उसकी परिभाषा क अनुरूप त्रासदी का नमूना कहीं मिलेगा अथवा नही क्योकि उसकी चिन्ता त्रासदी क आदर्श स्वरूप अथवा विशिष्ट गुणो के निरूपण की ओर झुकी हुई थी। साधारण दृष्टि से इन दोनो मनीषियो का चिन्तन एक दूसर स विपरीत है। अरस्तू वस्तुजगत् का आदर्श पक्ष प्रस्तुत करता

काव्य विषयक उत्क्रम

है जबकि प्लेटो एक विवादप्रिय जन के समान केवल विद्यमान तथ्यो का उल्लेख करना ही उचित मानता है।

इस परिचर्चा के तीन खण्ड हैं। प्रथम प्लेटो अनुकृति के मूलरूप का अनुसन्धान करता है जिससे कला रूपायित होती है तथा इसी को वह कला का मूलतत्त्व सिद्ध करता है। द्वितीय और तृतीय खण्डों में वह बिलकुल भिन्न पक्ष से कला की मीमांसा करता है और दो खण्डों मे होने पर भी विषयगत एकता उनमें स्पष्ट है क्योंकि इन दोनों खण्डों में वह अनुकृति कला के आत्मा पर होने वाले अन्तर्मुखी प्रभावों का विवेचन करता है।

इस विवाद के प्रथम खण्ड में प्लेटो कला के अनुकरण तत्त्व का अन्तर्निहित सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार कला की मूल प्रकृति विषयक जो नियम है उसे चित्रकला का उदाहरण देकर समझाता है और इसी के निष्कर्ष से काव्य की मीमांसा करता है।

कला अनुकरण मात्र है—प्लेटो के अनुसार इसका भावार्थ क्या है? आधुनिक लेखक जब कला को अनुकृति के रूप में देखता है तो उसके मन में शायद यह प्रश्न हो सकता है कि क्या कलाकार अपने अनुभव की प्रतिलिपि प्रस्तुत करता है अथवा वह सृजन करता है? प्लेटो के विवेचन में और अरस्तू के अधिकांश कथन में भी इस तरह की बात नहीं मिलती। प्लेटो इस पर ध्यान ही नहीं देता कि कलाकार मौलिक रूप से कुछ सृजन कर सकता है। उसका विचार बहुत स्थूल रूप से इस ओर है कि कलाकार किसी भी दशा में यथार्थ जीवन के विषयों को सही रूप में अंकित नहीं कर सकता, उनके कतिपय आभास भर प्रस्तुत करता है। जो कुछ है कलाकार, उसके नमूने पर नमूने बनाता है। इस दृष्टि से काव्य और चित्रकला का एक ही आधार है चाहे उसके बहुतेरे लक्षण एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हों। स्पष्टतः चित्रकार वस्तुओं का चित्रण किसी निश्चित दृष्टि बिन्दु से रंगों के माध्यम से करता है। कवि रंग के समान शब्दों का उपयोग करता है। उसके शब्द जितना वर्णन करते हैं उससे अधिक उनका महत्त्व नहीं है। जिस तरह रंग जितना चित्रित करते हैं उससे अधिक उनकी व्यंजना नहीं हो सकती। कवि और लगभग उसी मात्रा में चित्रकार किसी आंशिक दृष्टिपथ से चित्र में प्रतिफलित वस्तु रूपों का प्रस्तुत करता है।

चित्रकार तथा कवि अनुकरण के अभ्यास से किसी प्रकार का उत्पादन अथवा निर्माण करते हैं। किन्तु वह किस प्रकार का है? प्लेटो के अनुसार निर्माण की

तीन श्रेणियाँ हैं जिनके अनुरूप तीन विशिष्ट निर्माता हैं। प्रथम वह निर्माण जो प्रकृति की परम्परा म ह और जिसका निर्माता ईश्वर है। इसी कारण ईश्वर को मूलतत्त्व या प्रकृति का निर्माता कहते हैं। द्वितीय, जीवन के उपयुक्त साधारण कृत्रिम वस्तुए जिन्हें शिल्पी या कारीगर बनाता ह, वह ईश्वर की बनायी वस्तु से मिलती-जुलती चीज बनाता ह अर्थात् जिस वस्तु का निर्माता ईश्वर ह उसके विशिष्ट रूप को कारीगर या शिल्पी बनाता है। तृतीय, कारीगर जो चीज बनाता ह उसका आभास देनेवाली भी निर्मित वस्तु ही होती ह जिसका निर्माता चित्रकार ह, वह उसी तरह वस्तु का आभास निर्मित करता ह जिस तरह वस्तु को दपण म दिखाया जा सकता ह। बहुत आसानी से हम समझ सकते हैं कि कलात्मक उत्पादन का यह विवरण प्रामाणिक नही ह। तथापि कलाकार द्वारा निर्मित वस्तु और दपण के प्रतिबिम्ब म इतना साम्य तो है कि दोनो ही वस्तु की आंशिक आकृति को अंकित करते हैं। प्लेटो की राय म कलाकार प्रकृति के सामने दपण रखने स अधिक कुछ नहीं करता।

जो प्रकृति की परम्परा म है —इससे प्लटो का तात्पय क्या ह और इसी के पर्यायार्थी वाक्यांशों का भी क्या आशय है ? वह एक उदाहरण देता है जिससे हम हरत म पड जाते हैं। एक मेज या पलग की कल्पना का मतलब क्या होता है, ऐसी मेज जो सहजरूप म मेज ह, उस मेज की कल्पना जो सिफ एक ही ह उससे अधिक नही उस मेज की कल्पना जो सचमुच मेज ह जबकि जिन्ह हम मेज कहते है व मेज नही है। प्लेटो की भाषा का अथ समझने के लिए हम इस ढग से अपने अभिप्राय को व्यक्त करेंगे कि दो या अधिक बिलकुल विभिन्न प्रकार की मेजो म से प्रत्यक आकृति मेज का रूप या नमूना ह। स्पष्टत हम यह अथ प्रकट करना चाहते हैं कि उन मेजो म कुछ ऐसा ह जो एक सा हैं और इसीलिए वह एक ह। व एक वस्तु के अनेक और विभिन्न रूप हैं और इसी कारण उस एक वस्तु का नाम इन सबको मिला ह। इस सचाई म प्लटो जिस परिणाम का निहित देखता ह वह इस प्रकार ह इनम से प्रत्यक का प्रयोजन उसके नाम के अनुकूल ह परन्तु इनमे स एक भी यथार्थत अपन प्रयोजन अथवा अपने नाम के अनुकूल नही ह। और यह बिलकुल ठीक ह कि प्रयोजन की दृष्टि से अथवा नाम की दृष्टि से इनकी सार्थकता नही ह। प्रत्येक मज का अपनी अयोग्यताए हैं प्रत्येक का नाश होता ह। इसके अतिरिक्त वह अपने अभीष्ट की सवथा पूर्ति नही करती कोई त्रुटि उसम जब चाहे मिल सकती ह और अपने प्रयोजन की सिद्धि म उसे कुछ खास परिवेश आवश्यक ह। मेजो की विशिष्टता का यह तात्पय ह। वे सब

समान अभिप्राय के द्योतक हैं अर्थात् उनके प्रयोजन वास्तव में समान हैं परन्तु उनमें से एक भी मेज नहीं है।

इस कल्पना का भावार्थ उन वस्तुओं के सम्बन्ध में अधिक सरलता से स्पष्ट होता है जिनके विषय में हम आदर्श या पूर्णता का भाव रखते हैं। उदाहरणार्थ अनेक न्यायोचित कार्य हैं, न्याय के बहुतेरे रूप हैं जिनमें से प्रत्येक अपने नाम का आंशिक अभिप्राय-मात्र है। खूबी यह है कि हम आसानी से 'शुद्ध न्याय' की कल्पना को समझ जाते हैं जिसे समस्त न्यायोचित कार्य सदोषरूप से व्यक्त करते हैं। इसी कल्पना का प्रयोग प्लेटो ने मेजों और पलंगों में इस ढंग से किया है कि यह बकवास और हास्यास्पद लगता है। आम तौर पर जिस मेज की बात प्लेटो करता है, वैसी मेज का कोई अस्तित्व नहीं है। फिर भी मेज के निर्माण का सत्य है और इस प्रकार से प्रत्येक वस्तु के सत्य का अस्तित्व शाश्वत है। हम इस सत्य के अस्तित्व को, अथवा इस अर्थ में यथार्थ मेज के अस्तित्व को संसार की आन्तरिक व्यवस्था का अंग मान सकते हैं जिसे हम अधूरे ढंग से समझ पाते हैं अथवा निर्मित करते हैं अथवा जिसे सृष्टिनियन्ता के चित्त में अधिष्ठित मानते हैं। शायद प्लेटो हमारे इस प्रकार के कथन पर टीका करेगा कि बात तो एक ही है कहने के तरीके अलग अलग हैं।

मेजों का मूलस्वरूप जिसे कारीगर ने नहीं, विधाता ने बनाया है, वास्तविक मेज जिसे कारीगर बनाता है और मेज की अनुकृति जिसे कलाकार अंकित करता है—तीनों का यह भेद हमें अपने ज्ञान की तुलना का अवसर देता है। वस्तु की कुशल अनुकृति के योग्य कलाकार को और उसी वस्तु के विषय में अन्यान्य व्यक्तियों को बराबर ज्ञान होना चाहिए। जिस मनुष्य के निमित्त शिल्पी किसी वस्तु का निर्माण करता है और जो उसका उपयोग जानता है, वही मनुष्य उस वस्तु के मूलरूप और उसकी आकृति का ठीक ज्ञाता है। घुड़सवार जानता है कि घोड़े का साज या अश्व सज्जा कैसी होना चाहिए। अश्व सज्जा, मेज, पलंग अथवा अन्य किसी वस्तु का अनुकरण करने के लिए कलाकार को जो ज्ञान आवश्यक है उससे घुड़सवार का ज्ञान भिन्न है। शिल्पी को यह ज्ञान नहीं रहता क्योंकि अपनी निर्मित वस्तु का उपभोक्ता वह स्वयं नहीं है। किन्तु जो वस्तु वह बनाता है उसके विषय में उसकी एक निश्चित धारणा रहती है जिसके कारण ग्राहक की फरमाइश के मुताबिक वह उसे बना सकता है। जो कलाकार वस्तु की सतही समानता का निर्माण करता है उसका ज्ञान उपरोक्त ज्ञान की तुलना में तुच्छ है। ऐसा ज्ञान अटकलबाजी है। प्लेटो ने छठे अध्याय में इस अर्थवाले

ग्रीक शब्द का प्रयोग किया और वही ज्ञान के चतुर्मुखी विभाजन पर प्रकाश डाला है। इस तुलना से यह निष्कर्ष निकलता है कि कलाकार जो कुछ करता है वह पूर्वानुभव नहीं है कोरा खिलवाड़ है। यह निष्कर्ष सभी कलात्मक अथवा काव्यात्मक अनुकृतियों के लिए प्रयुक्त किया गया है। यदि हम इस अनुकरण को गम्भीर कृतित्व मान लें तो हम भ्रान्ति की चपेट में आ जाते हैं।

कलाकारों और कवियों की कृति सम्बन्धी ऐसे वर्णन की सार्थकता दो बातों पर निर्भर रहती है। पहली, जिस विशिष्ट कलाकार या कवि का विचार किया जा रहा है अपने कार्य के विषय में स्वयं उसकी कल्पना कैसी है और किस प्रकार वह अपनी कृति को स्वरूप देता है? दूसरी बात उसके दर्शकों अथवा पाठकों की मनोवृत्ति पर निर्भर है। प्लेटो का ध्यान महान् चित्रकार और कवियों की ओर है। महानतम कवि के सम्बन्ध में भी वह इसी धारणा पर डटा रहना चाहता है कि उसकी कृति भी सर्वोच्च श्रेणी में नहीं मानी जा सकती क्योंकि यदि उसने अपनी रचना में चित्रित आचरण के समान स्वयं जीवन बिताया होता तो वह अपेक्षाकृत महान हो सकता था। काव्यात्मक अथवा कलात्मक कृति और दूसरे प्रकार की कृतियों का तुलनात्मक विवेचन करना न्याय है। इतना पक्का है कि कवि तथा कलाकार विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं और महान् कवियों तथा कलाकारों ने मानव जाति की बड़ी सेवा की है। किन्तु यह भी सत्य है कि उनके प्रशंसकों ने सदैव उन्हें गलत समझा। यह भी हमेशा हुआ है कि काव्य तथा कला को जो उनका यथार्थ गुण धर्म है उससे भिन्न किसी अन्य वस्तु का आरोप उनमें किया गया है। उनकी प्रभावता के विषय में भी कुछ ऐसी मान्यता का प्रचार हुआ कि उनके सम्बन्ध में प्रतिकूल प्रतिक्रिया को प्रश्रय मिला जो प्लेटो की इस धारणा से प्रमाणित है कि काव्य तथा कला खिलवाड़ भर है। प्लेटो के ऐसे कथन से विदित होता है कि उन लोगों की बात उसके मन में थी जो साहित्य के अध्ययन और उससे जीवन परिपाटी के नियम सूत्र ग्रहण करने से उसे जीवन बोध के लिए पर्याप्त मानते हैं। ऐसी धारणावाले लोग प्राकृतिक दृश्य के सुन्दर चित्रांकन को देखकर प्रभावित होनेवाले लोगों के समान भ्रान्ति में हैं। केवल अबोध बालक के तुल्य अथवा अशिक्षित मस्तिष्क ही इस प्रकार प्रभावित हो सकता है। परन्तु रंग और रूप की अपेक्षा भाषा कहीं अधिक गूढ़ होता है। इसी कारण जब किसी रचना का गहरा प्रभाव हम अनुभव करते हैं तो इस प्रभाव के फलस्वरूप हमें भ्रम हो सकता है कि विषयवस्तु को हमने ग्रहण कर लिया है जबकि हम केवल उसके प्रतिपादन की शैली से ही प्रभावित हुए थे। प्रश्न यह है कि कवि हमें इस

संसार के बोध में सहायक कोई वस्तु प्रदान करता है अथवा हमें केवल अभिव्यंजना तथा रूप विधान के आनन्द से अभिभूत करता है। यह उपलब्धि हमारी योग्यता पर निर्भर है कि हम कवि के कृतित्व को कितना ग्रहण कर सकते हैं। प्लेटो का तर्क यह है कि साहित्य में जीवन को जैसा अंकित किया जाता है उसका स्वरूप भाग भी लोग कठिनाई से ग्रहण कर पाते हैं क्योंकि वह उन व्यक्तियों की इस भ्रामक धारणा से परिचित था जो मानते हैं कि काव्य का आनन्द लेना ही अपने आप में बहुत बड़ी बात है। कल्पनात्मक साहित्य की उसने जो भर्त्सना की है, वह उचित है यद्यपि इस साहित्य के उपयोगी प्रभाव को उसने समझने की कोशिश नहीं की। एक दृष्टिकोण यह है कि कल्पनात्मक साहित्य जीवन की समग्र यथार्थता का बोध देने में सक्षम हो सकता है। दूसरा दृष्टिकोण प्लेटो के इस कथन में निहित है कि यह साहित्य जीवन के नितान्त सतही आभास देता है।

आगे के दो खण्डों में इसी एक प्रश्न के दो विभिन्न निरूपण मिलते हैं। जैसा अभी बताया जा चुका है, कल्पनात्मक रचनाएँ केवल दिखावटी रूप को अंकित करती हैं। तब आत्मा पर उनका क्या प्रभाव पड़ सकता है आत्मा के किस तत्त्व को उससे प्रेरणा मिलती है और इस प्रेरणा का क्या परिणाम आत्मा पर होता है?

पहले खण्ड के विषय में विचार करते हुए प्लेटो फिर चित्रकला से आरम्भ करता है अर्थात् उस अनुकृति से जिसका प्रभाव नेत्रों पर पड़ता है और इसी तुलना को वह काव्य पर घटित करता है। चित्रकला की सफलता एक छलनात्मक प्रभाव डालने में निहित है क्योंकि कुछ अद्भुत उपकरणों या तरकीबों से वह हमें किसी वस्तु को तीन आयामी मान लेने की प्रेरणा देती है जबकि वास्तव में वह दो आयामवाली है। अभिप्राय यह हुआ कि विवेक को ताक में रखकर ही चित्रकला प्रभावशाली बन सकती है। (प्लेटो का विवेक से आशय है वैज्ञानिक वृत्ति से जो इन्द्रियजनित भ्रमजाल का निवारण कर यथोचित अर्थ ग्रहण में सहायक होता है।) जिस प्रकार चित्रकला हमारे कतिपय दृष्टिगत छलों का नाम उठाती है, उसी तरह कविता हमारे कतिपय भाव और मनोवेगों का सहारा लेकर सम्पन्न होती है। चित्रकला कुछ देर तक हमारे विवेक को वस्तु के आभास मात्र से पंगु करती है और कविता अपने रसास्वादन के कारण तथ्यों की ओर से आँखें मूँदने की प्रेरणा देती है। उदाहरणार्थ, घोर दुःख दुर्भाग्य की स्थिति निर्माण करके कविता हमें करुणार्द्र और विह्वल बना देती है। यदि हम उस पर विचार करें तो हमें यह पता नहीं चलता कि जिस स्थिति से हम इतने

व्याकुल हो गये थे वह सचमुच उतनी अशुभ है या नहीं। यह भी विदित होना है कि उस विषय पर शोकात होने से किसी का हित नहीं और प्लेटो कहता है कि मानव जीवन से सम्बन्धित कोई भी स्थिति वास्तव में गम्भीर रूप से चिन्तनीय नहीं है। ये तथ्य वैसे ही है जैसे नेत्रशक्ति की परीक्षा करके उसकी माप और गणना से मिली सामग्री का हम विवेकसम्मत परिणाम चाहते हैं। चित्र देखने से जो आनन्द मिलता है वह इसीलिए है कि हम एक ही दृष्टिकोण से वस्तु के आभास में तल्लीन हो जाते है और विवेकसम्मत तथ्यों को पास में फटकने तक नहीं देते। कविता की भावराशि से समरस होने पर यही मनोदशा बनती है। कविता क्षणिक मनोवेग के प्रभाव से हमे उद्भ्रान्त कर देती है। इतना ही नहीं यथार्थ जीवन में जिन मनोवेगो की प्रतीति से मनुष्य लज्जित हो सकता है, त्रासदी तथा अन्य विधाओं के प्रभाव से वह उनके वशीभूत हुआ करता है। इस विषय पर प्लेटो विशद चर्चा करता है। कविता के भाव और मनोवेग विवेकहीन विविधता मे व्यक्त होते हैं और इसी प्रकार की सामग्री बहुत सरलतापूर्वक कविता का विषय हुआ करती है। इस सारी चर्चा का तात्पर्य यह हुआ कि अनुकरणात्मक काव्य आत्मा के हीन स्रोत का पोषण कर उसे सशक्त करता है उसके विवेकयुक्त भाग को नहीं।

इस परिचर्चा के अगले खण्ड में वही मुख्य विषय है जिस पर अभी अभी प्लेटो दृष्टिपात कर चुका है अर्थात् भावनात्मक काव्य के पठन तथा श्रवण से अशोभनीय मनोविकारो को प्रोत्साहन मिलता है। केवल त्रासदी से ही नहीं सुखान्त दृश्य काव्य तथा सामान्यत अन्य कलात्मक विधाओं से यही प्रभाव उत्पन्न होता है। हमारे स्वभाव के बुभुक्षात्मक पक्ष को इससे प्रेरणा मिला करती है जिससे हमारा मनोवेग तत्त्व उच्छृखल होता है और विवेक को निष्क्रिय बना देता है जो इस बुभुक्षा पर अकुश रख सकता था। यदि हम अपने नगर में केवल माधुर्य का प्रभुत्व फैलाना चाहते हैं तो सुख और दुख अथवा आनन्द और पीडा को सत्ताधिकार मे हमे रखना पडेगा, तब सिद्धान्तानुकूल शासन और सर्वजन हितार्थ के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा। अत आदर्श समवाय (जनमण्डल) में कविता का क्षेत्र अत्यन्त सीमित रखना चाहिए। उसके परम वर्ध्य विषय—धर्म तथा देशभक्ति ही हो सकते है। इस समीक्षा मे ईश्वर-वन्दना तथा वीरपुरुषों की यशगाथा सम्बन्धी दो विषय निन्दा से अछूते रखे गये है।

यद्यपि प्लेटो ने नाटकीय प्रभाव को ही ध्यान में रखकर यह सारी चर्चा की है। तथापि आज के युग में उस समय के प्रभाव से मिलता जुलता रगमच नहीं

रह गया है। कल्पनात्मक साहित्य-सम्बन्धी नये प्रश्न पर विचार करते समय हमें उपन्यासों के प्रभाव की चर्चा ही स्वाभाविक और समयानुकूल जान पड़ती है। इसमें सन्देह नहीं कि कल्पनात्मक साहित्य का प्रभाव हम पर इसीलिए पड़ता है क्योंकि हम मनोवेगों के वश में सहज ही रहा करते हैं। वह हमारे स्वभाव के एक ही पक्ष को प्रशमन सहलाता है। यह भी सच है कि जब हम कल्पनात्मक साहित्य की चपेट में फँस जाते हैं तब हमारे अन्तःकरण का कुछ भाग उतनी देर तक खटाई में पड़ जाता है। या कहिए कि उसके वशीभूत होकर हम आपा खो देते हैं। अब सवाल यह है कि यह आपा हमारे अन्तःकरण का कौन-सा तत्त्व है जो कल्पनात्मक साहित्य के प्रभाव में खो जाता है। क्या वह हमारे साधारण, प्रतिदिन के संकुचित भावों के अन्तःकरण से हम वंचित कर देता है? जिन मनो-वेगों को वह उकसाता है क्या वे ऐसे हैं जो साधारण जीवन में प्रकट होकर हम लज्जित कर देते हैं अथवा साधारण जीवन-व्यवहार में हम उनका मान तक नहीं होता? अरस्तू के मत पर इसी प्रश्न का प्रस्तुत करें तो क्या वह हमारी करुणा और भीति को करुण और भयभीत करने योग्य कोई वस्तु देता है? अथवा प्लेटो के मतानुसार क्या उसमें ऐसी सम्भावनाएं उभार पाती हैं जिन्हें यदि साधारण दिनचर्या में या किसी भी क्षण, दूसरे लोग जान लें तो हम आत्मग्लानि हुए बिना न रहेंगे? क्या उसके कारण हमारा केवल शुष्क अन्तःकरण खो जाता है या यथार्थतः उपयोगी अन्तःकरण भी खो जाता है? ये प्रश्न वास्तविक विचारणीय विषय की ओर ध्यान खींचते हैं। कल्पनात्मक साहित्य के इन प्रभावों में से प्रत्येक के उदाहरण आसानी से दिये जा सकते हैं। बहुतेरे लोगों को इनसे भी अधिक घातक और कुछ बहुतर प्रभाव के व्यक्तिगत अनुभव हुए होंगे। बहुतर लोगों को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उपन्यासों के पढ़ने से हम एक प्रकार की उत्तेजना का अनुभव होता है परन्तु जिन खास बातों पर हम अभिमान होता है उनके विकास में यह उत्तेजना सहायक नहीं हुआ करती फिर भी उन उपन्यासों की मनोहरता और प्रभावशीलता के विषय में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। इस प्रसंग में प्लेटो किसी खास इरादे से यह सब नहीं कहता। वह कल्पनात्मक साहित्य के केवल संकुचित प्रभाव की क्षमता का उल्लेख करना चाहता है। विश्व इति-हास में निःसन्देह ऐसा समय आता है जब निम्नकोटि की कला लोकप्रिय हो जाती है जब कल्पनात्मक साहित्य केवल सस्ती लोकप्रियता के लिए ही लिखा जाता है जब उसका काम सिर्फ मनुष्य-स्वभाव की कृत्रिम अथवा प्रबलतम दुर्बलताओं को प्रेरित करना होता है क्योंकि उत्तेजना ही उसका सेव्य विषय है। प्लेटो का

यह कथन उचित है कि प्रेरणा विषय जितना विवेकशून्य होगा, कलात्मक रचना उतनी ही सरल सुलभ होती है। अगर इस बात की सावधानी नहीं रखना है कि किस तत्त्व को उत्तेजित किया जाये और किस ढंग से तो फिर यह सबसे आसान काम हो जाता है। तीसरे अध्याय में भी प्लेटो अनुकरण के परिणामों की चर्चा करता है। प्रस्तुत सन्दर्भ से वहाँ इसे वह अधिक संकीर्ण अर्थ में प्रयुक्त करता है। वहाँ भी उसने इस आधार पर नाटक को हेय माना है कि कोरी अनुकरण वृत्ति चारित्रिक दीनता और व्यक्तित्व के अभाव की द्योतक है और इन दुर्बलताओं को उत्तेजित करती है। हम इसे भी निःसंशय स्वीकार करना चाहिए कि यदि हम उपन्यास या नाटक के विभिन्न पात्रों के चरित्र में अपनी वैयक्तिक विवेकशीलता को होम देते हैं तो उक्त दुष्प्रभावों को रोका नहीं जा सकता। किन्तु इसी के साथ यह भी महत्त्वपूर्ण है कि चरित्र विकास में सबसे बड़ा सहायता भी इसी साहित्य से मिलती है बशर्ते हम अपने साधारण स्तर से ऊपर उठकर सभी पात्रों के चरित्र की झाँकी देखने का उत्साह रखें। महान् कला या कृति का यही वरदान है। परन्तु सही हो या गलत किसी वजह से प्लेटो की यह निश्चित धारणा थी कि तत्कालीन अनुकृति कला साधारणजन की उत्तेजनप्रियता को बढ़ाती थी और इस विवेकशून्यता के कारण ही वह अपने गौरव को खो चुकी थी। वह कला को केवल इसी दृष्टि से निरूपित करता है। फलतः समूचे परिच्छेद में कला के विकास की कुछ प्रवृत्तियों पर आक्षेप मात्र ही उसकी विषयवस्तु है और सैद्धान्तिक विवेचन का अंश स्वल्प हो गया है।

प्लेटो अपने अनोखे ढंग से यह बात हमारे मन में बैठाना चाहता है कि प्रस्तुत विवाद को साहित्य में श्लील अथवा नैतिक तथा अश्लील या अनैतिक विषयवस्तु का विवाद नहीं समझना चाहिए। उसकी दृष्टि में असली विवाद काव्य और दर्शन के सामंजस्य-स्वरूप से सम्बन्धित है। उसने कतिपय कवियों की रचनाओं से उद्धरण चुने और यह बतलाने का यत्न किया कि उन कवियों की दर्शन तथा विज्ञान के विषय में क्या मान्यता थी। उन्हें लगता था कि दर्शन तथा विज्ञान मकड़ी के जाल के समान निरर्थक विचार-तन्तुओं के बुनने में लगे रहते हैं। हमारे यथार्थ जीवन के बारे में जितनी बातें इन विषयों में मिलती हैं वे अशोभनीय और पाखण्ड से भरी हैं। आधुनिक युग में भी इसी तरह के विरोधी विचार काव्य तथा दर्शन के सम्बन्ध में व्यक्त किये जाने लगे हैं, दर्शन तथा विज्ञान जीवन की सरसता और रहस्य से हमें वंचित कर देते हैं। इसके विपरीत प्लेटो की निगाह में इस कलह का मूलाधार यह जान पड़ता है कि काव्य बहिर्जगत के सिर्फ ऊपरी

अंग को ग्रहण कर पाता है और इस तरह मनुष्य की नितान्त हल्की मनोवृत्तियों को हमेशा उछालता है, दर्शन यथार्थ नियमों और विश्व के वास्तविक तथ्यों का उद्घाटन करता है। इसलिए कोई कारण नहीं है कि कवि अपनी निराली शैली में दर्शननिष्ठ भावना का अनुशीलन करने में, दार्शनिक के समान समर्थ न हो सके। यह कथन विचारणीय है। वर्ड्सवर्थ ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। दर्शन तथा काव्य कल्पना और विज्ञान का एक संगम बिन्दु अवश्य है। सामान्यतः जब काव्य तथा दर्शन अपने प्रतिष्ठित पद से उतरकर हल्की वृत्तियों की अभिव्यक्ति करते हैं, तभी उनमें परस्पर प्रहार का प्रदर्शन होता है। संसार के महान् से महान् दार्शनिक तथा श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कवि साधारणतः आपस में कभी शत्रुभाव नहीं रखा करते। स्वयं प्लेटो भी महान् कवि के समान मनीषा से सम्पन्न था।

○ ⊙

आत्मा का भावी जीवन

ऐसा जान पडता है कि पहले अध्याय के समान दशम अध्याय भी अधूरा छोड दिया गया है। अमरता विषयक आरम्भिक शब्द है 'फिर भी सद्गुण के उत्कृष्ट पुरस्कार और पारितोषिक की चर्चा तक नही की गयी है। परन्तु इन शब्दो से यह स्पष्ट नही होता कि अभी तक जो विवेचन हो चुका है उससे आने वाले विषय मे प्रवेश हो रहा है। इन शब्दो से ऐसी ध्वनि निकलती ह कि प्लेटो इसी पृथ्वी पर न्याय के पारितोषको की बात कर रहा है परन्तु उसका अभिप्राय यह कदापि नही ह। इसके पहले भी प्लेटो ने पारितोषको की बात दो बार उठायी थी लेकिन यहाँ उसका उल्लेख उचित तारतम्य म किया गया है। इस प्रकार अमरता विषयक तक से पूव चर्चा अथवा परवर्ती चर्चा का स्वाभाविक सम्ब ध नही दिखायी देता। ऐसा लगता है कि रिपब्लिक' की समाप्ति के बारे म प्लेटो के मन म दो योजनाएँ थी।

पहले खण्ड के प्रारम्भिक भाग म प्लेटो अपनी इस मान्यता को व्यक्त करता है कि आत्मा अमर है और वह इस विश्वास के समथन में कुछ तक भी रखता है। वह आस्थापूवक कहता है कि आत्मा की क्षमताओ और उसके यथाथ मूल भाव का ज्ञान उसकी पार्थिव अवस्था मे सम्भव नही ह। इसके बाद वह इस प्रश्न का सकेत करता है कि क्या न्याय भी प्रत्यक्ष पारितोषक का अवसर पाता है अथवा नही। न्याय विषयक चर्चा म वह बहुत पहले ही बतला चुका है कि न्याय स्वय सत् या श्रेयस है चाहे उसके परिणाम कुछ भी हो। उसने यह भी बताया है कि वत्तमान जीवन म सभी शुभाशुभ को ध्यान म रखने के बाद भी न्याय अपने आप पारितोषक का अधिकारी होता है। तत्पश्चात् इस चर्चा के उपसहार म 'ईर की आख्यायिका के द्वारा यह आत्मा की मरणोत्तर नियति का विवेचन करता है।

यहाँ प्लेटो आत्मा की अमरता पर समाधानकारक विचार नहीं करता। फियडो' (Phaedo) में इस समूचे प्रश्न का प्रतिपादन किया गया है। आत्मा की अमरता का विषय केवल इस प्रयोजन के लिए है कि उसका नैतिकता पर कुछ प्रभाव पडता है। इसी के साथ पृथ्वी पर आत्मा की नियति को पूरी तरह चित्रित करने के लिए भी उसने आवश्यक विस्तार से अमरता-सम्बन्धी चर्चा की है। रिपब्लिक' की समूची चर्चा के हित मे आत्मा की अमरता सम्बन्धी विषय जिस तरह उपयोगी है, उसी दृष्टि से प्लेटो इसका निरूपण करता है। आरम्भ से एक ही प्रश्न रिपब्लिक' में उपस्थित रहा है। आत्मा का यथार्थ शुभाशुभ क्या है ? पूर्ववर्ती चर्चा को ध्यान म रखकर प्लेटो का यह अनुरोध है कि आत्मा शुभाशुभ के जिस स्वरूप से प्रभावित होती है वह नैतिक अथवा आध्यात्मिक ही होता है। उसका विश्वास है कि नैतिक अथवा आध्यात्मिक अशुभ के कारण साधारण अर्थ में आत्मा का निधन नहीं होता। इसीलिए उसका तर्क है कि मृत्यु के साधारण अर्थ में आत्मा अमर्त्य है क्योंकि मृत्यु स्वयं अशुभ का स्वरूप है जो केवल शरीर को प्रभावित करती है।

किन्तु यह कह चुकने के बाद कि आत्मा तत्त्वतः शरीरान्त के साथ मरती नहीं है, प्लेटो अपने इस वक्तव्य को संशोधित कर देता है। आत्मा की अमरता उसकी यथार्थ प्रकृति का गुण है और इस पृथ्वी पर हम आत्मा की यह वास्तविक प्रकृति कभी देखने नहीं मिल सकती। शरीर के संयोग से ही आत्मा का अस्तित्व पृथ्वी पर है। इसलिए वह संयुक्त वस्तु बन जाती है और संयोग होने के कारण ही वह पूर्ण नहीं रहती। परिणाम यह है कि नाना प्रकार की आन्तरिक व्यग्रताएँ और विसंगतियाँ आत्मा के भौतिक आभास को प्रभावित करती है। आत्मा की परमावस्था सामंजस्य और पूर्ण समन्वय की दशा है जो पार्थिव जीवन की परिस्थितियों में अलभ्य है। इस प्रकार आत्मा का जो स्वरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया है वह उसके मूलभाव को सर्वथा धूमिल कर देता है। यह लगभग वैसा ही होता है जैसा पुराणकथा के समुद्रदेव ग्लाकस के मनुष्यदेह धारण करने पर अस्वाभाविक वृद्धि के कारण उसका स्वरूप दुर्ज्ञेय हो गया था। यदि हम सचमुच आत्मा के अमर अंग या भाग को देखना चाहते हैं तो हमें उसके दर्शनतत्त्व पर ध्यान लगाना होगा। अगर आत्मा दर्शनवृत्ति का पूरी तरह अनुशीलन कर सके जिससे वह भवसागर के पार जाने में समर्थ होगी और जिससे उसका यथार्थ स्वभाव अपने आप आविर्भूत हो जायगा तो हम उसके सद्रूप की कल्पना करने में सफल हो सकते हैं। अरस्तू की धारणा भी यही है कि आत्मा

की अमरता सत्तत्त्व में निवास करती है और मानवी प्रज्ञा की कल्पनात्मक सामर्थ्य उसका आभास पाने में सक्षम है। अरस्तू तथा प्लेटो का विश्वास है कि आत्मा की अथवा विवेकशक्ति की मूलवृत्ति ही उसका वास्तविक मानवी तत्त्व है और यही विश्वात्मा के साथ समरस होती है। आत्मा की पार्थिव अवस्था का वर्णन आलंकारिक ढंग से किया गया है जिसमें कहा है कि वह विश्व—समुद्र में डूबा है वह नाना घात प्रतिघातों से आक्रान्त है उसके चारों ओर अप्राकृतिक वस्तुराशि का असाधारण बाहुल्य है। किन्तु इस वर्णन को अर्थहीन आलंकारिक शैली नहीं समझना चाहिए। फियडो (Phaedo में इसी विचार का विस्तार मिलता है। उसके अनुसार पृथ्वी पर हमारी दशा वास्तव में घनघोर दलदली भूमि के गर्भ में या अतल गर्भ में पड़े व्यक्तियों के समान है। यदि हम उसमें निकल कर ऊंचाई की ओर बढ़ने का यत्न करें तो हम ऐसे प्रदेश में पहुँचेंगे जहाँ प्रत्येक वस्तु शुचितर होगी और जहाँ हमारी दृष्टि अधिक विमल हो जायगी। प्लेटो तथा अरस्तू की मान्यता है कि पृथ्वी पर आत्मा का जीवन नाना प्रकार के बन्धन और बाधाओं से आक्रान्त हो जाता है। दोनों समझते हैं कि नक्षत्रादि अधिक सुन्दर सामग्री से बने हुए हैं और वहाँ जिस आत्मा का निवास है वह अपेक्षाकृत सूक्ष्म है। आत्मा के सम्बन्ध में उनकी धारणा विश्व की भौतिक रचना के सिद्धान्त से मेल खाती है।

आत्मा के देहधारी होने पर उसमें चाहे जितने रूपविकार हो जायें परन्तु तत्त्वतः वह अमर है। रिपब्लिक' में आत्मा के मानव जीवन धारण करने के फलस्वरूप जो रागात्मक उपाधियाँ तथा रूप उसे विकारी बनाते हैं, उसका विशद विवेचन किया गया है। उसमें आत्मा की उत्कर्षशील आकांक्षाएं, उसकी निम्नतम दुर्वासनाएँ और इन दो छोरों के बीच जीवन के अनगिनती रूपों का विवरण दिया गया है। आत्मा की इस पार्थिव यात्रा के पश्चात उचित ही है कि प्लेटो 'रिपब्लिक' के उपसंहार में आत्मा की मरणोपरान्त प्रत्याशा का उल्लेख करना चाहे। परन्तु इसके पहले प्लेटो द्वितीय अध्याय के प्रारम्भिक तक में छोड़े गये प्रश्न को फिर उठाता है जो न्याय के पारितोषिक से सम्बद्ध है। सुकरात से यह प्रमाणित करने का अनुरोध किया गया है कि आत्मा की मूलप्रवृत्ति न्यायभावना है चाहे इस लोक या परलोक में इस न्यायनिष्ठा से कोई पार्थिव लाभ मिले अथवा न मिले। विवाद के इस छोर तक पहुंचने पर यह स्वीकार कर लिया गया है कि सुकरात इस धारणा को सप्रमाण सिद्ध कर चुका है। अब उसे न्यायभावना के कारण जो पार्थिव लाभ हो सकते हैं उनकी चर्चा करना शेष रह गया है। प्लेटो

ने समूचे सम्वाद म इसी विचार का प्रतिपादन किया है कि मनुष्य का शुभाशुभ ही आत्मा का शुभाशुभ है अपनी इस दृढनिष्ठा से वह विमुख नहा होता जसा कुछ लोग कभी-कभी समझते हैं। यही कारण है कि अपनी विवेचना म वह याय निष्ठ मनुष्य को ससार के भरपूर लाभ दने की चेष्टा करता है। सबसे पहल वह बतलाता है कि यदि हम ईश्वरीय स्वभाव के नैतिकतत्त्व को स्वीकार करते हैं तो हम यह विश्वास करना चाहिए कि न्यायनिष्ठ मनुष्य ईश्वर का कृपापात्र होगा। फिर चाहे जितने कष्ट क्लेश आते रह, परमात्मा एसे सदाचारी के योग क्षेम की ओर सदैव जागरूक रहता है। सदाचारी के जीवन म समस्त वस्तुजगत् अनुकूल और शुभ फलदायी होता है। यह ठीक है कि उसे सचित कम के कुछ अशुभ परिणाम अनिवायत भोगना पड़ेंगे। जहाँ तक न्यायनिष्ठ पुरुषो के साथ अया य व्यक्तिया का सम्बन्ध है, उसे हम थ्रेसीमेकस की धारणा के विपरीत पाते हैं। अनुभव साक्षी है कि सात्त्विकता या ईमानदारी ही समुचित नीति है। थ्रेसीमेकस कतिपय साधारण जार मान तथ्यो की दुहाई देता है, सुकरात कुछ दूसरे एसे ही तथ्यो का आश्रय लेता है। किन्तु प्लेटो का निष्कर्ष है कि मनुष्य का यथाथ हित न्यायभावना है जिसे उसने पार्थिव लाभो के विवरण पर आश्रित नही माना। उसका अटल विश्वास है कि न्याय स्वय शुभ है और भौतिक परिणामों से वह अछूता है। इसीलिए न्याय आत्मा क स्वस्थ जीवन के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है।

इसके पश्चात् मरणोत्तर काल म आत्मा की गति का वणन पुराणकथा क रूप म दिया गया है। इसका ध्येय इस बात पर बल देना है कि पृथ्वी पर आत्मा जितने कम करती है, उसके भविष्य पर उनका प्रभाव पडता है। आत्मा क अतीत तथा भविष्य के विषय म जितनी बातें प्लेटो कहता है, उन्ह उसन पौराणिक और काव्यात्मक रूप म प्रस्तुत किया है। परन्तु इन सब म अन्त निहित एक ही विचारसूत्र है कि आत्मा, अस्तित्व की नित्यता के अर्थ मे अमर है और इसी कारण मनुष्य मात्र का नतिक दायित्व बहुत बढ जाता है। इस समूच परिच्छेद की कुजी रिपब्लिक के अन्तिम वाक्या म है। पृथ्वी पर जीवनधारण करने का एकमात्र प्रयोजन यह ह कि कवल इहलौकिक जीवन के लिए ही नही अपितु पारलौकिक जीवन की दृष्टि स भी प्रत्यक मनुष्य को शुभतर, सुविज्ञतर और निपुणतर आचरण का अभ्यास निरन्तर करना चाहिए। हमे इतना प्रवीण होना चाहिए कि जब जीवन का कोई अन्य रूप वरण करने की घडी आये तब

हम चूर न जाय। ज्ञानार्जन और अनुभव की उपलब्धि की महान् प्रक्रिया ही पार्थिव जीवन का प्रयोजन है।

इस प्रसंग में ईर की कहानी का उपयोग किया गया है। आर्मेनियावासी ईर किसी लड़ाई में मारा गया था। बारह दिन बाद उसे फिर जीवन-दान मिला। तब ईर ने देखा कि मृत्यु के अनन्तर आत्मा उस स्थान की ओर चल पड़ी जहाँ उसका भाग्य निर्णय होनेवाला है। वहाँ ईर ने देखा कि आकाश की दाहिनी ओर एक द्वार खुला और धर्मनिष्ठ आत्माएँ उसमें प्रवेश करके सहस्रवर्षीय सुखी जीवन बिताने लगीं। अन्यायी आत्माओं का उसने बायीं ओर भूमि में प्रवेश करते देखा जहाँ उन्हें एक हजार वर्ष तक दण्ड भोगना पड़ेगा। उसी स्थान पर ईर ने आत्माओं के झुण्ड पर झुण्ड आते जाते देखे। कुछ आत्माएँ आकाश के दूसरे द्वार से स्वर्ग में कुछ कालयापन के पश्चात् वापस आ रही थीं और कुछ पृथ्वी के तलभाग में थोड़ा समय बिताकर ऊपर की ओर प्रयाण कर रही थीं। स्वर्ग का आनन्द अथवा पीड़ा भोगकर प्रत्येक आत्मा जब लौटती है तो उसे एक सुन्दर उपवन में सप्ताहभर विश्राम करने दिया जाता है। अनन्तर उसे अवसर दिया जाता है कि पृथ्वी पर अपने आगामी जीवन रूप का वरण करे। अन्यायी आत्मा को मृत्यु के समय जो साधारण दण्ड दिया जाता है वह पृथ्वी पर उसके दुष्कर्म का दसगुना होता है। इसी प्रकार न्यायनिष्ठ आत्माएं अपने सत्कर्म के दसगुने फल का सुख भोगती हैं। इसके अलावा दण्ड के दूसरे प्रकार भी हैं। अल्पायु आत्माओं के साथ अलग प्रकार का व्यवहार किया जाता है। जिन आत्माओं के दुराचरण चरम कोटि के होते हैं उन्हें हजार वर्ष की सजा काफी न होने के कारण फिर दण्ड क्षेत्र में भेज दिया जाता है। कुछ असाध्य पापात्माएं चिरकाल तक दण्डभोग के लिए टारटरस नामक दारुण यातना के नरक में रखी जाती हैं। जार्जियस (Gorgias) में बताया गया है कि इन पापात्माओं को नमूने के तौर पर रखा जाता है ताकि दूसरी आत्माएं भीषण दुष्कर्म में प्रवृत्त न हों। असाध्य पापात्माओं को छोड़कर शेष सभी को पाप मोचन क्रिया का दण्ड दिया जाता है ताकि वे दण्डावधि के उपरान्त अधिक ज्ञानी होकर पृथ्वी पर फिर लौट सकें। कभी कभी स्वर्गिक आनन्द का उलटा परिणाम होता है क्योंकि कतिपय आत्माएँ इस सुख भोग के बाद पुनर्जन्म में की जो कामना करती हैं वह साधारण ढंग में उन्हें मिलनेवाले जीवन रूप से घटिया हुआ करती है। यदि सत्कर्म के पुरस्कार का उपभोग करने के बाद आत्मा बुद्धिमानी से नये जीवनरूप की कामना करता है, तो प्रत्येक आगामी जीवन में वह उत्तरोत्तर सदाचारी बनती जाती है और इस प्रकार स्वर्ग में प्रत्येक बार आनन्दोपभोग करती

है। अन्त में उसे नश्वर देह धारण से मुक्ति मिल जाती है। (इस परिच्छेद के साथ अगर हम 'फ़िट्रस' के परिच्छेद को मिलाकर पढ़ें तो उक्त विवरण प्राप्त होता है।)

स्वर्गिक सुख अथवा नरकदण्ड भोगने के पश्चात् आत्माएँ जब सात दिन का विश्राम पूरा कर लेती हैं तब उन्हें लम्बी यात्रा के बाद विधाता की तीन कन्याओं अर्थात् भाग्यदेवियों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है जहाँ उन्हें नये जीवन की कामना का निर्णय घोषित करना पड़ता है। जिस स्थान पर नये जीवन का निर्वाचन किया जाता है वहाँ से विश्व का सम्पूर्ण यन्त्र-तन्त्र स्पष्ट दिखायी देता है। जिसका इस पुराणकथा में विशद वर्णन किया गया है। प्लेटो की कल्पना के अनुसार स्वर्ग एक शून्यमण्डल जैसा है जो अपने वेग से आप गतिमान रहता है और जिसकी परिधि सीमा के परे ग्रह नक्षत्र स्थित हैं। उसके भीतर सप्तलोक हैं जिनमें सूर्य चन्द्र तथा पाँच ग्रहों की कक्षाएँ हैं। (प्लेटो के समय में केवल पाँच ग्रहों की ही जानकारी थी।) विश्व की अपरिवर्तनीय और समान गति की विरुद्ध दिशा में नक्षत्रग्रहादि अपनी अपनी परिक्रमा में संलग्न रहते हैं। पृथ्वी समस्त विश्व का केन्द्र है जिसके चतुर्दिक आठों मण्डल घूमते रहते हैं। समग्र विश्व के चारों ओर ज्योतिष्मान मण्डल है जिसे आकाशगंगा कहना चाहिए। प्राचीन कल्पना है कि विधाता से विश्व गतिमान है। भाग्यदेवियाँ नियतिपट बुनती हैं। ज्योतिष की कल्पना को प्लेटो ने इस प्राचीन कथा से जोड़ दिया है। लेकिन इनके मिश्रण से बनी आकृति स्पष्ट नहीं है अथवा वह समूचे ब्योरे से मेल नहीं खाती। विधाता एक तकुआ है जिसकी भ्रमि समूचे शून्यमण्डल उसके भीतरी माल पृथक् पृथक् मण्डल और उनकी स्वतन्त्र गति से बनी है। तकुए की अकुड़ी में यह भ्रमि आकाशगंगा और दूसरे समूहों द्वारा लटकायी गयी है। आठों मण्डलों को छूता हुआ तकुए का भ्रमणाक्ष या धुन इनमें से जहाँ आर पार जाता है वहाँ इन आठ सकेन्द्र वृत्तों का सतत् घेरा तल दिखायी देता है जो इन मण्डलों के किनारे हैं। सकेन्द्र-वृत्तों के रंग और उनका चौड़ापन उनके साथ घूमनेवाले ग्रहों के रंगों तथा पृथ्वी से उनकी दूरियों के अनुरूप है। विधाता के अंक में यह तकुआ स्थित है। समूचा यन्त्र-तन्त्र भाग्यदेवियों के द्वारा परिचालित होता है। उनके नाम हैं—क्लोथो लेकेसिस जिनका अर्थ है—अवसर और तीसरी एट्रोपोज़ है जिसका मतलब है—भवितव्यता। तकुए का भ्रमणाक्ष और अकुड़ी अनश्वर तथा अव्यय धातु के बने हैं। मण्डल व्यवस्था अर्थात् भ्रमि की रचना अव्यय सामग्री के कुछ अंश और कुछ दूसरे प्रकार के पदार्थों में हुई है। अभिप्राय यह है कि विश्व आत्मिक रूप में सनातन और एकसमान नियमों को तथा आधिक रूप में अनियम तथा अस्थिरता को प्रकट करता है।

इस कल्पनाप्रसूत चित्र म प्लेटो पाइथागोरस के उस अभिप्राय का समावेश कर देता है जिसके अनुसार ग्रह नक्षत्रो के परिभ्रमण से एक प्रकार का सगीत प्रस्फुटित हुआ करता है। पृथ्वी से इन आकाश पिण्डो की विभिन्न दूरियो की मर्यादा बाधनेवाले नियम या सिद्धान्त खोजन के सिलसिल म पाइथागोरस को यह बात सूझी थी। उसक कुछ अनुयायियो की कल्पना थी कि इन दूरियो को क्रमबद्ध किया जा सकता है और दूरियो के मध्यान्तर म गूजनेवाली ध्वनियो को स्वरलय म बांधा जा सकता है। नसर्गिक सगीत की कल्पना का मूलस्रोत यही है। प्लेटो के काल्पनिक चित्र मे शून्यमण्डलो के प्रत्यक तट पर एक सुमधुर गायिका बैठी रहती है (सायरिन एक अप्सरा मानी जाती थी जो समुद्री यात्रियो के भटकने पर अपन सगीत से उन्हें किनारे का बोध कराती थी) और उसकी परिक्रमा के वेग म घूमा करती है। प्रत्यक गायिका एक विशेष गान—स्वर अलापती है और उनके आठ स्वरो स स्वरग्राम अथवा सरगम बनता है। तीनो भाग्यदेवियाँ इस नैसर्गिक सगीत म आलाप भरती है लेकेसिस अतीत की क्लायो वत्तमान की और एटोपोज भविष्य की तान छेडती है।

आत्माओ के इतिहास म नवीन जीवन की कामना का रूप निश्चित करना उनके लिए घोर सकट की घड़ी होती है। प्लेटो ने उनके वरण विषयक वणन म *स्वतन्त्र कामना और आवश्यकता पर अपनी सम्मति व्यक्त की है। प्रत्येक मनुष्य* क जीवन म आवश्यकता का तत्त्व सक्रिय रहता है अथवा उसे अवसर भी कहा जा सकता है। इसी तरह वरणेच्छा भी रहा करती है। इम विचार का प्रयोग करके उन कारणो का पता लगाया जा सकता है जो मनुष्य के जन्म की स्थितियो को निश्चित करते हैं। पहली बात यह है कि आत्माओ के वरणक्रम को लाटरी ढग पर तय किया जाता है। दूसरी बात यह है कि कोई आत्मा चाहे कितनी देर बाद अपना वरण निणय करे उसे वरण का अवसर मिलता है और भाग्यदेवियो की ओर स उसक वरण की स्वीकृति घोषित की जाती है। सबसे अन्त मे चुनने वाली आत्मा को भी सुविधापूण जीवनयापन का अवसर दिया जाता है लेकिन शत यह है कि वह बुद्धिमानी से वरण कर और उसके बाद जन्म पाकर मनोयोगपूवक सदाचरण का ध्यान रखे। तीसरी बात यह है कि जीवन रूप का वरण कर लेन पर आत्मा अपनी नियति को भी निश्चित करती है। व्यवहार की दृष्टि से मनुष्य की स्वेच्छा ही उसकी नियति है जिसका आशय यह होता है कि वह अपने निणय को कभी पलट नही सकता। एक बार जो कुछ उसने चाहा और उसके जो परिणाम है वे उसे अनिवायत भोग्य हैं। जीवन मे परिस्थितिया वरण-स्वातन्त्र्य और वरण की अटलता तीन महत्त्वपूण तत्त्व ह।

जीवन की वरण क्रिया में अनेक आत्माएं पशु से मनुष्य बन जाती हैं और कितने मनुष्य पशु योनि में चले जाते हैं। जैसा पूर्व चर्चा में कहा जा चुका है, प्लेटो पशु तथा मनुष्य जीवन में एक तारतम्य की कल्पना में विश्वास करता है। निःसन्देह प्लेटो का अटल विश्वास इसमें भी था कि अस्तित्व के एक स्वरूप में मनुष्य का आचरण उसके भावी जीवन की नियति पर प्रभाव डालता है। यही विचार ईर की पुराणकथा में और आत्मा के नवीन जीवनरूप के वरण में व्यक्त हुआ है जहाँ पूर्ववर्ती जीवन का आचरण भविष्य जीवन के स्वरूप का निर्णायक बताया गया है।